

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
७२	६	उदय	उदय मे
"	"	स्वामोच्छ्राम	स्वामोच्छ्राम
७५	२१	विशिष्ट	विशिष्ट
"	"	उममे	उममे
७६	७	पर्याप्तियों	पर्याप्तियों
७७	७	वैक्रिया	वैक्रिय
७८	१४	लगते	लगाने
४६	२०	मू. २६२-४६	मू. २६२-६४
"	२१	ना.	मा.
४१	१	विशिष्टता	विशिष्टता
"	७	विशिष्ट	विशिष्ट
"	२१	पुद्गलपरिणाम	पुद्गल परिणाम
"	२३	गोत्र	गोत्र
६२	१३	लाम	लाम
६३	४	बन्नादि	बन्नादि
६४	२०	गया है ।	गया है ।
"	२३	दर्शनावरणीय	दर्शनावरणीय
"	२४	वैदनी	वैदनीय
६५	६	ज्ञानवरणीय	ज्ञानवरणीय
"	६	गया	गया है ।
"	१६	"	"
"	१६	गोत्र	गोत्र
"	२४	दानान्तगत्यादि	दानान्तगत्यादि
"	२६	१३	२३
"	१८	आवश्यक	आवश्यक
"	८	वाह्य	वाह्य

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
१२७	५	उक्ञाय	उच्छाय
"	१७	मुक्काल	मुक्कालय
१३१	८	समुद्घात	समुद्घात
"	१३	दहुत	बहुत
१३२	८	पल्योपस	पल्योपम
१३३	५	लोक	लोकका
"	१६	कृष्ण	कृष्ण
"	२१	कृष्णराजियो	कृष्णराजियों
१३४	१३	ओर	और
"	१८	पुद्गलों	पुद्गल
१३५	२१	परिणित	परिणत
"	२३	"	"
"	२५	"	"
१३६	२	"	"
"	३	"	"
"	१२	"	"
"	१४	निर्युक्ति	निर्युक्ति
१४०	३	अपेक्षा	अपेक्षा
१५८	१४	भाव	भाव
१५९	५	निशुद्धात्मा	विशुद्धात्मा
१६१	६	में	के
१७०	२३	आनन्द	आनन्द
१६६	२३	आम	आँव
२००	१०	सास्वादान	सास्वादन
"	१८	आर	और
२०३	१५	आप शमिक	औपशमिक
		" दावाग्नि (कर्म भा: १ गा. २२ में "दावाग्नि"	
		की जगह "तथाग्नि"	
		है।	

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
२१४	२०	टाणांग ६	टाणांग ६
२१५	१५	सू. ६. ८	सू. ६७८
२१८	१६	पृ. १५६	(पृ. १५६ गा. ४२)
२१६	१४	(६६७)	(६६)
२२०	१४	महानिजि	महानिधि
"	१६	पंडुयण	पंडुयण
"	२६	द्रकार	प्रकार
२२४	२५	कुरहपुर	कुरहलपुर
२२५	२१	हीन	हीन
२२८	२४	उद्देशाढ	उद्देशा ६, सूत्र ५७६
२३१	१२	सयादि	सयोपेशम
२४६	१०	(प्रवचनसारोद्धार	x
		द्वार ६७ गाथा ५६८ पृष्ठ १४८)	
३०२	१८	परष वदेसे	परववणसे
३१३	२	नी	भी
३५०	३	अप. ५	वर्ष ५
३ ७	१६	चाहिरे	चाहिण
३७३	२३	मर्श	मर्श
३७६	१६	अंगूठा	अंगूठी
३७७	८	सूर्योदय	सूर्योदय
"	१४	साङ्ग	साङ्ग
३७८	२७	वरते	करते
३८१	६	पारणा	पारणा
३८८	२३	उ. ५	उ. ३
४०६	६	अभव विकल	उभय विकल
४१५	१६	इन्द्र	इन्द्र
४३१	१६	को	की

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्धि	शुद्धः
४३७	१६	ठा. १०१	ठा. १० उ. ३
४५३	६	सूत्र ७४५	सू. ७४५



पुस्तक मिलने के पते:—

श्रीअगरचन्द भैरोंदान सेठिया श्री सेठिया जैन पारमार्थिक संस्था बीकानेर (राजपूताना) B. K. S. Ry	श्रीअगरचन्द भैरोंदान सेठिया श्री सेठिया जैन लाईब्रेरी मोहल्ला मरोटियान बीकानेर (राजपूताना)
BIKANER.	Bikaner.



श्रीमान् दानवीर सेठ अग्रचन्दजी सेठिया

का

संक्षिप्त जीवन-परिचय

विक्रम संवत् १९१३ सावण सुदी ६ रविवार के दिन सेठ साहेब का जन्म हुआ था। आपको हिन्दी, वाणिका आदि की साधारण शिक्षा मिली थी। साधारण शिक्षा पाकर आप व्यापार में लग गये। भारत के प्रमुख नगर बम्बई और कलकत्ते में आपने व्यापार किया। व्यापार में आपको खूब सफलता मिली और आप लक्ष्मी के कृपापात्र बन गये। धन पाकर आपने उसका सदुपयोग भी किया। आप उदारता पूर्वक धर्म-कार्यों में अपनी सम्पत्ति लगाते थे और दीन एवं असमर्थ भाइयों की सहायता करते थे।

धर्म के प्रति आपकी रुचि बचपन से ही थी और वह जीवन में उत्तरोत्तर बढ़ती रही। आपका स्वभाव कोमल एवं सहानु-भूतिपूर्ण था। परहित साधन में आप सदा तत्पर रहते थे। आपका जीवन सादा एवं उच्च विचारों से पूर्ण था। आपने श्रावक के व्रत अङ्गीकार किए थे और जीवन भर उनका पालन किया। आपने धर्मपत्नी के साथ शीलव्रत भी धारण किया था। आपके खंभ के सिवाय और भी त्याग प्रत्याख्यान थे।

आपने अपने छोटे भाई सेठ भैरोदानजी साहेब के ज्येष्ठ पुत्र जेठमलजी साहेब को गोद लिया। उन्हें विनीत और व्यापार-कुशल देख कर आपने व्यावहारिक कार्य उन्हें सौंप दिया। इस प्रकार निवृत्त होकर आप वृद्धावस्था में निश्चिन्त होकर शान्ति-पूर्ण धार्मिक जीवन बिताने लगे।

समाज में शिक्षा की कमी को आपने महसूस किया। अपने लघु भ्राता के साथ आपने इस सम्बन्ध में विचार किया। फल-स्वरूप दोनों भाइयों की ओर से "श्री अमरचन्द मैरोदान सेठिया जैन पारमार्थिक संस्था" की स्थापना हुई। संस्था की व्यवस्था एवं कार्य संचालन के लिए आपने अपने छोटे भाई साहेब को तथा चिरंजीव जेठमलजी को आज्ञा प्रदान की। तदनुसार दोनों साहेबान सुचारु रूप से संस्था का संचालन कर रहे हैं। संस्था के अन्तर्गत संस्कृत, प्राकृत, दिन्दी, धार्मिक और अंग्रेजी का शिक्षण, ग्रंथालय, वाचनालय, साहित्य निर्माण और साहित्य प्रकाशन आदि भिन्न भिन्न विभागों के कार्य, जिनको संस्था की कमेटी देश काल के अनुसार उचित समझती है। उसके अनुसार संस्था संचालन होता है।

इस प्रकार सुखी और धार्मिक जीवन बिता कर चैत बदी ११ मन्वत् १६७८ को मेठ साहेब सुद्धमाव से आलोचना और स्वमत ग्रामणा करके इस असारदेह का त्याग कर स्वर्ग पधारे।

ना० १-१०-४८
बीकानेर

मास्टर शिवलाल देवचन्द सेठिया

अध्यापक

श्रीमेठिया जैन पारमार्थिक संस्था



स्वर्गीय दानवीर सेठ अग्रचन्दजी सेठिया
वीकानेर निवासी



जन्म

वि. सं. १६१३ श्रावण शुक्ला नवमी। वि. सं. १६७८ चैत्र कृष्णा एकादशी.

स्वर्गवास





श्री सेठिया जैन पारमार्थिक संस्था, बीकानेर

पुस्तक प्रकाशन समिति

- १ अध्यक्ष— श्री दानवीर सेठ भैरोदानजी सेठिया ।
- २ मन्त्री— श्री जेठमलजी सेठिया ।
- ३ उपमन्त्री— श्री माणकचन्दजी सेठिया 'साहित्य भूषण' ।

लेखक मण्डल

- ४ श्री इन्द्रचन्द्र शास्त्री M. A. शास्त्राचार्य, न्यायतीर्थ,
वेदान्तचारिधि ।
- ५ श्री रोशनलाल चपलोत B. A. L.L. B. वकील, न्यायतीर्थ,
कान्यतीर्थ, सिद्धान्ततीर्थ, विशारद ।
- ६ श्री श्यामलाल जैन M. A. न्यायतीर्थ, विशारद ।
- ७ श्री घेवरचन्द्र वाँठिया 'वीरपुत्र' सिद्धान्तशास्त्री, न्यायतीर्थ,
व्याकरणतीर्थ, संकेत लिपि (हिन्दी शॉर्टहैंण्ड) विशारद ।

संक्षिप्त विषयसूची

	पृष्ठ
मुखपृष्ठ	१
छपाई के खर्च का हिमाय	२
चित्र (श्री भैरोदानजी सेठिया)	
पुस्तक प्रकाशन समिति	३
संक्षिप्त विषय सूची	४
सम्मितियों	५
दो शब्द	६
आभार प्रदर्शन	६
प्रमाण के लिये उद्धृत ग्रन्थों का विवरण	११
विषय सूची	१४
अक्षराद्यनुक्रमणिका	२०
मंगलाचरण	१
आठवाँ बोल संप्रद	३-१६२
नवाँ बोल संप्रद	१६३-२२२
दसवाँ बोल संप्रद	२२३-४५६
परिशिष्ट	४५५



શ્રી જૈન સિદ્ધાન્ત ચોલ સંગ્રહ દ્વિતીય ભાગ

પર

સમ્મતિયાં

‘સ્થાનકવાસી જૈન’ અહમદાવાદ તા. ૪-૧-૪૧ ई०

શ્રી જૈન સિદ્ધાન્ત ચોલ સંગ્રહ દ્વિતીય ભાગ છઠ્ઠા અને સાતવાં ચોલ । સંગ્રહકર્તા શેઠ મેરોદાનજી શેઠિયા, જૈન પારનાર્થિક સંસ્થા, વીકાનેર-૧ પાકું પુરું, મોટી સાઈન, ઘુમ સંસ્થા ૪૭૫ ।

જૈન આગમો માં (૧) દ્રવ્યાનુયોગ (૨) ગણિતાનુયોગ (૩) કથાનુયોગ અને (૪) ચરણકરણાનુયોગ એવા ચાર વિભાગો પાઠવા માં આવ્યા છે તેમાં સૌથી પ્રથમ દ્રવ્યાનુયોગ છે જેનું જાણપણું શાસ્ત્ર કાણુ ચોં સૌથી પ્રથમ કરવાનું હોય છે । એ જાણપણા પછીજ વીજા ત્રિપય માં રાવલ યતાં જ્ઞાન વિકાસ થાય છે । દ્રવ્યાનુયોગપદ્ધતે જૈન ધર્મ નું તત્ત્વજ્ઞાન । તત્ત્વજ્ઞાન ના ફેલાવા માટે શક્ય પ્રયત્નો કરવા જોઈએ ।

શ્રીમાન્ શેઠ મેરોદાનજી જૈન તત્ત્વજ્ઞાન જાણવા અને જનતા ને જણાવવા કેટલા ઇત્તુક છે તે આ પ્રકાશન પર થી જણાય છે । તેઓએ પ્રથમ ભાગ પ્રસિદ્ધ કરી એક થી પાંચ ચોલ સુધીનું જ્ઞાતાન્ત અગાડ આપ્યું હતું ।

આજે છઠ્ઠા અને સાતવાં ચોલ નું જ્ઞાતાન્ત આ પ્રસ્થ દ્વારા અપાય છે । આ પુસ્તક ને પાંચ ભાગ માં પૂર્ણ કરવા ઇચ્છા રાખેલ, પણ જૈન જ્ઞાન મંદિર સમૃદ્ધ હોવા થી જેમ-જેમ વધારે અવલોકન થતું જાય છે તેમ તેમ વધારે રત્નો સાંપડતા જતા હોઈ હવે ચારવા માં આવે છે કે કદાચ પૂર્ણ કરતાં દસ ભાગ પણ થાય ।

ઠાણંગ સુત્ર માં ૧-૨-૩-૪-૫ એવા ચોલો નવરે પડે છે પણ તે સંમૂર્ણ ન હોઈ શેઠિયાજીએ મહા પરિશ્રમ દ્વારા અનેક વિદ્વાન સાધુઓ અને અનેક સૂત્રો, માખ્યો, ટીકા અને પૂર્ણોક્તિ આગમો નો

लई वनं तैटला वधु योलो मंमदवानो थम मेव्यो होइ थां ग्रन्थ मात्र
६ अने ७ अमे घे ज योल मां ४४० पृष्ठ मां पूरो कयों छे ।

जैन धर्मनी माहीनि मेलवया इच्छनार आ ग्रन्थ नुं बारीक
थो अवलोकन करे तो ते मोटी ज्ञान सम्पत्ति मेलवी शके ।

योल ने दुकाववा न इच्छतां स्वरूप पण दर्शाव्युं होइ ओइ
त्रिज्ञामु ने पण वांचवानी प्रेरणा थाय छे । परदेशी राजा ना छ प्रमे,
छ आरा, यौद्ध, चार्वाक, सांन्यादि छ दर्शनो नुं स्वरूप, मतिनावादि
सात जणे माये दीजा लीखेख नेनुं वृत्तान्त, सात निन्दव, सनमणी
वगैरे अेक पट्टी अेक अेकी अनेक रसिठ अने तात्त्विक वावरो
जाणवाती महज उत्कंठा धई आवे छे ।

आवा प्रयास नी अनिवार्य आवश्यकता छे अने तेथी ज हेतु
गुर्जर भाषा मां अनुवाद करवा मां आवे तो अति जरूर नुं छे । सा
साये दरेक धार्मिक पाठशाला मां आ ग्रन्थ पाठ्य पुस्तक तहो
पलाववा जेचुं छे । एतनुं ज नहीं पण अमे मानोए छीये के कोल
मां भयानां जैन विद्यार्थियों माटे पण युनीवर्सिटी तरफ थी मान
थाय अे इच्छवा योग्य छे ।

श्रीसौधर्म वृहत्तपागच्छीय महार श्रीमज्जेनाचार्य व्याख्या
वाचस्पति विजयवर्तीन्द्र श्रीश्वरजी महाराज साहेब, बाग
(मारवाड़)

थोकरनेर निवासी सेठ भैरोदानजी सेठिया का संगृहीत श्री
जैनसिद्धान्त योल मंमद' का प्रथम और द्वितीय भाग हमारे सम्मुख
है । प्रथम भाग में नम्बर १ मे ५ और द्वितीय भाग में ६ और ७ बोली
का मंमद है । प्रत्येक योल का संक्षेप में इननी सुगमता से स्पष्टीकरण
किया है कि जिससे आशाल वृद्ध सभी आसानी से समझ सकते हैं ।
जैन वाङ्मय के तात्त्विक विषय में प्रक्षिप्त होने और उसके स्थूल रूप को
समझने के लिए सेठियाजी का संमद बड़ा उपयोगी है । विशेष
प्रशंसास्वद बात यह है कि योलों की सत्यता के लिए ग्रन्थों के स्थान
देने से इस संमद का सम्मान और भी अधिक बढ़ गया है ।
संमद प्रकाशित हो जाने पर यह जैन संसार में ही नहीं, सारे
के लिये समदरणीय और शिक्षणीय बनने की शोभा
प्राप्त करेगा । अस्तु । हिन्दी संसार में एतद्विषयक संमद की
इसने पूरी की है । तारीख १५-६-१९४१ ।

सिंध (हैदराबाद) सनातन धर्म सभा के प्रेसीडेन्ट, न्याय संस्कृत के प्रखर विद्वान् तथा अंग्रेजी, जर्मन, लैटिन, फ्रेंच आदि वीस भाषाओं के ज्ञाता श्री सेठ किशनचन्दजी, प्रो० पुहुमल ब्रदर्स—

‘श्री जैन सिद्धान्त बोल संग्रह’ के दोनों भाग पढ़कर मुझे अपार आनन्द हुआ। जैन दर्शन के पाठकों के लिए ये पुस्तकें अत्यन्त उपयोगी हैं। पुस्तक के संग्रहकर्ता दानवीर श्री भैरोदानजी सेठिया तथा उनके परिवार का परिश्रम अत्यन्त सराहनीय है। इस रचना से सेठियाजी ने जैन साहित्य की काफी सेवा की है। श्रावण शुक्ला १० संवत् १९६८।

सेठ दामोदरदास जगजीवन, दामनगर (काठियावाड़)

आपकी दोनों पुस्तकें मैं आद्यन्त देख गया। आपने बहुत प्रशंसा पात्र काम उठाया है। ये ग्रन्थ ठायेंग समवायेंग के माफिक खुलासा (Reference) के लिए एक बड़ा साधन पाठक और पंडित दोनों के लिए होगा।

बहुत दिन से मैं इच्छा कर रहा था कि पारिभाषिक शब्दों का एक कोष हो। अब मेरे को दीखता है कि उस कोष की ज़रूरत इस ग्रन्थ से पूर्ण होगी।

साथ साथ टीका में से जो अर्थ का अवतरण किया है उसमें पंडितों ने दोनों भाषाओं और भावों पर अच्छी प्रभुता होने का परिचय कराया है। ता० १७-६-४१

श्री पूनमचन्दजी खींचसरा सन्मानित प्रबन्धक श्री जैन धीराश्रम व्याकर और आविष्कारक एल. पी. जैन संकेतलिपि (शार्टहैंड)।

बोल संग्रह नामक दोनों पुस्तकें देख कर अति प्रसन्नता हुई। शास्त्र के भिन्न भिन्न स्थलों में रहे हुए बोलों का संग्रह करके सर्व साधारण जनता तक जिनवचन रूप अमृत को पहुंचाने का जो प्रयत्न आपने किया है वह बहुत प्रशंसनीय है। हरेक आदमी शास्त्रों का पठन पाठन नहीं कर सकता लेकिन इन पुस्तकों के सहारे अवश्य लाभ उठा सकता है।

बोर्डिंग व पाठशाला आदि से विद्यार्थियों को योग्य बनाने के सिवाय सब साधारण जनता को जित प्ररूपित तत्व ज्ञान रूप अमृत पिलाने का जो प्रयत्न आपने किया है यह भी जैन धर्म के प्रचार के लिए आपकी अपूर्व सेवा है। १८-१०-४१

डाक्टर बनारसीदास M. A. Ph. D. प्रोफेसर ओरियन्टल कॉलेज लाहौर ।

पुस्तक प्रथम भाग की शैली पर हैं । छः दर्शन तथा सात नव का स्वरूप सुन्दर रीति से वर्णन किया गया है । बोलसंग्रह एक प्रकार की फिलोसोफिकल डिक्सनरी है । जय सब भाग समाप्त हो जायें तो उनका एक जनरल इन्डेक्स पृथक् छपना चाहिये जिससे संग्रह को उपयोग में लाने की सुविधा हो जाय । ता० २५-८-४१ ।

पं० शोभाचन्द्रजी भारद्वाज, न्यायतीर्थ, मुख्याध्यापक श्री जैन गुरुकुल व्यावर ।

‘श्री जैन सिद्धान्त बोल संग्रह’ द्वितीय भाग प्राप्त हुआ । इस कृपा के लिए अतीव आभारी हैं । इस अपूर्व संग्रह को तैयार करने में आप जो परिश्रम उठा रहे हैं वह सराहनीय तो है ही, साथ ही जैन सिद्धान्त के जिज्ञासुओं के लिए आशीर्वाद रूप भी है । जिस में जैन सिद्धान्तशास्त्रों के सार का सम्पूर्ण रूप से समावेश हो सके ऐसे संग्रह की अत्यन्त आवश्यकता थी और उसकी पूर्ति आप श्रीमान् द्वारा हो रही है । आपके साहित्य प्रेम से तो मैं खूब परिचित हूँ, पर व्योँ व्योँ आपकी अवस्था बढ़ती जाती है त्यों त्यों साहित्य प्रेम भी बढ़ रहा है, यह जान कर मेरे प्रमोद का पार नहीं रहता ।

मेरा विश्वास है, बोल संग्रह के सब भाग मिल कर एक अनुपम और उपयोगी चीज तैयार होगी ।

श्री आत्मानन्द प्रकाश, भावनगर ।

श्री जैन सिद्धान्त बोल संग्रह प्रथम भाग, संग्रहकर्ता-भैरोदानजी मेठिया । प्रकाशक-सेठिया जैन पारमार्थिक संस्था धीकानेर ।

आ ग्रन्थ मां ४२३ विषयों के जे चारे अनुयोग मां बहेंचायेला छे ते प्रायः आगमग्रन्थों ना आचार पर लखायेला छे अने सूत्रोनी सादतो आपी प्रामाणिक बनावेल छे । पढ़ी अक्षरादि अनुक्रमणिका पण शुद्धात मां आपी जिज्ञासुओना पठन पाठन मां सरल बनावेल छे । आवा ग्रन्थों थी बाचको विविध विषय नुं ज्ञान मेलवी शके छे । आबो संग्रह उपयोगी मानीए छीए अने मनन पूर्वक बाँचवानी मलामण करीए छीए जे सुन्दर टाइप अने पाछा बाँधींग थी तैयार करवा मां आवेल छे ।

पुस्तक २८ सुं, अंक ८ मो, मार्च । विक्रम सं० १९६७ फाल्गुण ।

दो शब्द

‘श्री जैन सिद्धान्त बोल संग्रह’ का तीसरा भाग पाठकों के सामने प्रस्तुत है। इसमें आठवें, नवें और दसवें बोलों का संग्रह है। साधु-समाचारी से सम्बन्ध रखने वाली अधिक बातें इसी में हैं। पाठकों की विशेष सुविधा के लिए इसमें अकारादि अनुक्रमणिका और विषयानुक्रम सूची इस प्रकार दोनों तरह से सूचियाँ दी गई हैं।

पुस्तक की शुद्धि का पूरा ध्यान रखा गया है फिर भी दृष्टि दोष से कहीं अशुद्धि रह गई हो तो पाठक महोदय उसे सुधार लेने के साथ साथ हमें भी सूचित करने की कृपा करें, जिससे अगले संस्करण में सुधार ली जाय। इस के लिए हम उनके आभारी होंगे।

कागजों की कीमत बहुत बढ़ गई है। छपाई का दूसरा सामान भी बहुत महंगा है। फिर भी ज्ञान प्रचार की दृष्टि से पुस्तक की कीमत कागज और छपाई में होने वाले असली खर्च से कम रखी गई है। वह भी फिर पुस्तक प्रकाशन और ज्ञानप्रचार के कार्य में ही लगेगी।

इसकी प्रथम आवृत्ति में १०० प्रतियाँ छपाई गई थीं। जनता ने उसे खूब पसन्द किया, इसी लिए वे बहुत थोड़े समय में समाप्त हो गईं। इसके प्रति जनता की रुचि इतनी बढ़ी कि हमारे पास इसकी मांग दूर-दूर आने लगी। जनता की मांग को देख कर हमारी भी यह इच्छा हुई कि शीघ्र ही इसकी द्वितीयावृत्ति छपाई जाय किन्तु कागज का अभाव, कम्पोजीटर्स की तंगी एवं प्रेस की असुविधा के कारण हमें रुकना पड़ा फिर भी हमारा प्रयत्न बराबर चालू था। आज हम उस प्रयत्न में सफल हुए हैं और इसकी द्वितीयावृत्ति पाठकों के सामने रखते हुए हमें असीम आनन्द होता है।

इसकी प्रथम आवृत्ति में जैसा मोटा कागज लगाया गया था, इसकी द्वितीयावृत्ति में भी वैसा ही मोटा कागज लगाने की हमारी इच्छा थी। इसके लिए काफी प्रयत्न किया गया किन्तु वैसा मोटा कागज प्राप्त नहीं हो सका। इसलिए ऐसे कागज पर छपाना पड़ी है।

आभार प्रदर्शन

जैन धर्म दिवाकर पंडितप्रवर उपाध्याय श्री आत्मारामजी महाराज ने पुस्तक का आद्योपान्त अवलोकन करके आवश्यक संशोधन किया।

परम प्रतापी पूज्य श्री हुस्मोचन्दजी महाराज के पञ्च पट्टधर पूज्य श्री जवाहरलालजी महाराज के मुशिष्य मुनि श्री पञ्चालालजी महाराज ने भी देशनोक चतुर्मास में तथा श्रीरानेर में पूजा समय देकर परिश्रम-पूर्वक पुस्तक का ध्यान में निरीक्षण किया है। द्रष्टु में नए बोल तथा कई धोलों के लिए मूर्तों के प्रमाण भी उपरोक्त मुनिवरों की कृपा से प्राप्त हुए हैं। इसके लिए उपरोक्त मुनिवरों ने जो परिश्रम उठाया है, अपना अमूल्य समय तथा सत्कारमर्श दिया है उनको कभी भुलाया नहीं जा सकता। उनके उपकार के लिए हम सदा ऋणी रहेंगे।

जिन समय पुस्तक का दूसरा भाग छप रहा था, हमारे परम सौभाग्य में परम प्रतापी आचार्यप्रवर श्री श्री १००८ पूज्य श्री जवाहरलालजी महाराज साहेब तथा युवाचार्य श्री गणेशीलालजी महाराज साहेब का अपनी विद्वान् शिष्य मण्डली के साथ श्रीरानेर में पधारना हुआ। पूज्य महाराज साहेब, युवाचार्यजी म० मा० तथा दूसरे विद्वान् मुनियों द्वारा दूसरे भाग के संशोधन में भी पूर्ण सहायता मिली थी। तीसरे भाग में भी पूज्य श्री तथा दूसरे विद्वान् मुनियों द्वारा पूरी सहायता मिली है। पुस्तक के छपते छपते या पहले जहां भी संदेह खड़ा हुआ या कोई उलझन उपस्थित हुई तो उसके लिए आपकी सेवा में जाकर पूछने पर आपने सन्तोषजनक समाधान किया।

उपरोक्त गुरुवरों का पूर्ण उपकार मानते हुए इतना ही लिखना पर्याप्त समझते हैं कि आपके लगाए हुए धर्मवृक्ष का यह फल आप ही के चरणों में समर्पित है।

इनके मित्राजि जिन सज्जनों ने पुस्तक को उपयोगी और रोचक बनाने के लिए समय समय पर अपनी शुभ सम्मतियां और सत्कारमर्श प्रदान किये हैं अथवा पुस्तक के संकलन, प्रूफ-संशोधन या कापी आदि करने में सहायता दी है उन सब का हम आभार मानते हैं।

द्वितीयावृत्ति के सम्वन्ध में:—

श्रीमज्जैनाचार्य पूज्य श्री १००८ श्री हस्तीमलजी महाराज साहेब की सम्प्रदाय के वयोवृद्ध मुनि श्री सुजानमलजी महाराज साहेब के मुशिष्य पंडित मुनि श्री लक्ष्मीचन्द्रजी महाराज साहेब ने इसकी प्रथमावृत्ति की छपी हुई पुस्तक का आद्योपान्त उपयोगपूर्वक अवलोकन करके

कितनेक शंकास्थलों के लिए श्रीमान् द्वीतरमलजी कोठारी अजमेर द्वारा हमें सूचित करवाया है । इस पर उन स्थलों का शास्त्रों के साथ मिलान कर इस द्वितीयावृत्ति में यथास्थान संशोधन कर दिया गया है । अतः हम उपरोक्त मुनिश्री के आभारी हैं ।

—पुस्तक प्रकाशन समिति

प्रमाण के लिए उद्धृत ग्रन्थों का विवरण

ग्रन्थ का नाम	कर्त्ता	प्रकाशक एवं प्राप्ति स्थान
अनुयोग द्वार	मलघारी हेमचंद्र सूरि टीका ।	आगमोदय समिति सूरत ।
अन्तगडदसाओ	अभयदेव सूरि टीका ।	आगमोदय समिति सूरत ।
आगमसार	देवचन्द्रजी कृत ।	
आचारांग	शीलाकाचार्य टीका ।	सिद्धचक्र साहित्य प्रचारक समिति, सूरत ।
आचारांग	मूल और गुजराती भाषान्तर	प्रो० रवजी भाई देवराज द्वारा राजकोट प्रिंटिंग प्रेस से प्रकाशित ।
उत्तराध्ययन	शांति सूरि बृहद् वृत्ति ।	आगमोदय समिति ।
उत्तराध्ययननिर्युक्ति	भद्रबाहु स्वामी कृत ।	देवचन्द्र लालभाई जैन पुस्तकोद्धार फण्ड, बम्बई ।
उपासक दशांग	अभयदेव सूरि टीका ।	आगमोदय समिति सूरत ।
उपासक दशांग	(अंग्रेजी अनुवाद) —	विप्लोधि का इण्डिका कलकत्ता द्वारा प्रकाशित, सन् १८६० ।
	अंग्रेजी अनुवाद — डाक्टर ए. एफ. रुडोल्फ हार्नेले Ph. D. ट्यूबिंजन फेलो आफ कलकत्ता युनिवर्सिटी आन्-रेरी फाइलोलोजिकल सेक्रेट्री टू दी ऐसियाटिक सोसायटी आफ बंगाल ।	
अपि मंडलवृत्ति		
औपपातिक सूत्र	अभयदेव सूरि विवरण ।	आगमोदय समिति सूरत ।
कर्त्तव्य कौमुदी	शतावधानी पं० रत्न मुनि	सेठिया जैन प्रन्थालय, श्री रत्नचन्द्रजी महाराज कृत । वीकानेर ।
कर्मग्रंथ	सुखलालजी कृत हिन्दी अनुवाद ।	
कर्मग्रंथ भाग पांचवां		श्री आत्मानन्द जैन सभा भावनगर ।
कर्म प्रकृति शिवशर्माचार्य प्रणीत,		जैनधर्म प्रसारक सभा भावनगर ।
छन्दो मञ्जरी		

जीवाभिगम मूत्र मलयगिरि टीका । देवचन्द्र लालभाई पुस्तकोद्धार फंड ।
 ज्ञानाधर्म कथांग शास्त्री जेटालाल हरिभाई जैनधर्म प्रसारक सभा
 कृत गुजराती अनुवाद । भावनगर ।

टाण्णंग अभयदेवमूरि विवरण आगमोदय समिति, सूरत ।
 तत्त्वार्थाभिगम भाष्य दमास्वाति कृत मोतीलाल लाधाजी, पूना ।
 दशवैकालिक मलयगिरि टीका आगमोदय समिति, सूरत ।

दशाश्रुतस्कन्ध उपाध्याय श्री आत्मारामजी गुजराती अनुवाद रायचन्द्र
 महाराज कृत हिंदी अनु० जिनागम संप्रद द्वारा प्रका०
 द्रव्यलोक प्रकाश श्री विनय विजयजी कृत देवचन्द्र लालभाई जैन
 पुस्तकोद्धार फंड दम्बई ।

धर्म संप्रद श्रीमन्मान विजय महोपाध्याय देवचन्द्र लालभाई जैन
 प्रणीत यशोविजय टिप्पणो ममेत पुस्तकोद्धार फण्ड बंबई ।

नन्दी मूत्र मलयगिरि टीका आगमोदय समिति सूरत ।
 नय तन्त्र

पंचाशक हरिमद्र सूरि विरचित अभयदेव जैन धर्म प्रसारक
 मूरि टीका सभा, भावनगर ।

पट्टण्णा दम श्रुतस्यधिर मूत्रित । आगमोदय समिति, सूरत ।

पञ्चवणा (प्रज्ञापना) मलयगिरि टीकानुवाद जैन सोसाइटी अहमदा-
 पं० भगवानदास हर्षचन्द्र बाद ।

कृत गुजराती अनुवाद,

पिंगल पिंगलाचार्य
 पिंडनियुक्ति मलयगिरि टीका आगमोदय समिति सूरत ।

प्रकरण रत्नाकर आदक भीमसिंह माणक द्वारा संगृहीत ।
 प्रमाण मीमांसा हेमचन्द्राचार्य प्रणीत, मुख- सिंघी सिरीज से
 लालजी द्वारा सम्पादित । प्रकाशित ।

प्रवचन सारोद्धार नेमिचन्द्र सूरि, सिद्धसेन सूरि देवचन्द्र लालभाई
 गेखर रचित वृत्ति सहित । जैन पुस्तकोद्धार फण्ड बंबई ।

प्रश्न व्याकरण अभयदेव मूरि टीका आगमोदय समिति, सूरत ।
 भगवती अभयदेव सूरि आगमोदय समिति, सूरत ।

भगवती (हस्तलिखित) नेटिया जैन ग्रंथालय, बीकानेर ।

भगवती (हस्तलिखित) सवालखी ।

योग शास्त्र हेमचन्द्राचार्य प्रणीत जैन धर्म प्रसारक सभा,
 भावनगर ।

राजयोग स्वामी विवेकानन्द ।

रायपसेली मलयगिरि वृत्ति. आगमोदय समिति, सुरत ।

विशेषावश्यक भाष्य जिनभद्र गणी क्षमाश्रमण आगमोदय समिति,
कृत, मल्लधारी आचार्य हेम- गोपीपुरा सुरत ।

चन्द्राचार्य कृत वृत्ति सहित ।

वैयाकरण सिद्धान्त भट्टोजि दीक्षित ।

कौमुदी

व्यवहार भाष्य माणिक मुनि द्वारा सम्पादित ।

व्यवहार नियुक्ति

शान्त सुधारस

विजयविजयजी

जैन धर्म प्रसारक सभा,
भावनगर ।

समवायांग अभयदेव सूरि विवरण आगमोदय समिति ।

साधु प्रतिक्रमण सेठिया जैन ग्रन्थालय, बीकानेर ।

मेन प्रश्न उल्लास शुभ विजय गणि संकलित देवचन्द्र लालभाई जैन
पुस्तकोद्धार बंबई ।

हारभट्टीयावश्यक भद्रभाहु नियुक्ति तथा
भाष्य, हरिभद्र सूरि ।

आगमोदय समिति,
सुरत ।

विषय सूची

बोल नं०	पृष्ठ संख्या	बोल नं०	पृष्ठ संख्या
१६४ मार्गलिक पदार्थ आठ	३	१८१ प्रायश्चित्त आठ	३३
१६५ भगवान् पार्वनाथ		१८२ झूठ बोलने के आठ	
के गणधर आठ	३	कारण	३३
१६६ भगवान् महावीर के पाम		१८३ साधु के लिए धर्तनीय	
दीक्षित आठ राजा	३	आठ दोष	३८
१६७ सिद्ध भगवान् के आठ		१८४ शिवाशील के आठ गुण	३८
गुण	४	१८५ उपदेश के योग्य आठ	
१६८ ज्ञानाचार आठ	५	बातें	३६
१६९ दर्शनाचार आठ	६	१८६ एकल विहार प्रतिमा	
१७० प्रवचन माता आठ	८	के आठ स्थान	३६
१७१ साधु और सोने की आठ		१८७ एकाशन के आठ आगार	४०
गुणों में समानता	६	१८८ आयम्बिल के आठ	
१७२ प्रभावक आठ	१०	आगार	४१
१७३ संयम आठ	११	१८९ पञ्चव्याण में आठ	
१७४ गणिमपदा आठ	११	तरह का मकेन	४२
१७५ आलोचना देने वाले साधु		१९० कर्म आठ	४३
के आठ गुण	१५	१९१ अभियावादी आठ	६०
१७६ आलोचना करने वाले		१९२ करण आठ	६४
के आठ गुण	१६	१९३ आत्मा के आठ भेद	६५
१७७ माया की आलोचना के		१९४ अनेकान्तवाद पर आठ	
आठ स्थान	१६	दोष और उनका वारण	१०२
१७८ माया की आलोचना न		१९५ आठ वचन विभक्तियाँ	१०४
करने के आठ स्थान	१८	१९६ गण आठ	१०८
१७९ प्रतिक्रमण के आठ भेद		१९७ स्पर्श आठ	१०८
और स्थान	२१	१९८ दर्शन आठ	१०६
१८० प्रमाद आठ	३६		

५६६ वेदों का अल्प बहुत्व		६२० अनन्त आठ	१४७
आठ प्रकार से	१०६	६२१ लोकस्थिति आठ	१४८
६०० आयुर्वेद आठ	११३	६२२ अहिंसा भगवती की	
६०१ योगांग आठ	११४	आठ उपमाएं	१५०
६०२ छद्मस्थ आठ बातें		६२३ संघ की आठ उपमाएं	१५६
नहीं देख सकता	१२०	६२४ भगवान् महावीर के शासन	
६०३ चित्त के आठ दोष	१२०	में तीर्थङ्कर गोत्र बांधने वाले	
६०४ महाप्रह आठ	१२१	जीव नौ	१६३
६०५ महानिमित्त आठ	१२१	६२५ भगवान् महावीर के	
६०६ प्रयत्नादि के योग्य आठ		नौ गण	१७१
स्थान	१२४	६२६ मनःपर्ययज्ञान के लिये	
६०७ रुचक प्रदेश आठ	१२५	आवश्यक नौ बातें	१७२
६०८ पृथिव्याँ आठ	१२६	६२७ पुण्य के नौ भेद	१७२
६०९ ईषत्प्राग्भारा पृथ्वी के		६२८ ब्रह्मचर्यगुप्ति नौ	१७३
आठ नाम	१२६	६२९ निव्विगई पच्चक्खाण	
६१० व्रस आठ	१२७	के नौ आगार	१७४
६११ सूक्ष्म आठ	१२८	६३० विगय नौ	१७५
६१२ तृण वनस्पतिकाय आठ		६३१ भिक्षा की नौ कोटियाँ	
(ठा. मू. ६१३)	१२६	६३२ संभोगी को विसंभोगी करने	
६१३ गन्धर्व (वाणव्यन्तर)		के नौ स्थान	१७६
के आठ भेद	१२६	६३३ तत्त्व नौ	१७७
६१४ व्यन्तर देव आठ	१३०	६३४ काल के नौ भेद	२०२
६१५ लौकान्तिक देव आठ	१३२	६३५ नोकपाय वेदनीय नौ	२०३
६१६ कृष्ण राजियाँ आठ	१३३	६३६ आयुपरिणाम नौ	२०४
६१७ वर्गणा आठ	१३४	६३७ रोग उत्पन्न होने के नौ	
६१८ पुद्गल परावर्तन आठ	१३६	स्थान	२०५
६१९ मन्द्याप्रमाण आठ	१४१	६३८ न्वप्न के नौ निमित्त	२०६

६३६ काव्य के रम नौ	२०७	६४८ लब्धि दम	२३०
६४० परिग्रह नौ	२११	६४९ मुण्ड दम	२३१
६४१ ज्ञान (जाणकार) के नौ भेद	२१२	६६० स्थविर दम	२३२
६४२ नैपुणिक नौ	२१३	६६१ श्रमणधर्म दम	२३३
६४३ पापश्रुत नौ	२१४	६६२ कल्प दम	२३४
६४४ निदान (नियाणा) नौ	२१५	६६३ ग्रहणपणा के दस दोष	२४२
६४५ लौकान्तिक देव नौ	२१६	६६४ सभाचारी दम	२४६
६४६ बलदेव नौ	२१७	६६५ प्रयज्यादम	२४१
६४७ वामुदेव नौ	२१७	६६६ प्रतिमेवना दम	२४२
६४८ प्रतिवामुदेव नौ	२१८	६६७ आरामा प्रयोग दस	२४३
६४९ बलदेवों के पूर्वभव के नाम नौ	२१८	६६८ उपघात दम	२४४
६५० वामुदेवों के पूर्वभव के नाम	२१८	६६९ विशुद्धि दम	२४७
६५१ बलदेव और वामुदेवों के पूर्वभव के आचार्यों के नाम	२१९	६७० आलोचना करनेयोग्य साधु के दम गुण	२४८
६५२ नारद नौ	२१९	६७१ आलोचना देने योग्य साधु के दम गुण	२४९
६५३ अनृद्धिप्राप्त आर्य के नौ भेद	२१९	६७२ आलोचना के दस दोष	२५६
६५४ चक्रवर्ती की महा- निधियों नौ	२२०	६७३ प्रायश्चित्त दम	२६०
६५५ केवली के दस अनुत्तर	२२३	६७४ चित्त समाधि के दस स्थान	२६२
६५६ पुण्यवान् को प्राप्त होने वाले दस बोल	२२४	६७५ बल दस	२६३
६५७ भगवान् महावीर स्वामी के दस स्थान	२२४	६७६ स्थण्डिल के दम विशेषण	२६४
		६७७ पुत्र के दस प्रकार	२६५
		६७८ अवस्था दम	२६७
		६७९ समार की समुद्र के साथ दम उपमा	२६९

६८० मनुष्यभव की दुर्लभता के दस दृष्टान्त	२७१	६६८ सत्यवचन के दस प्रकार	३६८
६८१ अच्छेरे (आश्चर्य) दस	२७६	६६९ सत्यामृषा (मिश्र) भाषा के दस प्रकार	३७०
६८२ विच्छिन्न (विच्छेदप्राप्त) बोल दस	२८२	७०० मृषावाद के दस प्रकार	३७१
६८३ दीक्षा लेने वाले दस चक्रवर्ती राजा	२८२	७०१ ब्रह्मचर्य के दस समाधि स्थान	३७२
६८४ श्रावक के दस लक्षण	२८२	७०२ क्रोध कपाय के दस नाम	३७४
६८५ श्रावक दस	२८४	७०३ अहंकार के दस कारण	३७४
६८६ श्रेणिक राजा की दस रानियाँ	३३३	७०४ प्रत्याख्यान दस	३७५
६८७ आवश्यक के दस नाम	३५०	७०५ अद्धापञ्चकस्त्राण के दस भेद	३७६
६८८ दृष्टि वाद के दस नाम	३५१	७०६ विगय दस	३८२
६८९ पङ्कणा दस	३५३	७०७ वेद्यावद्य दस	३८२
६९० अस्वाध्याय (आन्तरिक) दस	३५६	७०८ पर्युपासना के परम्परा दस फल	३८३
६९१ अस्वाध्याय (औदारिक) दस	३५८	७०९ दर्शन विनय के दस बोल	३८४
६९२ धर्म दस	३६१	७१० संवर दस	३८५
६९३ सम्यक्त्व प्राप्ति के दस बोल	३६२	७११ असंवर दस	३८६
६९४ सराग सम्यग्दर्शन के दस प्रकार	३६४	६९२ संज्ञा दस	३८६
६९५ मिथ्यात्व दस	३६४	७१३ दस प्रकार का शब्द	३८८
६९६ शस्त्र दस प्रकार का	३६४	७१४ संक्लेश दस	३८८
६९७ शुद्ध वागनुयोग के दस प्रकार	३६५	७१५ असंक्लेश दस	३८९
		७१६ दृश्य दस बातों को नहीं देख सकता	३८९
		७१७ आनुपूर्वी दस	३९०

७१८ द्रव्यानुयोग दम	३६०	७३७ उदधिकुमारों के दम	
७१९ नाम दम प्रकार का	३६५	अधिपति	४१६
७२० अनन्तक दम	४०३	७३८ दिक्कुमार देवों के	
७२१ मंथ्यान दम	४०४	दम अधिपति	४१६
७२२ वाद के दम द्रोप	४०६	७३९ वायुकुमारों के दम	
७२३ विशेष द्रोप दम	४१०	अधिपति	४१६
७२४ प्राण दम	४१३	७४० स्तनितकुमार देवों के	
७२५ गति दम	४१३	दम अधिपति	४२०
७२६ दस प्रकार के सर्व जीव	४१४	७४१ कन्योपपन्न इन्द्र दम	४२०
७२७ दम प्रकार के सर्व जीव	४१५	७४२ जूम्भक देवों के दम	
७२८ संसार में आने वाले		भेद	४२०
प्राणियों के दम भेद	४१५	७४३ दम महर्द्धिक देव	४२१
७२९ देवों में दम भेद	४१५	७४४ दस विमान	४२१
७३० भवनवामी देव दम	४१६	७४५ वृण वनस्पतिकाय के	
७३१ असुरकुमारों के दम		दम भेद	४२२
अधिपति	४१७	७४६ दम सूक्ष्म	४२३
७३२ नागकुमारों के दम		७४७ दम प्रकार के नारकी	४२४
अधिपति	४१८	७४८ नारकी जीवों के वेदना	
७३३ सुपर्ण कुमार देवों के		दम	४२५
दम अधिपति	४१८	७४९ जीव परिणाम दम	४२६
७३४ विद्वयुतकुमार देवों		७५० अजीव परिणाम दम	४२६
के दम अधिपति	४१८	७५१ अरूपी जीव के दम	
७३५ अग्निकुमार देवों		भेद	४२४
के दम अधिपति	४१८	७५२ लोकस्थिति दम	४२६
७३६ द्वीपकुमार देवों के		७५३ दिशार्ण दम	४२७
दम अधिपति	४१९	७५४ कुदक्षेत्र दम	४२८

७५५ वक्खार पर्वत दस (पूर्व)	४३६	७६२ ज्ञान वृद्धि करने वाले नक्षत्र दस	४४४
७५६ वक्खार पर्वत दस (पश्चिम)	४३६	७६३ भद्रकर्म बाँधने के दस स्थान	४४४
७५७ दस प्रकार के कलवृक्ष	४४०	७६४ मन के दस दोष	४४७
७५८ महानदियाँ दस	४४०	७६५ वचन के दस दोष	४४८
७५९ महानदियाँ दस	४४१	७६६ कुलकर दस गत उत्सर्पिणी काल के	४४९
७६० कर्म और उनके कारण दस	४४१	७६७ कुलकर दस आने वाली उत्सर्पिणी के	४५०
७६१ साता वेदनीय कर्म बाँधने के दस बोल	४४३	७६८ दान दस	४५०
		७६९ सुख दस	४५३

अकाराद्यनुक्रमणिका

शोल नं०	पृष्ठ संख्या	शोल नं०	पृष्ठ संख्या
१६१ अक्रियावादी आठ	६७	६६० अमग्नाय आकाश	
७३४ अग्निकुमारों के		मग्नाय दम	३४६
अचिरति	४१२	६६० अम्बाध्याय (आकाशज) ३४६	
६२१ अच्छेरे दम	२७६	६६१ अम्बाध्याय (आकाशिक) ३४६	
७४७ अजीव परिणाम	४०६	६६१ अमग्नाय आकाशिक ३४६	
६१० अष्टज पौनज आदि		७३१ अमुरकुमारों के	
आठ व्रम	१२७	अचिरति	४१७
७०४ अद्धा प्रत्याख्यान	३७६	७०३ अहङ्कार के कारण	३७४
६२० अनन्त आठ	१४७	६२२ अहिमा की आठ	
७२० अनन्तक दम	४०३	उत्तमान	१४७
६४४ अनुपार दम केवली के	२०३	आ	
६४३ अनृद्धिवात आर्य के		६६० आकाश के दम	
नौ भेद	२१६	अमग्नाय	३४६
१६४ अनेकान्तवाद पर आठ		४२२ आगाह आठ आयम्बिल	
दोष और उनका कारण १००		के	४१
६२४ अभिगम पाँच	१६७	४२७ आगाह आठ एकामना	
७४१ अक्षी अजीव दम		के	४०
जीवाभिगम	४३४	६२६ आगाह नौ निर्विगर्ह	
१६६ अक्ष बहुन्व वेदों का	१०६	पञ्चकस्त्राण के	१७४
६४१ अवसर आदि जनक		४६० आठ कर्म	४३
के नौ भेद	२१२	४६७ आठ गुण सिद्ध भगवान	
६७२ अवस्था दम	२६७	के	४
७१५ अर्मक्लेश	३२६	४७४ आठ गुणों वाला माधु	
७६१ अर्मवर	३२६	आलोचना देने योग्य	
		होना है	१४

६७ आठ स्पर्श	१०८	६८७ आवश्यक के दस नाम	३५०
७६ आत्मदोष की आलोचना करने वाले के आठ गुण	१६	६६७ आशंसा प्रयोग दस	२५३
६३ आत्मा के आठ भेद	६५	६८१ आश्चर्य दस	२७६
१७ आनुपूर्वी दस प्रकार की	३६०	ई-उ	
६० आन्तरिक्त अस्वाध्याय दस	५६३	६०६ ईषत्प्राग्भागा पृथ्वी के आठ नाम	१२६
८८ आय म्वल के आगार	४१	७०४ उत्तरगुण पञ्चवक्त्राण दस	३७५
३६ आयु परिणाम नौ	२०४	७३७ उदधिकुमारों के दस अधिपति	४१६
१०० आयुर्वेद आठ	११३	६६८ उपघात दस	२५४
५३ आर्य अनृद्धिप्राप्त के नौ भेद	२१६	५८५ उपदेश के योग्य आठ बातें	३६
७० आलोचना करने योग्य साधु के दस गुण	२५८	५८४ उपदेश पात्र के आठ गुण	३८
७२ आलोचना (आलोचना) के दस दोष	२५६	६२२ उपमाएं आठ अहिंसा की	१५०
७१ आलोचना (आलोचना) देने योग्य साधु के दस गुण	२५६	६२३ उपमाएं आठ संघ स्त्री नगर की	१५६
७६ आलोचना करने वाले के आठ गुण	१६	ए-औ	
७५ आलोचना देने वाले साधु के गुण आठ	१५	५८६ एकल बिहार प्रतिमा के आठ स्थान	३६
७८ आलोचना न करने के आठ स्थान	१८	५८७ एकाक्षना के आठ आगार	४०
७७ आलोचना (माया की) के आठ स्थान	१६	६६३ एषणा के दस दोष	२५२
		औ	
		६६१ औदारिक अस्वा	

क		६२५ गण नौ भगवान	
५६२ करण आठ	६४	महावीर के	१७१
५६० कर्म आठ	४३	५७५ गणि सम्प्रदा	११०
७५० कर्म और उनके कारण	४४१	५२५ गति दस	४१३
६६२ कल्प दस	२३४	६१३ गन्धर्व (वाणव्यन्तर	
७५७ कल्प वृक्ष दस	४४०	के आठ भेद	१२६
७४१ कल्पोपपन्न इन्द्र दस	४२०	४६७ गुण आठ मिद्ध भग-	
५६५ कारक आठ	१०५	वान के	४
५८२ कारण आठ झूठ		६०४ ग्रह आठ	१२१
बोलने के	३७	६६३ ग्रहगणपणा के दस	
६३४ काल के नौ भेद	२०२	दोष	२४२
६३६ काव्य के नौ रस	२०७	च	
७५४ कुरु क्षेत्र	४३८	६५४ चक्रवर्ती की महानिधियाँ	
७६६ कुलकर दस (अतीत		नौ	२२०
काल के)	४४६	६८३ चक्रवर्ती दस दीक्षा	
७७७ कुलकर दस (भविष्य-		लेने वाले	२६२
काल के)	४५०	६०० चिकिस्मा शास्त्र आठ	११३
६१६ कृष्ण राजियाँ	१३२	६०३ चित्त के आठ दोष	१२०
६५५ केवली के दस अनुत्तर	२०३	५७४ चित्त समाधि के स्थान	२६०
६३१ कोदियाँ नौ भिक्षा की	१७६	छ	
७०२ क्रोध के नाम	३७४	६०२ छद्मस्थ आठ बातें नहीं	
ग		देख सकता	१२०
५८६ गंठी मुठी आदि संकेत		७१६ छद्मस्थ दस बातें को	
पञ्चवक्त्राण	४२	नहीं देख सकता	३८६
५६७ गण आठ	१०८	ज	
५६५ गणधर आठ भगवान		७८२ चिच्छिन्न बोल दस	२६२
पार्ष्णाथ के	३	६२४ जागरिका तीन	१६८

७४१ जाणकार के नौ भेद

७२६ जीव दस

७२७ जीव दस

७४६ जीव परिणाम दस

७४२ जृम्भक देव दस

झ

५४१ ज्ञाता के नौ भेद

५६२ ज्ञानाचार

७६२ ज्ञान वृद्धि करने वाले
दस नक्षत्र

झ

५२२ झूठ बोलने के आठ
कारण

त

६३३ तत्त्व नौ

६२४ तीर्थङ्कर गोत्र बांधने
वाले

६१२ तृणवनस्पतिकाय

१४५ तृणवनस्पतिकाय

१० त्रस योनि आठ

द

५६२ दर्शन आठ

७०६ दर्शन विनय के दस
बोल

५६६ दर्शनाचार आठ

६२५ दस श्रवक

७६२ दान दस

२१२

४१४

४१५

४२६

४२०

२१२

५

४४४

३७

१७७

१६३

१२६

४२२

१२७

१०६

७३२ दिक्कुमारों के

अधिपति

७५३ दिशाएं दस

६२३ दीक्षा लेने वाले

चक्रवर्ती

५७६ दृष्टान्त आठ

कमल के बीज

६२० दृष्टान्त दस

की दुर्लभता के

६२२ दृष्टि के दस

७२६ देवों के दस

५६४ दोष के दस

संज्ञा के दस

६०३ लोक के दस

५२३ लोक के दस

७२३ लोक के दस

७३३ लोक के दस

७३३ लोक के दस

७३३ लोक के दस

७३३ लोक के दस

७३३ लोक के दस

७३३ लोक के दस

७३३ लोक के दस

७३३ लोक के दस

७३३ लोक के दस

७३३ लोक के दस

७३३ लोक के दस

तन में तीर्थङ्कर

वाले नौ १६३

(जन्मवृत्तिप

४४०

११ (जन्मवृत्तिप

ण)

७३० नन्दाकुमारों के		७०० पुरुषामता के परम्परा	
अधिपति	४१८	फल दम	३२३
७१६ नाम दम प्रकार का	३६५	४७० पाँच ममिति तीन गुप्ति =	
७४७ नारकी जीव दम	४२४	६४३ पापश्रुत नौ	२१४
७४८ नारकी जीवों के वेदना		४६५ पार्श्वेननाथ भगवान	
दस प्रकार की	४०५	के गणेश आठ	३
६४२ नारद नौ	२१६	६२७ पुण्य के नौ भेद	१५२
४६१ नास्तिक आठ	६०	६५७ पुत्र के दस प्रकार	२६५
६४४ निदान (नियामा) नौ	२१५	६४६ पुण्यवन्त को दम बातें	
६४४ निधियाँ नौ चक्रवर्ती		माप्त होती हैं	
की	२२०	६१८ पुद्गल परावर्तन	१३६
६०५ निमित्त आठ	१२१	६०८ पृथ्वियाँ आठ	१२६
६४४ निषाण नौ	२१५	४७६ प्रतिक्रमण के आठ	
६२६ निर्विगद पञ्चसखाण		प्रकार और उनके	
के नौ आकार	१७४	दृष्टान्त	२१
७४७ नेरिण (दम) स्थिति	४२४	६४८ प्रतिबामुदेव नौ	२१८
६४० नैपुणिक वस्तु नौ	२१३	६६६ प्रति संवत्	२५२
६३४ नोरुपाय वेदनाय नौ	२०३	७०४ प्रत्याख्यान दम	३५५
६०५ नौ पुण्य	१७०	६०५ प्रदेश रुचक आठ	१०५
प		४७० प्रभावक आठ	१०
६२६ पञ्जा दम	३५३	४८० प्रमाद आठ	३६
४८६ पञ्चकलाण में आठ		६०६ प्रयत्नादि के आठ	
प्रकार को संकेत	४२	स्थान	१२४
७०५ पञ्चकलाण नवकारमी		६७० प्रयत्न माता	=
आदि	३७६	६६५ प्रपञ्चा	२५१
६४० परिग्रह नौ	२११	७२४ प्राण दम	४१३

५८१ प्रायश्चित्त आठ	३७	६२४ म० भगवान के शासन	
६७३ प्रायश्चित्त दस	२६०	में तीर्थकर गोत्र बाँधने	
व		वाले नौ जीव	१६३
६७५ बल दस	२६३	७६३ भद्रकर्म बाँधने के दस	
६५१ बलदेव और वासुदेवों		स्थान	४४४
के पूर्वभव के आचार्यों		७३० भवनवासी देव दस	४१६
के नाम	२१६	६३१ भिक्षा की नौ कोटियाँ	१७६
६४६ बलदेव नौ	२१७	म	
६४६ बलदेवों के पूर्वभव के		७६४ मन के दस दोष	४४७
नाम	२१८	६२६ मनःपर्ययज्ञान के लिए	
५८५ बार्ते आठ उपदेश योग्य	३६	आवश्यक नौ बार्ते	१७२
६१२ वादर वनस्पतिकाय		६८० मनुष्यभव की दुर्लभता	
आठ	१२६	के दस दृष्टान्त	२७१
७४५ वादर वनस्पतिकाय		७४३ महर्द्धिक देव दस	४२१
दस	४२२	६०४ महाग्रह आठ	१२१
७०१ ब्रह्मचर्य के समाधि		६०५ महानिमित्त आठ	१२१
स्थान दस	३७२	६५७ महावीर के दस स्वप्न	२२४
६२८ ब्रह्मचर्य गुप्ति नौ	१७३	६२५ महावीर के नां गण	१७१
म		५६६ महावीर के पास दीक्षित	
५६५ भगवान पार्श्वनाथ के		राजा आठ	३
गणधर आठ	३	६२४ महावीर के शासन में तीर्थकर	
६५७ भगवान महावीर के दस		गोत्र बाँधने वाले नौ	१६३
स्वप्न	२२४	७५८ महानदियाँ (जम्बूद्वीप	
६२५ भगवान महावीर के		के उत्तर)	४४०
नौ गण	१७१	७५६ महानदियाँ (जम्बूद्वीप	
५६६ भगवान महावीर के		के दक्षिण)	४४१
पास दीक्षित आठ राजा	३		

५५४ महानदियाँ नौ	२२०	५५२ लोकस्थिति दम	४३६
४६४ मांगलिक पदार्थ आठ	३	६१४ लोकान्तिक देव आठ	१३२
७२३ मान के दम कारण	३७४	६४५ लोकान्तिक देव नौ	२१७
४७७ माया को आलोचना क आठ स्थान	१६	य	
४७८ माया की आलोचना न करने के आठ स्थान	१८	५४६ वनस्कार दस (पश्चिम)	४४६
६६५ मिथ्यात्व दम	३६४	५४५ वनस्कार पर्वत (पूर्व)	४४६
६६६ मिश्र भाग दम	३७०	५६५ वचन के दम दोष	४४७
३४६ मुँह दस	२३१	४६४ वचन विभक्ति	१०४
७०० मृगवाद दम	३७१	६१२ वनस्पतिकार्य	१२६
य		५४५ वनस्पतिकार्य वादर दम	४२२
६६१ यनिचर्म दम	२३३	६१७ वर्गणार्थ आठ	१३४
६६१ योगांग आठ	११४	५२३ वर्जनीय दोष आठ	३८
र		६१४ वाणव्यन्तर के आठभेद	१३०
६३६ रस नौ	२७७	७२२ वाद के दोष दम	४०६
६३३ रसपरित्याग नौ	१७७	७३६ वायुकुमारों के अधिपति	४१६
४६६ राजा आठ भगवान महावीर के पाम दीजा लेने वाले	३	७४७ वामुदेव नौ	२१७
६१६ राजियाँ आठ	१३३	६४० वामुदेवों के पूर्वमव के नाम	२१८
६०७ रुचक प्रदेश आठ	१२४	६३० विगय नौ	१७४
६३७ रोग उत्पन्न होने के नौ स्थान	६०४	७०७ विगय दम	३८२
ल		६८२ विच्छिन्न बोल दम	२६२
७४८ लक्षि	२३०	७३४ विद्यु नकुमारों के अधि.	४१८
६२१ लोकस्थिति आठ	१४८	४६५ विभक्ति आठ	१०४
		७४४ विमान दम	४२१
		६६६ विशुद्धि दम	२४७
		७२३ विशेष दोष दम	४१०

६३२ विसम्भोग के नौ स्थान	१७६	७१० संवर	३८५
६३५ वेदनीय नोकपाय नौ	२०३	६६७ संसर्प योग	२५३
५६६ वेदों का अल्पबहुत्व	१०६	६७६ संसार की समुद्र से	
७०६ वेयावन्च दस	३८२	उपमा दस	१६६
६१४ व्यन्तर देव आठ	१६०	७१८ संसार में आने वाले	
श		जीव दस	४१५
७१३ शब्द दस प्रकार का	३८७	७१२ संज्ञा दस	३८६
६६६ शस्त्र दस	३६४	६६८ सत्य वचन दस	३६८
५८४ शिञ्जाशील के आठ गुण	३८	६६६ सत्यामृषा भाषा	३७०
६२८ शील की नौ बाड़	१७३	६३३ सम्भाव पदार्थ नौ	१७७
६६७ शुद्ध वागनुयोग	३६५	७०६ समकित विनय दस	३८४
७६३ शुभ कर्म बाँधने के		५७० समिति और गुप्ति	८
इस स्थान	४४४	६६३ समकित के दस बोल	३६२
६६१ श्रमणधर्म दस	२३३	६६४ समाचारी दस	२४६
६८४ श्रावक के लक्षण दस	२६२	५७१ समानता आठ प्रकार से	
६८५ श्रावक दस	२६४	साधु और सोने की	६
६४३ श्रुतपाप नौ	२१४	६७४ समाधि दस	२६२
३८६ श्रेणिक की दस रानियाँ	३३३	७०१ समाधिस्थान ब्रह्मचर्य	
स		के	३७२
५८६ संकेत पञ्चक्खाण के		६३२ सम्भोगी को विसम्भोगी	
आठ प्रकार	४२	करने के नौ स्थान	१७६
७१४ संक्लेश दस	३८८	६६४ सम्यग्दर्शन सराग	३६४
६१६ संख्या प्रमाण आठ	१४१	६६३ सम्यक्त्व प्राप्ति के	
७२१ संख्यान दस	४०४	दस बोल	३६२
६२३ संधरूपी नगर की		६६४ सराग सम्यग्दर्शन	३६४
आठ उपम एं	१५६	७२७ सर्वजीव दस	४१४
५७३ संयम आठ	११	७२६ सर्वजीव दस	४१५

७६१ मातावेदनीय यांचने के दम थाल	४४३	७३३ सुपर्णकुमारों के अधिपति	४१८
१७१ माधु और मोने की आठ गुणों में समानता	६	६११ मूत्रम आठ	१०८
१८३ माधु का वर्जनीय आठ दोष	३८	७४७ मूत्रम दम	४२३
७०८ माधु सेवा के फल	३८३	७४७ मन्त्रितकुमारों के अधि	४८०
१६७ मिद्ध भगवान के आठ गुण	४	६७६ म्थरिहल के दम	
१८४ मोमने वाले के आठ गुण	३८	विशेषण	२६४
७६६ मुख्य दम	४४३	६६० म्थरिह दम	२३८
		६८१ स्थिति आठ	१४८
		४६७ म्थर आठ	१०८
		६३८ स्नान के नौ कारण	२०४
		३४७ वान दम भगवान	
		महावीर के	२०४



श्री जैन सिद्धान्त बोल संग्रह

(तृतीय भाग)

मङ्गलाचरण —

त्रैलोक्यं सकलं त्रिकालविषयं सालोकमालोकिता ।
साक्षाद्येन यथा स्वयं करतले रेखात्रयं साङ्गुलि ॥
रागद्वेष-भयामयान्तक-जरा-लोलत्व-लोभादयः ।
नालं यत्पदलङ्घनाय स महादेवो मया वन्द्यते ॥ १
यस्माद्गौतमशङ्करप्रभृतयः प्राप्ता विभूतिं परां ।
नाभेयादि जिनास्तु शाश्वतपदं लोकोत्तरं मेभिरे ॥
स्पष्टं यत्र विभाति विश्वमखिलं देहोऽपि दर्पणे
तज्ज्योति प्रणमाम्यहं त्रिकरणैः स्वामीनामसिद्धये

भावार्थ— जिसने हाथ की अङ्गुली सहित तीन रेखाओं के समान तीनों काल सम्बन्धी तीनों लोक और अलोक को साक्षात् देख लिया है तथा जिसे राग, द्वेष, भय, रोग, जरा, मरण, तृष्णा, लालच आदि जीत नहीं सकते, उस महादेव (देवाधिदेव) को मैं नमस्कार करता हूँ ॥ १ ॥

जिस ज्योति से गौतम और शङ्कर आदि उत्तम पुरुषों ने परम ऐश्वर्य प्राप्त किया तथा प्रथम तीर्थङ्कर श्री ऋषभदेव स्वामी आदि जिनेश्वरों ने सर्वश्रेष्ठ सिद्ध पद प्राप्त किया और जिस ज्योति में समस्त विश्व दर्पण में शरीर के प्रतिबिम्ब की तरह स्पष्ट झलकता है उस ज्योति को मैं मन, वचन और काया से अपनी इष्ट सिद्धि के लिये नमस्कार करता हूँ ॥ २ ॥

आठवां बोल संग्रह

(बोल नम्बर ५६४-६२३)

५६४-मांगलिक पदार्थ आठ

नीचे लिखे आठ पदार्थ मांगलिक कहे गये हैं—

(१) स्वस्तिक (२) श्रीवत्स (३) नन्दिकावर्च (४) वर्द्धमानक
(५) भद्रासन (६) कलश (७) मत्स्य (८) दर्पण ।
साथिये को स्वस्तिक कहते हैं । तीर्थङ्कर के वचस्थल में उठे
हुए अवयव के आकार का चिह्नविशेष श्रीवत्स कहलाता है ।
प्रत्येक दिशा में नव कोण वाला सांथिया विशेष नन्दिकावर्च
है । शराव (सकोरे) को वर्द्धमानक कहते हैं । भद्रासन सिंहासन
विशेष है । कलश, मत्स्य, दर्पण, ये लोक प्रसिद्ध ही हैं ।

(औपपातिक सूत्र ४ टीका) (राजप्रश्नीय सूत्र १४)

५६५-भगवान् पार्श्वनाथ के गणधर आठ

गण अर्थात् एक ही आचार वाले साधुओं का समुदाय, उसे
धारण करने वाले को गणधर कहते हैं । भगवान् पार्श्वनाथ के
आठ गण तथा आठ ही गणधर थे ।

(१) शुभ (२) आर्यघोष (३) वशिष्ठ (४) ब्रह्मचारी
(५) सोम (६) श्रीधृत (७) वीर्य (८) भद्रयश ।

(राणांग ८ उ. ३ सू० ६१७ टीका) (समवायांग ८) (प्रवचनसारोद्धार
द्वार १६ गाथा ३३०) (आच. ह. नि. गा. २६८-६९) (स. श. द्वार १११)

५६६-भ० महावीर के पास दीक्षित आठ राजा

आठ राजाओं ने भगवान् महावीर के पास दीक्षा ली थी ।
उनके नाम इस प्रकार हैं—

(१) वीरांगक (२) वीरयश (३) संजय (४)
(५) राजर्षि (६) श्वेत (७) शिव (८) उदायन ।

का राजा, जिसने चण्डप्रद्योत को हराया था तथा भाण्ड को राज्य देकर दीक्षा ली थी) । (अष्टांग ८ उ. ३ मू. ६२१)

५६७—सिद्ध भगवान के आठ गुण

आठ कर्मों का निर्मूल नाश करके जो जीव जन्म मरण रूप संसार से छूट जाते हैं उन्हें सिद्ध कहते हैं। कर्मों के द्वारा आत्मा की ज्ञानादि शक्तियाँ दबी रहती हैं। उनके नाश से मुक्त आत्माओं में आठ गुण प्रकट होने हैं और आत्मा अपने पूर्ण विकास को प्राप्त कर लेता है। ये आठ गुण ये हैं—

(१) केवलज्ञान—ज्ञानावरणीय कर्म के नाश से आत्मा का ज्ञान गुण पूर्णरूप से प्रकट हो जाता है। इससे आत्मा समस्त पदार्थों को जानने लगता है। इसी को केवलज्ञान कहते हैं।

(२) केवलदर्शन—दर्शनावरणीय कर्म के नाश से आत्मा का दर्शन गुण पूर्णतया प्रकट होता है। इससे वह सभी पदार्थों को देखने लगता है। यही केवलदर्शन है।

(३) अव्यावाध मुख—वेदनीय कर्म के उदय से आत्मा दुःख का अनुभव करता है। यद्यपि सातावेदनीय के उदय से मुख भी प्राप्त होता है किन्तु वह सुख क्षणिक, नश्वर, भौतिक और काल्पनिक होता है। वास्तविक और स्थायी आत्मिक मुख की प्राप्ति वेदनीय के नाश से ही होती है। जिस में कभी किसी तरह की भी बाधा न आये ऐसे अनन्त मुख को अव्यावाध मुख कहते हैं।

(४) चायिक सम्यक्त्व—जीव अजीवादि पदार्थों को यथार्थ रूप में जानकर उन पर विश्वास करने को सम्यक्त्व कहते हैं। मोहनीय कर्म सम्यक्त्व गुण का घातक है। उसका नाश होने पर पैदा होने वाला पूर्ण सम्यक्त्व ही चायिक सम्यक्त्व है।

(५) अचयस्थिति—मोक्ष में गया हुआ जीव वापिस नहीं आता, वहाँ रहता है। इसी को अचयस्थिति कहते हैं। आयु कर्म के उदय से जीव जिस गति में जितनी आयु बाँधता है उतने काल वहाँ रह कर फिर दूसरी गति में चला जाता है। सिद्ध जीवों के आयु कर्म

नष्ट हो जाने से वहाँ स्थिति की मर्यादा नहीं रहती। इसलिये वहाँ अक्षयस्थिति होती है। स्थिति के साथ ही उनकी अवगाहना भी निश्चित हो जाती है। अतः सिद्धों में 'अटल अवगाहना' गुण भी पाया जाता है।

(६) अरूपीपन—अच्छे या बुरे शरीर का बन्ध नाम कर्म के उदय से होता है। कर्मण आदि शरीरों के सम्मिश्रण से जीव रूपी हो जाता है। सिद्धों के नामकर्म नष्ट हो चुका है। उन का जीव शरीर से रहित है, इसलिये वे अरूपी हैं।

(७) अगुरुलघुत्व—अरूपी होने से सिद्ध भगवान् न हल्के होते हैं न भारी। इसी का नाम अगुरुलघुत्व है।

(८) अनन्त शक्ति—आत्मा में अनन्त शक्ति अर्थात् बल है। अन्तराय कर्म के कारण वह दबा हुआ है। इस कर्म के दूर होते ही वह प्रकट हो जाता है अर्थात् आत्मा में अनन्त शक्ति व्यक्त (प्रकट) हो जाती है।

ज्ञानावरणीय आदि प्रत्येक कर्म की प्रकृतियों को अलग २ गिनने से सिद्धों के इकतीस गुण भी हो जाते हैं। प्रवचन-सारोद्धार में इकतीस ही गिनाए गए हैं। ज्ञानावरणीय की पाँच, दर्शनावरणीय की नौ, वेदनीय की दो, मोहनीय की दो, आयुर्कर्म की चार, नामकर्म की दो, गोत्रकर्म की दो और अन्तराय की पाँच, इस प्रकार कुल इकतीस प्रकृतियाँ होती हैं। इन्हीं इकतीस के क्षय से इकतीस गुण प्रकट होते हैं। इनका विस्तार इकतीसवें चोल में दिया जायगा। (अनुयोगद्वार चायिकभाष सूत्र १२६ पृष्ठ ११७)

(प्रवचन सारोद्धार द्वार २७६ गाथा १५६३-६४) (समवायोंग ३१)

५६८—ज्ञानाचार आठ

नए ज्ञान की प्राप्ति या प्राप्त ज्ञान की रक्षा के लिए जो जरूरी है उसे ज्ञानाचार कहते हैं। स्थूलदृष्टि से इसके अ

(१) कालाचार—शास्त्र में जिस समय जो सूत्र पढ़ने की आज्ञा है, उस समय उसे ही पढ़ना कालाचार है।

(२) विनयाचार—ज्ञानदाता गुरु का विनय करना विनयाचार है।

(३) बहुमानाचार—ज्ञानी और गुरु के प्रति हृदय में भक्ति और श्रद्धा के भाव रखना बहुमानाचार है।

(४) उपधानाचार—शास्त्रों में जिस सूत्र को पढ़ने के लिए जो तप बताया गया है, उसको पढ़ते समय वही तप करना उपधानाचार है।

(५) अनिह्वयाचार—पढ़ाने वाले गुरु के नाम को नहीं छिपाना अर्थात् किसी से पढ़ कर 'मैं उससे नहीं पढ़ा' इस प्रकार मिथ्या भाषण नहीं करना अनिह्वयाचार है।

(६) व्यञ्जनाचार—सूत्र के शब्दों का ठीक ठीक उच्चारण करना व्यञ्जनाचार है। जैसे 'धम्मो मंगलमुक्खिट्टम्' की जगह 'पुण्णं मंगलमुक्खिट्टम्' बोलना व्यञ्जनाचार नहीं है क्योंकि मूल पाठ में भेद हो जान से अर्थ में भी भेद हो जाता है और अर्थ में भेद होने से क्रिया में भेद हो जाता है। क्रिया में फर्क पढ़ने में निर्जरा नहीं होती और फिर मोक्ष भी नहीं होता। अतः शुद्ध पाठ पर ध्यान देना आवश्यक है।

(७) अर्थाचार—सूत्र का सत्य अर्थ करना अर्थाचार है।

(८) तदुभयाचार—सूत्र और अर्थ दोनों को शुद्ध पढ़ना और समझना तदुभयाचार है। (अनंमसंह देशनाधिकार अधि ३२ लो. २४ पु. १२०)

५६९.—दर्शनाचार आठ

सत्य तत्त्व और अर्थों पर श्रद्धा करने का सम्यग्दर्शन कहते हैं। इसके चार अंग हैं— परमार्थ अर्थात् जीवादि पदार्थों का ठीक ठीक ज्ञान, परमार्थ को जानने वाले पुरुषों की सेवा, शिथिलाचारी और कृदर्शनी का त्याग तथा सम्यक्त्व अर्थात् सत्य पर दृढ़ श्रद्धा। सम्यग्दर्शन धारण करने वाले द्वारा आचरणीय (पालने योग्य) बातों को दर्शनाचार कहते हैं। दर्शनाचार आठ हैं—

(१) निःशंकित (२) निःकांचित (३) निर्विचिकित्सा (४)
अमूढदृष्टि (५) उपवृन्तहण (६) स्थिरीकरण (७) वात्सल्य
और (८) प्रभावना ।

(१) निःशंकित—वीतराग सर्वज्ञ के वचनों में संदेह न करना
अथवा शंका, भय और शोक से रहित होना अर्थात् सम्यग्दर्शन
पर दृढ़ व्यक्तिको इस लोक और परलोक का भय नहीं होता,
क्योंकि वह समझता है कि सुख दुःख तो अपने ही किए हुए पाप,
पुण्य के फल हैं । जीव जैसा कर्म करता है वैसा ही फल प्राप्त
होता है । आत्मा अजर और अमर है वह कर्म और शरीर
से अलग है । इसी तरह सम्यक्त्वी को वेदनाभय भी नहीं होता,
क्योंकि वेदना भी अपने ही कर्मों का फल है, वेदना शरीर
का धर्म है । आत्मा को कोई वेदना नहीं होती । शरीर से आत्मा
को अलग समझ लेने पर किसी तरह की वेदना नहीं होती ।
आत्मा को अजर अमर समझने से उसे मरण-भय नहीं होता ।
आत्मा अनन्त गुण सम्पन्न है और उन गुणों को कोई चुरा नहीं
सकता । यह समझने से उसे चोर भय नहीं होता । जिन धर्म
सब को शरणभूत हैं, उसे प्राप्त करने के बाद जन्म मरण के दुःखों
से अवश्य छुटकारा मिल जाता है, यह समझने से उसे अशरण
भय नहीं होता । अपनी आत्मा को परमानन्दमयी समझने से
अकस्माद्भय नहीं होता । आत्मा को ज्ञानमय समझ कर वह
सदा निर्भय रहता है ।

(२) निःकांचित—सम्यक्त्वी जीव अपने धर्म में दृढ़ रह
कर परदर्शन की आकांक्षा न करे । अथवा सुख और दुःख
को कर्मों का फल समझ कर सुख की आकांक्षा न करे तथा
दुःख से द्वेष न करे । भावी सुख, धन, धान्य आदि की चाह न करे ।

(३) निर्विचिकित्सा—धर्मफल की प्राप्ति के विषय में सन्देह

- (१) कालाचार—शास्त्र में जिस समय जो सूत्र पढ़ने की आज्ञा है, उस समय उसे ही पढ़ना कालाचार है।
- (२) विनयाचार—ज्ञानदाता गुरु का विनय करना विनयाचार है।
- (३) बहुमानाचार—ज्ञानी और गुरु के प्रति हृदय में भक्ति और श्रद्धा के भाव रखना बहुमानाचार है।
- (४) उपधानाचार—शास्त्रों में जिस सूत्र को पढ़ने के लिए जो तप बताया गया है, उसको पढ़ते समय वही तप करना उपधानाचार है।
- (५) अनिहवाचार—पढ़ने वाले गुरु के नाम को नहीं छिपाना अर्थात् किसी से पढ़ कर 'मैं उससे नहीं पढ़ा' इस प्रकार मिथ्या भाषण नहीं करना अनिहवाचार है।
- (६) व्यञ्जनाचार—सूत्र के अक्षरों का ठीक ठीक उच्चारण करना व्यञ्जनाचार है। जैसे 'धम्मो मंगलमुक्किट्टम्' की जगह 'पुण्णं मंगलमुक्किट्टम्' बोलना व्यञ्जनाचार नहीं है क्योंकि मूल पाठ में भेद हो जाने से अर्थ में भी भेद हो जाता है और अर्थ में भेद होने से क्रिया में भेद हो जाता है। क्रिया में फर्क पढ़ने से निर्जरा नहीं होती और फिर मोक्ष भी नहीं होता। अतः शुद्ध पाठ पर ध्यान देना आवश्यक है।
- (७) अर्थाचार—सूत्र का सत्य अर्थ करना अर्थाचार है।
- (८) तदुभयाचार—सूत्र और अर्थ दोनों को शुद्ध पढ़ना और समझना तदुभयाचार है। (अमंमंमह देवनाधिकार अधि ३२ लो. २४ ट. १४०)

५६९.—दर्शनाचार आठ

सत्य तत्त्व और अर्थों पर श्रद्धा करने को सम्यग्दर्शन कहते हैं। इसके चार अंग हैं—परमार्थ अर्थात् जीवादि पदार्थों का ठीक ठीक ज्ञान, परमार्थ को जानने वाले पुरुषों की सेवा, शिथिलाचारी और कृदर्शनी का न्याय तथा मम्यक्त्व अर्थात् सत्य पर दृढ़ श्रद्धा। सम्यग्दर्शन धारण करने वाले द्वारा आचरणीय (पालने योग्य) बातों को दर्शनाचार कहते हैं। दर्शनाचार आठ हैं—

५७३-संयम आठ

मन, वचन और काया के व्यापार को रोकना संयम है।
इसके आठ भेद हैं:—

(१) प्रेक्ष्यसंयम—स्थण्डिल या मार्ग आदि को देख कर प्रवृत्ति करना प्रेक्ष्यसंयम है।

(२) उपेक्ष्यसंयम—साधु तथा गृहस्थों को आगम में बताई हुई शुभ क्रिया में प्रवृत्त कर अशुभ क्रिया से रोकना उपेक्ष्यसंयम है।

(३) अपहृत्यसंयम—संयम के लिये उपकारक वस्त्र पात्र आदि वस्तुओं के सिवाय सभी वस्तुओं को छोड़ना अथवा संसक्त भात पानी आदि का त्याग करना अपहृत्यसंयम है।

(४) प्रमृज्यसंयम—स्थण्डिल तथा मार्ग आदि को विधिपूर्वक पूज कर काम में लाना प्रमृज्यसंयम है।

(५) कायसंयम—दौड़ने, उछलने, रूदने आदि का त्याग कर शरीर को शुभ क्रियाओं में लगाना कायसंयम है।

(६) वाक्संयम—कठोर तथा असत्यवचन न बोलना और शुभ भाषा में प्रवृत्ति करना वाक्संयम है।

(७) मनसंयम—द्वेष, अभिमान, ईर्ष्या आदि छोड़ कर मन को धर्मध्यान में लगाना मनसंयम है।

(८) उपकरणसंयम—वस्त्र, पात्र, पुस्तक आदि उपकरणों को सम्भाल कर रखना उपकरणसंयम है।

५७४-गणिसम्पदा आठ

(तत्त्वार्थाधिगमभाष्य अध्याय ६ सू. ६)

साधु अथवा ज्ञान आदि गुणों के समूह को गण कहा जाता है। गण के धारण करने वाले को गणी कहते हैं। कुछ साधुओं को अपने साथ लेकर आचार्य की आज्ञा से जो अलग विचरता है उन साधुओं के आचार विचार का ध्यान रखता हुआ जगह

में विचित्रता उत्पन्न करली हो। जो सभी दर्शनों की तुलना करके भलीभाँति ठीक बात बता सकता हो। जो सुललित उदाहरण तथा अलङ्कारों से अपने व्याख्यान को मनोहर बना सकता हो तथा श्रोताओं पर प्रभाव डाल सकता हो, उसे विचित्रश्रुत कहते हैं। (घ) घोषविशुद्धिश्रुत—शास्त्र का उच्चारण करते समय उदात्त, अनुदात्त, स्वरित, ह्रस्व, दीर्घ आदि स्वरों तथा व्यञ्जनों का पूरा ध्यान रखना घोषविशुद्धि है। इसी तरह गाथा आदि का उच्चारण करते समय पङ्ज, ऋपभ, गान्धार आदि स्वरों का भी पूरा ध्यान रखना चाहिए। उच्चारण की शुद्धि के बिना अर्थ की शुद्धि नहीं होती और श्रोताओं पर भी असर नहीं पड़ता।

(३) शरीरसम्पदा—शरीर का प्रभावशाली तथा सुसंगठित होना ही शरीरसम्पदा है। इसके भी चार भेद हैं—(क) आरोह-परिणाह सम्पन्न—अर्थात् गणी के शरीर की लम्बाई चौड़ाई सुडौल होनी चाहिए। अधिक लम्बाई या अधिक मोटा शरीर होने से जनता पर प्रभाव कम पड़ता है। केशीकुमार और अनाथी मुनि के शरीरसौन्दर्य से ही पहिले पहल महाराजा परदेशी और श्रेणिक धर्म की ओर मुक गए थे। इससे मालूम पड़ता है कि शरीर का भी काफी प्रभाव पड़ता है। (ख) शरीर में कोई अङ्ग ऐसा नहीं होना चाहिए जिससे लज्जा हो, कोई अङ्ग अधूरा या वेडौल नहीं होना चाहिए। जैसे काना आदि।

(ग) स्थिरसंहनन—शरीर का संगठन स्थिर हो, अर्थात् ढीलाढाला न हो। (घ) प्रतिपूर्णेन्द्रिय अर्थात् सभी इन्द्रियाँ पूरी होनी चाहिए।

(४) वचनसम्पदा—मधुर, प्रभावशाली तथा आदेय वचनों का होना वचनसम्पदा है। इसके भी चार भेद हैं—(क) आदेय-वचन अर्थात् गणी के वचन जनता द्वारा ग्रहण करने योग्य हों। (ख) मधुरवचन अर्थात् गणी के वचन सुनने में मीठे

- लगने चाहिए। कर्णकट्ट न हों। साथ में अर्थगाम्भीर्य वाले भी हों। (ग) अनिश्चित-क्रोध, मान, माया, लोभ आदि के बशीभूत होकर कुछ नहीं कहना चाहिए। हमेशा शान्त चित्त से सब का हित करने वाला वचन बोलना चाहिए। (घ) असंदिग्ध-वचन-ऐसा वचन बोलना चाहिए जिसका आशय विन्कुल स्पष्ट हो। श्रोता को अर्थ में किसी तरह का सन्देह उत्पन्न न हो।
- (५) वाचनासम्पदा-शिष्यों को शास्त्र आदि पढ़ाने की योग्यता को वाचनासम्पदा कहते हैं। इस के भी चार भेद हैं-(क) विचयोद्देश अर्थात् किस शिष्य को कौनसा शास्त्र, कौनसा अध्ययन, किस प्रकार पढ़ाना चाहिए? इन बातों का ठीक ठीक निर्देश करना। (ख) विचयवाचना-शिष्य की योग्यता के अनुसार उसे वाचना देना। (ग) शिष्य की बुद्धि देखकर वह जितना ग्रहण कर सकता हो उतना ही पढ़ाना। (घ) अर्थनिर्यापकत्व-अर्थात् अर्थ की संगति करते हुए पढ़ाना। अथवा शिष्य जितने सूत्रों की धारण कर सके उतने ही पढ़ाना या अर्थ की परस्पर संगति, प्रमाण, नय, कारक, समाम, विभक्ति आदि का परस्पर सम्वन्ध बताते हुए पढ़ाना या शास्त्र के पूर्वापर सम्वन्ध को अच्छी तरह समझाते हुए सभी अर्थों को बताना।
- (६) मतिसम्पदा-मतिज्ञान की उत्कृष्टता को मतिसम्पदा कहते हैं। इस के चार भेद हैं-अवग्रह, ईडा, अवाय और धारणा। इनका स्वरूप इसके प्रथम भाग बोल नं० २०० में बताया गया है। अवग्रह आदि प्रत्येक के छः छः भेद हैं।
- (७) प्रयोगमनिसम्पदा (अवसर का जानकार)-शास्त्रार्थ या विवाद के लिए अवसर आदि की जानकारी को प्रयोगमति सम्पदा कहते हैं। इसके चार भेद हैं-(क) अपनी शक्ति को समझकर विवाद करे। शास्त्रार्थ में प्रवृत्त होने से पहिले मलीभाँति समझ ले

(२) अब भी मैं उसी अपराध की कर रहा हूँ, बिना उससे निवृत्त हुए आलोचना कैसे हो सकती है ?

(३) मैं उस अपराध की फिर करूँगा, इसलिए आलोचना आदि नहीं हो सकती ।

(४) अपराध के लिए आलोचनादि करने से मेरी अपकीर्ति अर्थात् बदनामी होगी ।

(५) इससे मेरा अव्यवहार अर्थात् अपराध होगा । ये सब विशेष

संविदाँ खास बात के लिए होने वाली बदनामी की अपकीर्ति कहते हैं । चार्ज चर्क, फैली हुई बदनामी की अपराध कहते हैं ।

(६) अपनय अर्थात् पूजा सत्कार आदि भिन्न जायेंगे ।

(७) मेरी कीर्ति भिन्न जाएगी ।

(८) मेरा धर्म भिन्न जाएगा ।

इन आठ कारणों से सपावरी प्रथम अपने अपराध की आलोचना नहीं करता । सपावरी मनुष्य इस लोक, परलोक तथा सभी जगत् में अपमानित होता है । इस लोक में सपावरी प्रथम

मन ही मन पश्चात्ताप करी अति से जलता रहता है ।

लोहे की, ताँबे की, रंग की, सीसे की, चाँदी की और सोने की भट्टी की आग अथवा तिलों की आग अथवा चावल

का कोहर आदि की आग, जों के गुप्तों की आग, नल अर्थात् सर्तों की आग, पत्तों की आग, सुपिडका, मंडिका और गोखिया के चूल्हों की आग (ये तीनों शब्द किसी देश में प्रचलित हैं) ऊँहर के आवे (पुजाने) की आग, कवेख (गोखिया)

पकाने के भट्टे की आग, हूँटे पकाने के पत्रावे की आग, मुँह या चीनी बगैरह बनाने की भट्टी, लूँहार के चूहे चूहे भट्टे तथा

हूप, जलते हुए जो अति के समान हो गए हैं, किशुक अर्थात् पलायन कुसुम की तरह जलते हो गए हैं, जो सैकड़ों जालाएँ

द्विष्य भग्ना, द्विष्य भग्ना, द्विष्य कान्ति, द्विष्य वेद, द्विष्य ज्ञेय
 अर्थात् विचार, इन सब के द्वारा वह दूसरी द्विष्याओं की प्रकल्पित
 करता हुआ तरह तरह के भाव, गीत और वर्णनों के साथ
 द्विष्य भोगों की भोगता है। उसके परिवार के सभी लोग तथा
 नौकर चाकर उसकी सम्मान करते हैं, उसे बहुमूल्य मान
 देते हैं। तथा जब वह बोलने के लिए उठा होता है तो चार
 पाँच देव खड़े होकर कहते हैं, देव ! और कहिए, और कहिए।
 जब वह आर्य पुरु होन पर देवलोक से चढ़ता है तो
 मनुष्यलोक में उड़ते तथा सम्पन्न कुलों में प्रवेश रूप से उत्पन्न
 होता है। अच्छे रूप वाला, अच्छे वर्ण वाला, अच्छे गन्ध वाला,
 अच्छे रस वाला, अच्छे स्पर्श वाला, इन्द्र, कान्त, मनोहर, मनोहर
 रूप वाला तथा आदित्य वचन वाला होता है।

नौकर चाकर तथा पर के सभी लोग उसकी इज्जत करते
 हैं। इत्यादि सभी बातें आलोचना न करने वाले से उठती जानती।

(अष्टांग २३, ३ पृष्ठ ११७)

५७८-भावा की आलोचना न करने के बाद स्थान

आठ बातों के कारण : भावार्थी प्रथम भावा करके उसकी
 आलोचना नहीं करता, दोष के लिए प्रतिबन्ध नहीं करता,
 आत्मसाक्षात् से निन्दा नहीं करता, गुरु के समय आत्मसाक्षात्
 (आत्मनिन्द) नहीं करता, उस दोष से निवृत्त नहीं होता, शुभ
 विचार स्वीकार के द्वारा अविचार स्वीकार की नहीं होता,
 दुष्टता नहीं करने का निश्चय नहीं करता, दोष के लिए उचित भय-
 विषय नहीं होता। ये आठ कारण इस प्रकार हैं—

(१) वह यह सोचता है कि जब अपराध भूत कर लिया तो अब
 उस पर क्या लाभ क्या कल ?

पीपल के बटने से दीवार फट गई और मंड़ल गिर गया ।
 लगा । बी ने फिर सोचा, इस छोटे से पीपे से क्या होगा ?
 है ? छोड़े दिनों के बाद दूसरी दीवार में पीपल का पंख उभर
 उसकी एक दीवार गिर गई । बी ने सोचा, इतने से क्या होगा
 में लगी रही । मकान की परवाह नहीं की । कुछ दिनों बाद
 गिरत चला गया । बी अपने बेधबिन्धास और शूझार सजने
 की देखरेख अपनी बी के ऊपर छोड़ कर वह व्यापार के लिए
 मंड़ल बनाया । वह रती से भरा था । कुछ समय के बाद मंड़ल
 एक नगर में एक बहुत बनी सेठ रहता था । उसने एक
 अर्थात् संयम की सहायतापूर्वक निर्दोष पालना प्रतिबद्धता है ।
 (२) प्रतिबद्धता-संयम के सभी अङ्गों में भली प्रकार चलना
 वह निर्बल अर्थात् मुक्ति की अधिकारी हो जाता है ।
 और असंयम में फिर से प्रवृत्ति न करने की प्रतिज्ञा कर ले तो
 प्राप्त तो हो गया किन्तु उस अवस्था से संयम अवस्था में लौट आने
 जो साथ किसी तरह प्रमादवशा होकर असंयम अवस्था की
 डाला और वह निरकाल तक संसार में जन्म मरण करता रहेगा ।
 आसीन न, विराधना की । उसे राम और हनुमान् स्वकी ने मार
 की खा करने का हुक्म दिया । उस संयम की किसी साधुस्त्री
 इस प्रकार होता है- तीर्थङ्कर स्त्री राजा ने संयम स्त्री मंड़ल
 यह द्रव्य प्रतिकर्मण हुआ । भोज में इस दहलन का समन्वय
 आया और छोड़ दिया गया । वह सुख से जीवन बिताते लगे ।
 तब छोड़ दिए जाओगे । वह दरता हुआ बीसे ही बाहर निकल
 कहा अगर इन्हें पैरों पर पैर रखते हुए वापस चले आओगे
 मारिए मत । जैसा आप कहेंगे मैं करने को तैयार हूँ । उन्होंने
 सरकार ! मुझे यह मालूम नहीं था, इसीलिए चला आया । मुझे
 संयम उसे मार डाला । दूसरा वहीं खड़ा होकर कहने लगा-

प्रतिक्रमण है। अथवा—

प्रति प्रति वचनं वा श्लोकं श्लोकफलदं ।

निःशेषस्य श्लोकवत्त्वात् प्रतिक्रमणम् ॥

अर्थात्—शून्य रहित संशयी का शोधफल, देने वाले शून्य शोभी में प्रशंसित करने प्रतिक्रमण है। प्रतिक्रमण के आठ भेद हैं—

- (१) प्रतिक्रमण (२) प्रतिचरण (३) प्रतिहरण (४) वाच्यता
- (५) निवृत्ति (६) निन्दा (७) गर्हा और (८) शिट्टि ।

(१) प्रतिचरण—इसका अर्थ होता है उन्ही पूर्ण श्लोकों में वचना ।

इसका दो भेद हैं—प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष । प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष का अर्थ है—

प्रतिक्रमण प्रत्यक्ष है । संशयकत्व आदि का प्रतिक्रमण अप्रत्यक्ष है । इसका अर्थ समझने के लिए, स्थानों दिया जाता है—

एक राजा ने शहर में शहर महल बनवाना शुरू किया ।

शून्य भूखंडों में उसकी नींव डाल कर प्रहरों में बढ़ा दिया । उन्हें

कर दिया गया, जो इस तरह में घुसे उसे मार डालना शुरू

किया वह जिस जगह पर रख कर आन्दर गया था उसी जगह

पर रखते हुए शान्तिश लौट आए जो खंड देना । कुछ देर बाद

जब प्रहरों में आगजवान हो, गए तो दो आगज शान्तिश प्रेष

उभयों घुस गए । वे शान्तिशों से गए थे कि प्रहरों में दोष

लिया । सिपाहियों ने जलवार खोल कर कहा—मूर्खों ! तुम

मूर्ख क्यों घुस गए ? शान्तिश, शान्तिशों में एक कुछ शान्तिश

कर बोला—इस में क्या बड़बुद है ? यह कह कर अपने की बचाने

के लिए इधर उधर दौड़ने लगा । राजकुमारों ने पकड़ कर उसी

भर कर वापिस लौटे। वापिस आते समय दो रास्ते मिले, एक धूमकर आता था लेकिन समतल था। दूसरा रास्ते सीधा था किन्तु ऊंची नीची जगह, झोड़ी तथा काटों वाला था। एक लड़का इसी रास्ते से चला। रास्ते में वह गिर पड़ा और दूध का घड़ा फट गया। अपने मामा के पास खाली हाथ पहुँचा। दूसरा लड़का लाने होने पर भी निककटक रास्ते (राजमार्ग) से धीरे धीरे दूध का घड़ा लेकर सुशुद्ध पहुँच गया। इससे सन्तुष्ट होकर कुलपति ने उसे लड़की व्याह दी। दूसरे से कहा—मैंने जल्दी आने के लिए तो नहीं कहा था। मैंने दूध लाने के लिए मना था, तुम नहीं लाए। इसलिये कन्या तुम्हें नहीं मिल सकती। तीसरे लड़के कुलपति मनुष्य भव लड़ी गोखिल से निर्दोष वापिस लड़ी दूध को लाने की आज्ञा देते हैं। उसके दो मामा हैं—जिन कल्प और स्थविर कल्प। जिन कल्प का मामा सीधा ही है लेकिन बहुत कठिन है। उससे संतान वाले महापुरुष ही उस पर चल सकते हैं। स्थविर कल्प का मामा उत्तम, अपवाद वगैरह से युक्त होने के कारण लम्बा है। जो व्यक्तित्व कल्प की समझ्य वाला न होने पर भी उस पर चलता है वह संयम लड़ी दूध के घड़े को रास्ते में ही फोड़ देता है अर्थात् चारित्र्य से गिर जाता है। इसलिये मुक्तिलक्ष्मी कन्या को भाल नहीं कर सकती। जो समकदर्शन दूध, चीन, काल, भाल लान कर अपनी शक्ति के अनुसार धीरे धीरे संयम की रक्षा करते हुए चलता है वह अन्त में सिद्धि की प्राप्त कर लेता है।

(४) चारणा—इसका अर्थ है निषेध।

दृष्टान्त—एक राजा ने दूसरे पराक्रमी शूद्र राजा की सेना को समीप आया जान कर आस पास के ऊँचे, घाबड़ी, बालाख वगैरह निम्न पानी के स्थानों में विप खोल दिये। दूध, दही,

अध्यात-हे आश्रय ! अधिक मास के हो जाने पर यदि ब्रह्म
 कर्माकार (कनर) के वृक्ष अपनी श्रेष्ठ से पहले ही खिल गए तो
 भी तुम्हें खिलना प्रीति देता । क्योंकि अगर नीच लोग
 कोई बुरी बात करें तो क्या तुम्हें भी वह करनी चाहिए ?
 राजकन्या सोचने लगी-यहाँ वसन्त ऋतु ने आम को उलहाना
 दिया है । यदि सब वृक्षों में ब्रह्म कनर खिल गया तो क्या आम
 को भी खिलना चाहिए ? क्या आम ने अधिकमास की घोषणा
 नहीं सुनी । इसने ठीक ही कहा है 'जो जलहे की लड़की को
 क्या मुझे भी वही करना चाहिए ?' 'मेरी का पिताजी भूल
 आई है' यह वदना बना कर वह वापिस लौट आई । उसी दिन
 एक सत्र से बड़े सामन्त का लड़का अपने पुरुष सन्ध्या के हिस्से-
 दर भाई वन्दुओं द्वारा अपमानित होकर राजा की शरण में
 आया । राजा ने वह लड़की उसे ब्याह दी । सामन्तपुत्र ने उस
 राजा की सहायता से उन सब भाइयों को जीत कर राज्य प्राप्त कर
 लिया । वह लड़की पटरानी बन गई ।
 यहाँ कन्या के सरीखे साथ विषय विकार कभी धर्म के
 द्वारा अकट कर लिए जाते हैं । इसके बाद आचार्य के उपदेशों
 कभी गीत के द्वारा जो वापिस लौट जाते हैं वे अच्छी गति को
 प्राप्त करते हैं, दूसरे दुर्गति को ।
 दूसरी उदहरण-किरी माछ में एक युवक साथि गोख के
 ग्रहण और धारण में असमर्थ था । आचार्य उसे दूसरे काया के
 देने का विचार करके वह चला गया । बाहर निकलते हुए उसने
 यह गाथा सुनी-

तरिण्या य पाइएलिया मारिण्या समरे समथएण ।

असमिजजण-उल्ला न हं सदिण्णा उलपसयएण ॥

उह न खन फुल्लैत नह पवत कतिहि दसगई ॥
 नह कुन कलिपराय नयन । अहिमसिपयसि धुडसि ।
 निकले । उही समय किसी ने गीत गाया—

माने का निश्चय कर लिया । दूसरे दिन सुबह ही वे गान
 गाईगी । धुन ने कहा—उसे भी ले चलो । दोनों ने आपस में
 पली पनने का निश्चय किया है । इसलिये मैं उसके बिना न

हम करन लगी । उस धुन ने कहा—चलो हम कोई गान चले,
 धुन भीठे स्वर से गाया करता था । जुलहे की लड़की उससे
 खाने में कई धुनें पुनई का काम करते थे । उन में एक
 हलान—किसी और में एक जुलहा देता था । उसके कार-

(५) निरवि-अपवि किसी काम से हटना ।

मन्य माली संसार चक्र से हट जाते हैं ।

जन्म मरण के चक्र में पड़ रहे हैं । उनकी जिज्ञा मान कर
 जिज्ञा रहे हैं । जो उनकी जिज्ञा नहीं मानते वे अन्त काल तक
 पानी और अन्न के समान बराबर लोगो को उनसे पूरे रहने की
 इसी तरह दीपद्वार स्त्री लोग विषययोगों की विषयमिश्र

जो मान गए वे जीवित रहे, नहीं मरे गए ।

करने फल ही काम में जान चाहिए । इस घोषणा की मन कर
 वह हलान मर जायगा । ईर्ष्या बला पानी तथा खारे और
 न खारे । जो इस तरह के पानी या फल परोह काम में लायगा
 कोई भी साफ पानी न पवि । साथ ही भीठे फल आदि
 पर्व विष का अमर देता तो सनी सेना की शक्ति कर दिया कि
 वे उन पर भी विष का प्रयोग कर दिया । दूसरे राजा ने आकर
 भी परोह सब मन्त्र पदार्थों में तथा विन देवी के फल भीठे

विज वानने के लिए विजकारों को लगा दिया। वे सभी वहाँ आकर विज वानने लगे। एक विजकार की बेटी अपने पिता को भोजन देने के लिए आया करती थी। एक दिन जब वह भोजन लेकर जा रही थी, नगर का राजा घोड़े की दौड़ाते हुए राजमार्ग से निकला। लड़की डर कर भागी और किसी तरह नीचे आने से बची। वह भोजन लेकर पहुँची तो उसका पिता धार्मिक भाषा से निवृत्त होने के लिए चला गया। उसी समय लड़की ने पास पड़े हुए रंगों से फर्श पर मोर का पिच्छ (पंख) चित्रित कर दिया। राजा भी अकेला वहाँ पर डरकर उधर घूम रहा था। विज पूरा होने पर लड़की दूसरी बाल सोचने लगी। राजा ने पंख उठाने के लिए हाथ फैलाया। उसके तख भूमि से टकराए।

लड़की हंसने लगी और बोली—सन्दक तीन घों पर नही टिकता। मैं चूँया घों दूँ दूँ रही थी, डरने में तुम मिल गए। राजा ने पूछा—कैसे ?

लड़की बोली—मैं अपने पिता के लिए भोजन ला रही थी। उसी समय एक पुरुष राजमार्ग से घोड़े की दौड़ाते लो जा रहा था। उसको डरना भी ध्यान नहीं था कि कोई नीचे आकर मर जाए। भाग से मैं तो किसी तरह बच गई। वह पुरुष एक घों पर दूँया घों राजा है। उसने विजसभा विजकारों में बाँट रखी है। भयक कुट्टन में बहुत से विजकार हैं, लेकिन मेरा पिता अकेला है। उसे भी राजा ने उतारा ही बिस्सा सीप रखता है। बीसरा घों मेरे पिता है। राजकुल में विजसभा को चित्रित करते हुए उन्हींने पहिले जो कुछ कामया था वह तो पूरा हो गया। अब जो कुछ आहार में लड़े हैं। भोजन के समय वे धार्मिकिन्ता के लिए चले गए। अब यह भी ठहरे हो जायगा।

अथर्व-या वो अपनी प्रविष्टा परी करनी चाहिए या यदि मैं
हो प्राण दे देन चाहिए । कर्त्तव्य पुत्र्य की मायुषी आर्द्रभिषा की
पात्र कभी नहीं सहनी चाहिए । किसी महात्मा में और भी कहा है-
लज्जां गृह्णापन्ननी जननीमिव ॥५५॥

ब्रह्म सिद्धिपत्रम् । वनगीर्णवाऽऽ-
मयनमिदं देवमिव धर्माः ।

ॐ नमो भगवते वासुदेवाय

॥ ॐ नमो भगवते वासुदेवाय ॥

अथावे-माता की तरह गुणों को पेट करने वाली, भूय
 तथा अत्यन्त मृदु हृदय वाली लज्जा को प्रचलन के लिए वेज्जनी
 प्रत्यह देसते देसते मुख पूर्वक प्राणों को छोड़ देते हैं। सत्य
 पालन करने में यह प्रिय अपनी प्रतिष्ठा को नहीं छोड़ते।

एक न गाय का मलय समझ। यह मैं लखत हूँ, कुछ
 समझाने तथा प्रसिद्ध घोड़ा मैं हूँ करने लगे उसी समय किसी
 न ऊपर की गाय दूरी बढ़ी-मुँह से गाने हुए आए लगे
 घोषा नही देते। घोड़ा लगे गलिय लौट आए। घोड़े से ना पर
 देते परे। उसक पूर उखड़ गए। घोड़ा ने उन पर घोड़ाओं
 को सम्मान दिया। सभी लोग उनकी घोषा को गान करने लगे।
 गाय का माधव समझने के बाद उसे गान आया-संयम भी
 एक प्रकार का यह है। यदि मैं इससे मार्ग गा तो सारा
 लोग अर्धलगा करेगा। यह लौट आया। अलोचना तथा प्रति-
 कसण के बाद यह आवाज़ की इच्छासिमा चलने लगा।
 (६) निन्दा-आदिमा की घोषी से पूर्वक अशुभ कामों की
 बुरा समझना निन्दा है। निन्दा के लिए दण्डना-

किन्तु नगर में एक राजा रहता था। एक दिन उस के भानु
में आया भानी राजाओं के यहाँ विजयान्ता है भूरे पास
गई है। उसने एक बहिन यहाँ विजयान्ता भवन बनवाया और

कहीं चुप न ले। उसने उन रत्नों को एक घड़े में बन्द करके उसे दूसरी पर भरोसा नहीं था। दूसरी पर भरोसा नहीं था। किसी जगह दो सौते रहती थी। एक के पास बहुत से रत्न थे।

फिर कहने पर दूसरी कहानी शुरू की—

उस चोर को चौधिया बुला आता था, इसीसे मालूम पड़ गया। दासी के पूछने पर उसी तरह दूसरे दिन उसने जवाब दिया यह चौथा दिन है। बताओ उसे कैसे मालूम पड़ा ?

उन्हें पूछा गया—तुम्हें कैसे हुए किन्तु दिन हो गए ? एक बोला उसे देख लिया। निकाल कर बोला तो आदिमियों को देखा।

पेटी समुद्र में डूब उधर दौरती रही। एक दिन किसी कुम्भ ने उन्हें पेटी में बन्द करके समुद्र में फेंक दिया। कुछ दिन तो

लगी—एक राजा के पास दो चोर पकड़ कर लाये गए। उसने दासी ने और कहानी सुनाने के लिए कहा। रानी कहने

आती थी। रात को नहीं देखने से मालूम पड़ गया।

दासी के पूछने पर रानी ने उत्तर दिया, उस सुनार को रानी के कल बताऊंगी। तीसरे दिन भी राजा सुनने के लिए आया।

था। दासी के पूछने पर उसने कहा आज तो नींद आती है। मालूम पड़ा ? उसे तो घरन चाँद कुछ भी देखने को नहीं मिलता

समय है ? दूसरे ने कहा रात है। बताओ ! उसे किस तरह निकलने की इजाजत नहीं थी। उन में से एक ने पूछा—क्या

रत्नों के उजाले में वेधर पड़ा करते थे। उन्हें वहाँ से बाहर वह बोली—एक राजा के बलघर में कुछ सुनार मल्लि और

दासी ने दूसरी कहानी सुनाने के लिए कहा—

जिसने खाना पीना छोड़ दिया था उसी को दो बानी चाहिए। वह तो पित्त है। जो माथ में जलने को तैयार हुआ वह मरि है।

आया। दासी के पूछने पर रानी ने कहा—जिसने उसे जीवित किया

कड़नी के कड़िल से देते दिन भी राजा उठी राजी के भले
 साथ ही चलाने। यह बोली। आज तो फिर आ रही है, कल कहेंगी।
 एक ही कच्चा ही या तीन को ही जा सकता है ? दासी ने कहा
 फिर तीन में मध्य खड़ा हुआ कि लड़की किस दी जाए ? क्या
 मंजूर मन मध्य किता और लड़की को जीवित कर दिया।
 करने लगा। दीखे न देखा, की आराधना की और उस से
 में से एक उठी के साथ खलन की वधवा हुआ। दूसरी अनजान
 उठी राज में लड़की को साथ ने कहा राजा और वह मर गई। वही
 दीख के साथ मर गई। वे तीन जिवा करने के लिए आए।
 ने समस्त स्त्रीका कर लिया। दूसरे के साथ राजा ने और
 में से एक को भी खराब नहीं दे सकते थे। उनमें से एक के साथ राजा
 लिए तीन पर एक साथ आए। लड़की के मां पाप इन तीन
 सुनाओ। यह सुनाने लगी—एक लड़की थी। उस करने के
 राजा। जब तक राजाजी की भीड़ आए जब तक कोई कड़नी
 दासी ने पूछा ही किया। राजा जब सोने लगा तो उसने कहा
 सोने के लिए आए तो तुम मुझ से कड़नी सुनाने के लिए कहना।
 लड़की ने दासी को पहिले ही सिखा दिया। जब राजा
 उस लड़की का जिवा दे गया।
 कैसे करते ? राजा ने उसका पर धन से भर दिया। राजा और
 कड़नी गया। उदर खराब दिया, इस मर गई। राजा का सकार
 राजा ने लड़की से आदती करने के लिए उसके मां पाप को
 राजा खला गया। पिता के नाम से पर वह लड़की भी चली गई।
 आली से तो देखा जाता है। यह बोली—वास्तव में मैं मर गई हूँ।
 पिछ कहें से आया ? यदि कोई ल भी आया हो तो भी पहिले
 यह बोली—है एक आदमी सोच सकता है, यही भी का
 राजा बोला—मैं चाँचा पर कैसे है ?

उसके ऊपर पिता के आकार लक्षित्यां जुना दी गई। जब उनमें आग लगाई गई वे दोनों सुरङ्ग के रास्ते बाहर निकल गए। ज्योतिषी के साथ राजकुमारी को विवाह हो गया।

फिर दूसरी कथा शुरू की—

जब राहुत किसी अभिनेत्री ने नाटक में जाते हुए कहे भागे।

किसी ने कुछ रुपये रख कर किराए पर दे दिए। अभिनेत्री की

लड़की ने उन्हें पहिन लिया। नाटक समाप्त हो जाने पर भी

वापिस नहीं लौटाया। मालिकों ने कहाँ को वापिस भागा।

भागते भागते कई साल बीत गए। इतने में लड़की बड़ी हो गई।

कई रुपये से निकल न सके, अभिनेत्री ने मालिकों को कहा—

कुछ रुपये और ले लो और इन्हें छोड़ दो। वे न माने। तो क्या

लड़की के रुपये काट दिए ? उसने कहा—अच्छा। मैं इसी तरह

के रुपये कहे बनवा कर ला देती हूँ। मालिक फिर भी न माने।

उन्होंने कहा वे ही कहे लाओ। कहे वापिस कैसे लौटाए जाए ?

लिससे लड़की के रुपये न, कटें। मालिकों को क्या उत्तर दिया

जाय ? दूसरे दिन उसने बताया, मालिकों से कहा जाय कि

वे ही रुपये वापिस लौटा दो तो वे ही कहे मिल जाएंगे। न

तो वे ही रुपये वापिस लौटा सकेंगे न वे ही कहे दिए जाएंगे।

इस तरह लड़की के रुपये बच जाएंगे और मालिकों को उत्तर

भी मिल जाएगा।

इस प्रकार की कहानियाँ कहते कहते उसे छः महीने बीत

गए। छः महीने तक बराबर राजा उसी के महल में आता रहा।

दूसरी रातियाँ उसके छिद्र दूँटा करती थीं।

वह चित्रकार की लड़की अकेली एक कमरे में घुस कर

बावहरात और बहुमूल्य वस्तुओं को सामने रख कर स्वतः अपनी

आत्मा की निन्दा करती थी। वह अपने आप को कहती—

देसी न चली । लड़की ने पिता के पीछे एक मुट्ठा खड़ा है ।
 अभी नहीं मरती । उसने अभी मैं प्रवेश करने का लिया ।
 लिंग कि राजकुमारी की आज्ञा अभी जाती है । इसलिये वह
 देसी दिन बराबर-उपनिषद् में उपनिषद् बराबर वह जान
 उसका सारा काम अधिपत्य करने, लड़की किसे दी जायगी ?
 मैं पूछता, मैं उसी की ही जानगी ।
 यही बात है तो मैं अभी मैं प्रवेश करती हूँ । जो मैं साथ आता
 राजकुमारी ने कहा-मैं चार के साथ कैसे विवाह करे ? अगर
 कर दिया । चारों उस घर से आए । राजा ने चारों को देदी ।
 का फिर काट डाला । प्रथम ने संजीवनी आपस में उसे जीवित
 महसूसीदा ने उसे मार डाला । विवाह ने मार मार लड़की
 किया । चारों उस घर में बैठ कर खाना शुरू । विवाह आया ।
 की गई है । रथकार ने आकाश में उड़ने लगा । एक रथ ने चार
 वह उसी की ही जानगी । उपनिषद् ने बरा दिया, इस दिया
 ने परत किया जाया । राजा ने कहा-जो कन्या की से आया
 कन्या थी । उसे कोई विवाह उठा जाया । किसी की मालूम
 का, महसूसीदा और प्रथम । उस राजा की एक बहुत सुन्दर
 एक राजा था, उसके पास चार सुणी पुत्र-उपनिषद्, प्रथम-
 देसी कहानी शुरू की—

पर गया कि वह निकल लिए गए हैं ।

देसी दिन बराबर कि परत काव का था । उपनिषद् मालूम
 परत ली । देन पर भी वह कैसे मालूम परत ?
 की यह मालूम हो गया कि उसके लगे हुए लिए गए हैं । बराबर !
 उसने वह निकल कर उसी तरह परत की लीव दिया । परतली
 आती जाती हुई परत देव तक । देसी की परत लगे गया ।
 उपर में मुँह की लीव दिया और देसी जाह वह दिया चली

की ओर खड़ा हूँ। किसी के दरवाजे पर भीख मांगने जाती
 थी। वही वह अपने किए पर पछताने लगी। आत्मनिन्द
 वह पति की मारने वाली बूझती है।
 लगी। सभी लोग उस की दीलना करने लगे और कहने लगे कि
 भूख मिटाने की भी कुछ नहीं मिली। ऊपर से खान टपकने
 पड़ी उसके सिर पर ही रह गई। वह जंगल में घूमने लगी।
 स्वस्थित कर दिया अपनी पड़ी की सिर से बिछा दिया।
 पड़ी की नीचे उठार रही थी, उसी समय एक व्यन्तर देवी ने
 एक पड़ी में फन्द कर के जंगल में छोड़ने वाली गई। जब वह
 घन जंगल में। यह सोचकर उसने अपने पति की मार बलि और
 लगी, अगर इस अत्यापक की मार बलि तो यह छान भरी पति
 छान बोला-मुझी के सामने मैं कैसे ठहर सकूँगी। वह सोचने
 वह उसी के पीछे पड़ गई और कहने लगी, मुझ से ये मैं करी।
 बोली-क्या करूँ ? जब तुम्हारे पीछे पड़ने पर
 उठाने के बुरे रास्ते और आँखें बंदना भी जानती हो। वह
 कोआ से बचती हो, रात को नभटा, पार करती हो। पानी में
 उसी लटक के की बारी थी। वह एक गाँव में बोला-दिन को
 आया। दूसरे दिन आँखों में बलि करने लगी। रोज़ के लिए
 लगा गया है ? वह छान यह सब जान कर चुपचाप लौट
 ने छोड़ दिया। वह फिर बोली-क्या किसी खराब किनारे पर
 आँखों में बोली-मार की आँखें बंद कर दो। ऐसा करने पर मार
 बोरी में से एक को मारने परकट लिया। वह चिल्लाने लगी।
 भी बौरते हुए नहीं पार कर रहे थे। उन्होंने उसे परकट लिया।
 निरती हुई नहीं पार कर जालि के पास जा रही थी। कुछ चोर
 उसके साथ अचिंचित सम्बन्ध था। एक दिन रात्रि में वह पड़े से
 नभटा नहीं के दूसरे गेट पर एक जाला रहता था आँखों की

साधु के लिए तो ये आठ चीजें करना चाहिए। ये चीजें हैं—
 विशेषकर से रचना चाहिए। या चीजें धारण कर लेना चाहिए
 धारण को छोड़ देना चाहिए या उस समय धारण का स्थान
 भूत से अलग करना निकल जाना है। इसलिए इन आठों
 चीजें लिखें आठ कारण उपस्थित हो जाने पर मनुष्य के

५८२—आठ चीजों के आठ कारण

(आठ = ३. ३. ३. ३. ३. ३. ३. ३.)

- (२) धूल के योग्य अर्थात् फिर से महात्मा होने के योग्य।
- (३) तप के योग्य (७) दीक्षा पर्याप्त का छोड़ करने के योग्य
- अष्टादश भक्त धारण परित्याग योग्य (५) कायान्तर्गत के योग्य
- आलोचना और प्रतिक्रिया दोनों के योग्य (४) विवेक—
- (१) आलोचना के योग्य (२) प्रतिक्रिया के योग्य (३)

प्रतिष्ठा करने के आठ भूत हैं—

लिखें तो आलोचना तपस्या आदि शास्त्र में वर्णित नहीं हैं, उसे
 समादरणीय किसी शोध के लिए जाने पर उसे पूरे करने के

५८३—प्रार्थना और आठ

कुमारों में लगाना। (अध्यात्मसूत्र २०७ या १२०७ से १२०८)

- (२) योगाद्विधियाँ—भक्त, वचन और कर्म के योगों को
 उद्यम रहित।

- (७) धर्म में अनार्य-कैवली प्रणीत धर्म का पालन करने में
- (३) स्वतंत्रता—धूल जाने का स्वभाव।

- (५) धर्म—अर्थात्।
- (४) योग—किसी वस्तु से स्नेह।

- (३) निश्चयानुसार—विधित धारण।
- प्रकार का भूत है।

- (२) भूतप्रकार—यह बात इस प्रकार है या दूसरी तरह इस

हो जाय उसे प्रसन्न कर दे । इससे आठ प्रश्न हैं—
विषयक कारण जो भी प्रश्नार्थ के प्रति लिखित प्रयत्नवाला

५८०-प्रश्न-आठ

(इतिमर्थी प्रश्नप्रश्न अ. ४ नि. ग. १२३३-१२४२)

हो करने चाहिये ।

है । इसी तरह आत्मनिन्द्या रूपी आगद से अविचार के भी विषय
अथवा विषय तरह आगद अथवा देवार्थ से विषय यह हो जाय
प्राप्त प्राप्ति की आलोचना कर लेनी चाहिये । यही भावस्थिति है ।
साथ ही भी काल का उत्पन्न विना किम आचार्य के
कर ही । यह स्थिति है ।

राजा के पदों पर उठने वाली बात सज्जन पुरुष का साक
वर्षों की बात से योग्य । सुख राजा के प्राप्त कथने लाया ।
जाना दिया । वे दोनों घर पर आते ही योगी से बहुत फटकारा ।
के पास वह बख देखा, देखकर उस पर पान के पीक का दान
अपमर्शपूर्ण वृत्ति पर उठ कर धर्म रहे थे । उन्होंने योगी की विचार
विचारों को पहचानने के लिये दे दिया । चान्दनी रात में श्रद्धाक आर
कर्मिणी महोत्सव आया । योगी से वह बख का जोड़ा अपनी दोनों
वर्षों का एक जोड़ा घान के लिये योगी को दिया । उन्हें दिनों
राजप्रद नगर में श्रद्धाक नाम का राजा था । उसने योगी
(२) श्रद्धा-वपुष्पा आदि से प्राप्त कर्मों को भी जानना श्रद्धा है ।

निन्द्या करने से प्राप्तकर्म होने पर वह जाते हैं ।
पटी फिर गई । उसने देखा वे ही । इसी तरह अपने दृष्टान्त की
हो गया । एक दिन सावित्री को नमस्कार करते समय फिर से
बहुत समय बीत गया । आत्मनिन्द्या से उसका प्राप्त हुआ
वां करवी-मां । प्रति मासने वाली की भीव हो । इस प्रकार

(७) सत्यग्रह । हमेशा सत्य बात को स्वीकार करने के लिए तैयार रहना चाहिए ।
(८) सहिष्णुता-सहनशील और धैर्य बाला होना चाहिए ।
कोधी नहीं होती होना चाहिए । (अनन्तरपत्र अध्याय ११ पा० ३-६)

५८५-उपदेश के पौन्य और शौच
आप्त तथा धर्म को अच्छी तरह जानने वाला मुनि साधु, आवश्यक तथा सर्वसमाधायी को इन आठ बातों का उपदेश दे-
(१) आग्नि-अहिंसा अर्थात् किसी जीव को कष्ट पहुँचाने की इच्छा न करना ।
(२) विरति-पाँच महाव्रतों का पालन करना ।
(३) उपशम-कषादि कष्टों से तपस्या का पालन करना ।
आप्त करना । इसमें सभी उत्तर गुण और उत्तर गुणों के पालन से इस लोक और परलोक में होनेवाले सुखों को वशाना ।
(४) निर्वृति-निर्वाण । मुल गुण और उत्तर गुणों के पालन से इस लोक और परलोक में होनेवाले सुखों को वशाना ।
(५) शौच-मन, वचन और कर्मा का पालन करना ।
(६) आर्द्रव-सज्जता । साया और कष्ट का त्याग करना ।
(७) मार्द्रव-स्वभाव में कोमलता । मान और दुराग्रह (हठ) का त्याग करना ।

(८) जपन-आनन्द और बाह्य परिग्रह का त्याग करके लव अर्थात् हलका हो जाना । (अनन्तरपत्र अध्याय १२ पा० १३-१४)

५८६-एकलविहारे प्रतिमा के उपाय स्थान
विनयक प्रतिमा या मासिकी प्रतिमा आदि अस्वीकार करने चाहिए । समग्र और भद्रा तथा वासि आदि में हठ साधु होना चाहिए ।
साधु के अकेले निवृत्त रूप अस्वीकार को एकलविहारे प्रतिमा कहते हैं ।

(७) सत्यग्रह । इसीभा सत्य बात को स्वीकार करने के लिए तैयार रहना चाहिए ।

(८) सहिष्णुता-सहनशील और धैर्य बाला होना चाहिए ।

कोधी नहीं होना चाहिए । (उत्तराखण्ड अध्याय ११ भा० ३-६)

५८५-उपदेयों के योग्य आठ बातें

शालि तथा धर्म को अच्छी तरह जानने वाला मुनि साधु, आवश्यक तथा सर्वसामान्य को इन आठ बातों का उपदेय दे-

(१) शान्ति-अहिंसा अर्थात् किसी जीव को कष्ट पहुँचाने की इच्छा न करना ।

(२) विरति-पाँच महाव्रतों का पालन करना ।

(३) उपयम-कोषादि कथनों तथा नोकधरों पर विजय प्राप्त करना । इसमें सभी उत्तर गुण आजाते हैं ।

(४) निवृत्ति-निर्वाण । मूल गुण और उत्तर गुणों के पालन से इस लोक और परलोक में होनेवाले सुखों को भगना ।

(५) शौच-भोजन, वस्त्र और कणों को पाप से मजिन न होने देना और दीप रहित श्रद्धा व्रतों का पालन करना ।

(६) आर्जव-सरलता । माया और कपट का त्याग करना ।

(७) मर्दव-स्वभाव में कोमलता । मान और दुःखद (८)

(९) अथव-आश्चर्य और बाह्य परिग्रह को नष्ट करने का त्याग करना ।

लक्ष अर्थात् हल्का हो जाना । (आचार्यसंख्येय २६)

५८६-एकलविंशति प्रतिभा के आठ स्थान

विनयकर्म प्रतिभा या भाषिकी प्रतिभा आदि

साधु के अनेके विवरण रूप अभिप्राय को

कहते हैं । सप्तम और अष्टम तथा चाण्डिका

तब को संकेत कर लेना चाहिए । उसके लिए श्राव में आठ तब के संकेत बताए गये हैं । पारिषी आदि के बाद उनमें से किसी संकेत को मान कर पञ्चखण्ड किया जा सकता है । ये ये हैं—

(१) अंगुष्ठ—जब तक मैं अंगुठ को यहाँ से नहीं हटाऊँगा तब तक अंगुनाद नहीं करूँगा । इस प्रकार संकेत करना अंगुष्ठसंकेत पञ्चखण्ड है । आज कल इस प्रकार का संकेत अंगुठी में भी किया जाता है अर्थात् यह निश्चय कर लिया जाता है कि अंगुष्ठ की अंगुली में जब तक अंगुठी पहिने रहूँगा तब तक मैं पञ्चखण्ड है । यह पञ्चखण्ड कर लेने पर जब तक अंगुठी अंगुली में रहती है तब तक पञ्चखण्ड निगना जाता है ।

(२) मुट्ठी—मुट्ठी बन्द करके यह निश्चय करे कि जब तक मुट्ठी नहीं खोलूँगा तब तक पञ्चखण्ड है ।

(३) ग्रन्थि—कपड़े बँधते में गाँठ लगा कर यह निश्चय करे कि जब तक गाँठ नहीं खोलूँ तब तक पञ्चखण्ड है ।

(४) गूँद—जब तक घर में प्रवेश नहीं करूँगा तब तक त्याग है ।

(५) स्त्रोद—जब तक पर्यान्ना नहीं खखेगा तब तक पञ्चखण्ड है ।

(६) उच्छ्वास—जब तक डरने सांस नहीं आएँगे तब तक त्याग है ।

(७) स्तिवक—पानी रखने के स्थान पर पड़ी हुई वृद्धे जब तक खल न जाएँगी, अथवा जब तक आस की वृद्धे नहीं खखेगी तब तक पञ्चखण्ड है ।

(८) दीपक—जब तक दीपक जलता रहेगा तब तक त्याग है ।

यद्यपि इस तब के संकेत अनेक हो सकते हैं । फिर भी योक्ता बताने के लिए मुख्य आठ बताए गए हैं ।

(हरिमन्दिरवाचस्पक अ० ६ नि० गा० १५५८) (प्र० सा० हर० ४ गा० २००)

५१०—कर्म आठ

सिद्धान्त, अतिरिक्त, प्रसाद, कथन और योग के निमित्त

होने का निश्चय होता है। इस प्रकार कर्मों की पूर्वाभावा सिद्ध है।
 यदि कर्म अर्थात् माने जाय तो वे आकाश जैसे होते। आकाश
 से जैसे उपवास और अजुह नही होता, उसी प्रकार कर्म से
 भी उपवास और अजुह न हो सकना। पर चूंकि कर्मों से होने
 वाला उपवास, अजुह अत्यन्त दिखाने देता है। इसलिये वे भूत होते।
 कर्म की व्याख्या में यह बताया गया है कि कर्म और आत्मा
 इस प्रकार एक हो जाते हैं जिस प्रकार दूध और पानी तथा
 आग और लोहादि। पर गोष्ठमाहिल नामक सातवें निहव
 इस प्रकार नहीं मानते। उनके मतानुसार कर्म आत्मा के साथ
 बंध कर चौर-चौर की तरह एक रूप नहीं होते किन्तु साथ ही कञ्चुकी
 (कांचली) की तरह जीव से स्पष्ट रहते हैं। इस मत की मान्यता एवं
 इसका खण्डन इसके द्वितीय भाग के बोल नम्बर ५६९ निहव
 प्रकाश में दिया गया है। (विश्वो. भा. १६१५-२०)
 जीव और कर्म का सम्बन्ध—अब यह प्रश्न होता है कि
 जीव अर्थात् और कर्म भूत हैं। उनका आपस में सम्बन्ध कैसे
 हो सकता है? इसका उत्तर इस प्रकार है—जैसे भूत घट का
 अर्थात् आकाश के साथ सम्बन्ध होता है अथवा अंगुली आदि
 द्रव्य का जैसे आकुंचन (संकुचित करना) आदि क्रिया के साथ
 सम्बन्ध होता है, उसी प्रकार जीव और कर्म का भी सम्बन्ध
 होता है। जीव और बाह्य शरीर का सम्बन्ध तो प्रत्यक्ष दिखाने
 देता है। इस प्रकार अर्थात् जीव के साथ भूत कर्म का सम्बन्ध
 होने में कोई भी शंका नहीं है। (विश्वो. भा. १६३५ से ३६)
 भूत कर्म का अर्थात् आत्मा पर प्रभाव—यह प्रश्न होता है
 कि आत्मा अर्थात् और कर्म भूत हैं भूत बाह्य और अन्त
 का जिस प्रकार अर्थात् आकाश पर कोई प्रभाव नहीं होता उसी
 प्रकार भूत कर्म का भी आत्मा पर कोई प्रभाव नहीं होता चाहे।

है, जैसे ज्ञान का कारण आत्मा । इस पर यह गूढ़ हो सकती है कि जिस प्रकार योगिनिदि कर्म के कर्तृ हैं उसी प्रकार सुख दुःखोंदि भी कर्म के ही कर्तृ हैं । इसलिये सर्व कारण से पूर्व कर्तृ होता है और अमूर्त कारण से अमूर्त कर्तृ होता है यह नियम सिद्ध नहीं होता । इसका समर्थान यह है कि सुख दुःख आदि आत्मा के धर्म हैं और आत्मा ही उनका समर्थान (उत्पत्ति) कारण है । कर्म तो सुख दुःख से निमित्त कारण रूप है । इस लिये एक नियम में कोई बाधा नहीं आती । कर्म को पूर्व सिद्ध करने के लिये और भी कुछ दिने जाते हैं । वे इस प्रकार हैं—

कर्म पूर्व है क्योंकि उनका समर्थान होने पर सुख दुःखोंदि का ज्ञान होता है, जैसे आयुनिदि आहार । कर्म पूर्व है क्योंकि उनका समर्थान होने पर भोगोंदि होते हैं जैसे आग । कर्म पूर्व है क्योंकि आत्मा और उसके ज्ञानोंदि धर्मा से व्यतिरिक्त होते हैं, यही वह बाल भाला, चन्दन आदि से बल अर्थात् बलि रूप भी वह बाल भाला, चन्दन आदि से बल अर्थात् बलि पाता है, जैसे वल से चढ़ा मनचल होता है । कर्म पूर्व है, क्योंकि आत्मा से निम्न होते हुए भी वृत्त-परिणामादि हैं जैसे देव । कर्म के कर्तृ योगिनिदि परिणामादि होते हैं ऐसे कर्म के परिणामा

की जाती है । जो किण्वण सत्त्वन द्वारा की जाती है वे अक्षय्य फलवती होती हैं जैसे खेती आदि । दानादि किण्वण भी सत्त्वन द्वारा की जाने से फलवती है । इस प्रकार दानादि किण्वणों का फलवती होना सिद्ध होता है । दानादि किण्वण का फल कर्म के आतिरिक्त दूसरा नहीं हो सकता । (विश्व० मा० १६११-१७)

कर्म की पूर्वता—जैन दर्शन में कर्म प्रधानतया माना गया है इसलिये यह पूर्व है । कर्म के कर्तृ योगिनिदि के पूर्व होने से यह

प्रत्यय सादि सान्, अनादि सान् आदि
 । भावती शतक ३ उ० ३ में बताया है
 । कर्मसन्तति अनादि है पर सव जीवों
 प्राना चाहिये कि आत्मा सर्वथा कर्म से
 प्रकार संसार का कर्म चलाता रहता है ।
 और राम द्वेष की परिणति से निरप नये
 । हुए कर्म भी अपना फल देकर आत्मा
 निर उरके उपाय-रक्त प्रकार के शीर-
 रतथा भीमका) (जगन्नाथ १ स० ६६)

। के वन्द-हेतु मिथ्यात्व से निर नही
 धा की कर्मवन्द की कारण बतलाया गया
 , योग दर्शन में प्रकति प्रत्यय के अमोद बोल
 कोई अमोद नहीं है । नैवायिक वैयक्तिक
 वन्द के जो हेतु बताये हैं, उनमें अमोद

प्राना पाता जाता है जिससे कर्म वन्द
 । द्वेष की कमी के साथ अज्ञानता घटती
 ता है । इससे तीव्र होने से उत्कट कर्मा
 है । इस प्रकार राम द्वेष की निवधता
 च कि ये कर्मा रूप हैं इसलिये कर्मा
 भी यह सिद्ध होता है कि राम द्वेष से
 । द्वेष के दो भेद हैं-कोष और मान
 बंधते हैं-राम और द्वेष । राम के दो
 । स्थानों बज में भी बताया है कि
 प्राना से बिदे हुए, बज में जगत् कर्म-
 ता है । उसी प्रकार राम द्वेष परिणामी

[illegible]

उसके शरीर में विषक जाती है। उसी प्रकार राजा द्वेप परिणामी से परिणत जीव भी आत्मा से विभे हुए जेज में ज्वाप कर्म-पुद्गला को ग्रहण करता है। स्थानांग सब में भी वर्तमान है कि दो स्थानों से पापकर्म बंधते हैं-राज और द्वेप। राज के दो भेद हैं-माग और जोग। द्वेप के दो भेद हैं-क्रोध और मान (ठा० २ उ० २)। इससे भी यह सिद्ध होता है कि राज द्वेपसे कर्म बन्ध होता है और चूँकि ये कर्मात्त रूप हैं इसलिए कर्मात्त ही कर्मबन्ध के कारण हैं। इस प्रकार राज द्वेप की निराशता से ही कर्म का बन्ध होता है। इससे जीव होने से उत्कट कर्मा का बन्ध होता है। राज द्वेपकी कर्मा के साथ अज्ञानता घटती जाती है और ज्ञान विकास पाता जाता है जिससे कर्म बन्ध भी तीव्र नहीं होता।

अन्य दर्शनों में कर्म बन्ध के जो हेतु बताये हैं, उनमें शब्दभेद होने पर भी वास्तव में कोई अर्थभेद नहीं है। नैर्वाणिक वैशेषिक दर्शन में मिथ्याज्ञान की, योग दर्शन में प्रकृति प्रत्यय के असद्व ज्ञान की और वेदान्त में अधिष्ठा की कर्मबन्ध का कारण बतलाया गया है। सभी जैन दर्शन के बन्ध-हेतु मिथ्यात्व से भिन्न नहीं हैं। (कर्म० भा० १ पा० १ तथा भूमिका) (उत्पत्ति १ सू० ६६)

कर्म से छुटकारा और उसके उपपन्न-उक्त प्रकार के जीव-जीव की तरह जीवित्व हुए कर्म भी अपना फल देकर आत्मा से अलग हो जाते हैं और राज द्वेपकी परिणति से निरप बन्ध कर्म बंधते रहते हैं। इस प्रकार संसार का कर्म बन्धता रहता है। पर इससे यह नहीं समझना चाहिये कि आत्मा सर्वथा कर्म से मुक्त हो ही नहीं सकता। कर्मसन्तति अनादि है पर सब जीवों के लिये अनन्त नहीं है। भावनी शतक ६ उ० ३ में बताया है कि जीवों के कर्म का उपपन्न सादि सान्त, अनादि सान्त और

कन से कम आराम के साथ लगे हैं ? और उनके लगने का क्या आकस्मिक कारण था ? या तो कुछ स्त्रिय में स्थित आरामाश्रु के कम भूय के कारणों का संभव नहीं है ।

कम भूय के कारण—जैन दर्शन में भिन्नान्त, अविश्रुति, प्रमाद, कण्य और योग में पाँच कमभूय के कारण प्रचलित हैं । संशय में कदा जाय तो योग और कण्य कमभूय के कारण हैं । संशय के प्रकृति, स्थिति, अनुमान और प्रदेय से चार भेद-प्रचलित हैं । इनमें प्रकृति और प्रदेय भूय योगनिमित्तक हैं और स्थिति और अनुमान भूय कण्य निमित्तक हैं । उक्त चार भूयों का स्वरूप इसके प्रथम भाग बोल नं० २४७ में दिया गया है ।

वस्तुतः संस्कार न योग की भी शीघ्रता देकर कण्य की ही कमभूय का प्रथम कारण माना है । आठवें अध्याय में कहा है—

अथर्वि—कण्य सहित होने से जीव कम योग्य पुद्गलों की प्रत्यक्ष करता है । कण्य के भी क्रोध, मान, माया, लोभ आदि अनेक विकार हैं । इनका समावेश योग और द्वेष में हो जाता है । कोई भी मानसिक विकार हो वह योग द्वेष रूप होता है । यह भी अनुभव सिद्ध है कि साधारण प्राणिमा की प्रवृत्ति के मूल में योग या द्वेष रहते हैं । यही योग द्वेषरसक प्रवृत्ति मनुष्य को कम-जाना-द्वेष जाल में फँसाती है । इसी प्रकार जीव भी स्वकीय जाल में फँसाती है । जैसे मकड़ी अपनी ही प्रवृत्ति से अपने जाल में फँसाती है ।

योग, द्वेषरसक प्रवृत्ति से अपने को कम पुद्गलों के जाल में फँसा लेता है । योग द्वेष की शक्ति के साथ ज्ञान भी विपरीत होकर भिन्नान्त में परिवर्तित हो जाता है ।

कमभूय का प्रमाण करते-हुए एक स्थान पर प्रचलित है कि जिस प्रकार शरीर में वीरु लगाने पर कोई घालि में लगे वा

नादसंश्लिप्तस नाणं नालेण विष्णु न हंति चरणाणि ॥

अग्निसंश्लिप्तस नालिष मोक्षो नालिष अमोक्षसंश्लिप्तस निवृत्ति ॥

अर्थ-दशान (संयत्त) के विना ज्ञान नहीं होता और ज्ञान के विना चारित्र के गुण नहीं होते। चारित्र गुण रहित का कर्म से छुटकारा नहीं होता।

प्रमाणधर्माणां के रचयिता श्री हेमचन्द्रचार्य ने 'ज्ञान-

कियात्पा मोक्षः' कहकर ज्ञान और क्रिया की शक्ति का उपाय

बताया है। यहाँ ज्ञान में दर्शन का भी समावेश सम्भूत चाहे,

कथार्थिक दर्शनपूर्वक ही ज्ञान होता है। चारित्र में संवर और

निर्जरा का समावेश है। निर्जरा द्वारा आत्मा पूर्वकृत कर्मों का

व्यय करता है और संवर द्वारा ज्ञान बाले नये कर्मों को रोक

देता है। इस प्रकार तबान कर्मों के एक जाने से और धीरे २

गुणाने कर्मों के व्यय हो जाने पर जीव सर्वथा कर्म से मुक्त हो

जाता है और परमात्म भाव को प्राप्त करता है। कर्म से मुक्त श्रद्ध

आत्मस्वरूप की प्राप्त आत्मा ही वैतर्क्यन में ईश्वर माना गया

है। (विश्व. भा. १=१७-२१), (मग. भा. ३ व. ३ स-३३५), (स्य. भा. २३)

कर्म के आठ भेद—(१) ज्ञानावरणीय कर्म (२) दर्शनावरणीय

कर्म (३) वेदनीय कर्म (४) मोहनीय कर्म (५) अक्षि कर्म (६)

नाम कर्म (७) गीज कर्म और (८) अन्तराय कर्म।

(१) ज्ञानावरणीय कर्म—वस्तु के विशेष अवबोध को ज्ञान

कहेते हैं। आत्मा के ज्ञानगुण को आच्छादित करने वाला कर्म

ज्ञानावरणीय कहलाता है। जिस प्रकार आँख पर कपड़े की

पट्टी लपेटने से वस्तुओं के देखने में रुकावट पड़ती है। उसी

प्रकार ज्ञानावरणीय कर्म के प्रभाव से आत्मा को पदार्थ-ज्ञान

करने में रुकावट पड़ती है। यहाँ यह जान लेना चाहिये कि

ज्ञानावरणीय कर्म से ज्ञान आच्छादित होता है, पर यह कर्म आत्मा

न पचने में अर्जीर्ण हो गया। यहाँ आहार रूप पृद्गलों के परिणाम से अमानावेदनीय का उदय जानना चाहिये। इसी प्रकार मदिरापान में ज्ञानावरणीय का उदय होता है। स्वाभाविक पृद्गलपरिणाम जैसे शीत, उष्ण, घाम आदि में भी अमाना वेदनीयादि कर्म का उदय होता है।

पञ्चवगा सूत्र के २३ वें पद में ज्ञानावरणीय का दस प्रकार का जो अनुभाव बताया है वह स्वतः और परतः अर्थात् निस्पेक्ष और सापेक्ष दो तरह का होता है। पृद्गल और पृद्गलपरिणाम की अपेक्षा प्राण अनुभाव सापेक्ष है। कोई व्यक्ति किसी को चोट पहुँचाने के लिए एक या अनेक पृद्गल, जैसे पत्थर, डेला या शूरा फेंकता है। इसकी चोट में उसके उपयोग रूप ज्ञान परिगति का घात होता है। यहाँ पृद्गल की अपेक्षा ज्ञानावरणीय का उदय समझना चाहिए। एक व्यक्ति भोजन करता है, उसका परिणाम ममरूप प्रकार न होने में वह व्यक्ति दुःख का अनुभव करता है और दुःख की अधिकता में ज्ञानशक्ति पर घुरा असर होता है। यहाँ पृद्गलपरिणाम की अपेक्षा ज्ञानावरणीय का उदय है। शीत, उष्ण, घाम आदि स्वाभाविक पृद्गलपरिणाम में जीव की इन्द्रियों का घात होता है और उसमें ज्ञान का हनन होता है। यहाँ स्वाभाविक पृद्गलपरिणाम की अपेक्षा ज्ञानावरणीय का उदय जानना चाहिए। इस प्रकार पृद्गल, पृद्गलपरिणाम और स्वाभाविक पृद्गलपरिणाम की अपेक्षा ज्ञानशक्ति का घात होता है और जीव ज्ञानव्यय दम्बु का ज्ञान नहीं कर पाता। विषासोन्मुक्त ज्ञानावरणीय कर्म के उदय में, दाघ निदिश की अपेक्षा किये बिना ही, जीव ज्ञानव्यय दम्बु को नहीं जानता है, जानने की इच्छा करने हुए भी नहीं जान पाता है, एक बार जानकर भूत ज्ञान में दुःखी बार नहीं जानता है। यहाँ वह

कि वह आच्छादित ज्ञानशक्ति वाला हो जाता है। यह ज्ञानावरणीय का स्वतः निरपेक्ष अनुभाव है। (भग. श. = उ. ६ सू. ३५१), (पत्र. पं. २३ सू. २६२ से २६४), (तत्त्वार्थ. अ. ८), (कर्म. भा. १ गा. ६, ५४)।
(२) दर्शनावरणीय कर्म-वस्तु के सामान्य ज्ञान को दर्शन कहते हैं। आत्मा की दर्शन शक्ति को ढकने वाला कर्म दर्शनावरणीय कहलाता है। दर्शनावरणीय कर्म द्वारपाल के समान है। जैसे द्वारपाल राजा के दर्शन करने में रुकावट डालता है, उसी प्रकार दर्शनावरणीय कर्म पदार्थों को देखने में रुकावट डालता है अर्थात् आत्मा की दर्शन शक्ति को प्रकट नहीं होने देता।

दर्शनावरणीय कर्म के नव भेद हैं—(१) चक्षुदर्शनावरण (२) अचक्षुदर्शनावरण (३) अवधिदर्शनावरण (४) केवलदर्शनावरण (५) निद्रा (६) निद्रानिद्रा (७) प्रचला (८) प्रचलाप्रचला (९) स्त्यानगृद्धि। चार दर्शन की व्याख्या इसके प्रथम भाग बोल नं० १६६ में दे दी गई है। उनका आवरण करने वाले कर्म चक्षुदर्शनावरणीयादि कहलाते हैं। पाँच निद्रा का स्वरूप इसके प्रथम भाग बोल नं० ४१६ में दिया जा चुका है। चक्षुदर्शनावरण आदि चार दर्शनावरण मूल से ही दर्शन लब्धि का घात करते हैं और पाँच निद्रा प्राप्त दर्शन शक्ति का घात करती हैं। दर्शनावरणीय कर्म की स्थिति जघन्य अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट तीस कोड़ाकोड़ी सांगरोपम की है। दर्शनावरणीय कर्म बाँधने के छः कारण हैं। वे छः कारण इसके दूसरे भाग के छठे बोल संग्रह नं० ४४१ में दिये जा चुके हैं। उनके सिवाय दर्शनावरणीय कार्मण शरीर प्रयोग नामक कर्म के उदय से भी जीव दर्शनावरणीय कर्म बाँधता है। दर्शनावरणीय कर्म का अनुभाव नव प्रकार का है यिनव प्रकार उपरोक्त नौ भेद रूप ही हैं। दर्शनावरणीय कर्म का उक्त अनुभाव स्वतः और परतः दो प्रकार का होता है। मृदु शय्यादि एक या अनेक युद्धालों का निमित्त

न पचने से अजीर्ण हो गया। यहाँ आहार रूप पृद्गलों के परिमाण से अमानावेदनीय का उदय जानना चाहिये। इसी प्रकार मदिरापान से ज्ञानावरणीय का उदय होता है। स्वाभाविक पृद्गलपरिणाम जैसे शीत, उष्ण, घाम आदि में भी अमाना वेदनीयादि कर्म का उदय होता है।

पञ्चवक्ता सूत्र के २३ वें पद में ज्ञानावरणीय का दस प्रकार का जो अनुभाव बनाया है वह स्वतः और परतः अर्थात् निरपेक्ष और सापेक्ष दो तरह का होता है। पृद्गल और पृद्गलपरिणाम की अपेक्षा प्राप्त अनुभाव सापेक्ष है। वही व्यक्ति किसी को चोट पहुँचाने के लिए एक या अनेक पृद्गल, जैसे पत्थर, देला या शस्त्र फेंकता है। इसकी चोट में उसके उपयोग रूप ज्ञान परिणति का घात होता है। यहाँ पृद्गल की अपेक्षा ज्ञानावरणीय का उदय समझना चाहिये। एक व्यक्ति भोजन करता है, उसके परिणामन सम्पर्क प्रकार न होने में वह व्यक्ति दुःख का अनुभव करता है और दुःख की अधिरता में ज्ञानशक्ति पर घुरा असर होता है। यहाँ पृद्गलपरिणाम की अपेक्षा ज्ञानावरणीय का उदय है। शीत, उष्ण, घाम आदि स्वाभाविक पृद्गलपरिणाम में जीव की शक्तियों का घात होता है और उसमें ज्ञान का हनन होता है। यहाँ स्वाभाविक पृद्गलपरिणाम की अपेक्षा ज्ञानावरणीय का उदय जानना चाहिये। इस प्रकार पृद्गल, पृद्गलपरिणाम और स्वाभाविक पृद्गलपरिणाम की अपेक्षा ज्ञानशक्ति का घात होता है और जीव ज्ञातव्य वस्तु का ज्ञान नहीं कर पाता। विषाद्योन्मुक्त ज्ञानावरणीय कर्म के उदय में, बाध निमित्त की अपेक्षा किये बिना ही, जीव ज्ञातव्य वस्तु को नहीं जानता है, जानने की इच्छा समेत हुए भी नहीं जान पाता है, एक बार जानकर भूत जाने में दुर्गम बार नहीं जानता है। यहाँ वह

कि वह आच्छादित ज्ञानशक्ति वाला हो जाता है। यह ज्ञानावरणीय का स्वतः निरपेक्ष अनुभाव है। (भग. श. ८ व. ६ सू. ३५१), (पञ्च. प. २३ सू. २६२ से २६४), (तत्त्वार्थ. अ. ८), (कर्म. भा. १ गा. ६, ५४)
(२) दर्शनावरणीय कर्म—वस्तु के सामान्य ज्ञान को दर्शन कहते हैं। आत्मा की दर्शन शक्ति को ढकने वाला कर्म दर्शनावरणीय कहलाता है। दर्शनावरणीय कर्म द्वारपाल के समान है। जैसे द्वारपाल राजा के दर्शन करने में रुकावट डालता है, उसी प्रकार दर्शनावरणीय कर्म पदार्थों को देखने में रुकावट डालता है अर्थात् आत्मा की दर्शन शक्ति को प्रकट नहीं होने देता।

दर्शनावरणीय कर्म के नव भेद हैं—(१) चक्षुदर्शनावरण (२) अचक्षुदर्शनावरण (३) अर्वाधिदर्शनावरण (४) केवलदर्शनावरण (५) निद्रा (६) निद्रानिद्रा (७) प्रचला (८) प्रचलाप्रचला (९) स्त्यानगृद्धि। चार दर्शन की व्याख्या इसके प्रथम भाग बोल नं० १६६ में दे दी गई है। उनका आवरण करने वाले कर्म चक्षुदर्शनावरणीयादि कहलाते हैं। पाँच निद्रा का स्वरूप इसके प्रथम भाग बोल नं० ४१६ में दिया जा चुका है। चक्षुदर्शनावरण आदि चार दर्शनावरण मूल से ही दर्शन लब्धि का घात करते हैं और पाँच निद्रा प्राप्त दर्शन शक्ति का घात करती हैं। दर्शनावरणीय कर्म की स्थिति जघन्य अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट तीस कौड़ाकोड़ी सांगरोपम की है। दर्शनावरणीय कर्म बांधने के छः कारण हैं। वे छः कारण इसके दूसरे भाग के छठे बोल संग्रह नं० ४४१ में दिये जा चुके हैं। उनके सिवाय दर्शनावरणीय कार्मण्य शरीर प्रयोग नामक कर्म के उदय सभी जीव दर्शनावरणीय कर्म बाँधता है। दर्शनावरणीय कर्म का अनुभाव नव प्रकार का है चि नव प्रकार उपरोक्त नौ भेद रूप ही हैं। दर्शनावरणीय कर्म का उक्त अनुभाव स्वतः और परतः दो प्रकार का होता है। मृदु शय्यादि एक या अनेक युद्धगलों का निमित्त

न पचने में अर्जाग्न हो गया। यहाँ आहार रूप पुद्गलों के परिणाम से अस्मात्वेदनीय का उदय जानना चाहिये। इसी प्रकार मदिरापान में ज्ञानावरणीय का उदय होता है। स्वामाधिक पुद्गलपरिणाम जैसे शीत, उष्ण, घाम आदि में भी अस्मात् वेदनीयादि कर्म का उदय होता है।

पञ्चगणा सूत्र के २३ वें पद में ज्ञानावरणीय का दस प्रकार का जो अनुभाव बताया है वह स्वतः और परतः अर्थात् निरपेक्ष और सापेक्ष दो तरह का होता है। पुद्गल और पुद्गलपरिणाम की अपेक्षा प्राप्त अनुभाव सापेक्ष है। कोई व्यक्ति किसी को चोट पहुँचाने के लिए एक या अनेक पुद्गल, जैसे पत्थर, डेला या शस्त्र फेंकता है। इनकी चोट से उसके उपयोग रूप ज्ञान परिणाम का घात होता है। यहाँ पुद्गल की अपेक्षा ज्ञानावरणीय का उदय समझना चाहिए। एक व्यक्ति भोजन करता है, उसका परिणाम मम्यक् प्रकार न होने में वह व्यक्ति दुःख का अनुभव करता है और दुःख की अधिकता में ज्ञानशक्ति पर बुरा असर होता है। यहाँ पुद्गलपरिणाम की अपेक्षा ज्ञानावरणीय का उदय है। शीत, उष्ण, घाम आदि स्वामाधिक पुद्गलपरिणाम में जीव की शक्तियों का घात होता है और उसमें ज्ञान का हनन होता है। यहाँ स्वामाधिक पुद्गलपरिणाम की अपेक्षा ज्ञानावरणीय का उदय जानना चाहिए। इस प्रकार पुद्गल, पुद्गलपरिणाम और स्वामाधिक पुद्गलपरिणाम की अपेक्षा ज्ञानशक्ति का घात होता है और जीव ज्ञानव्यवस्तु का ज्ञान नहीं कर पाता। विपरीतानुगु ज्ञानावरणीय कर्म के उदय में, बाध निमित्त की अपेक्षा किये बिना ही, जीव ज्ञानव्यवस्तु को नहीं जानता है, जानने की इच्छा करने हुए भी नहीं जान पाता है, एक बार जानकर भूल जाने में दूसरी बार नहीं जानता है। यहाँ वह

कि वह आच्छादित ज्ञानशक्ति वाला हो जाता है। यह ज्ञानावरणीय का स्वतः निरपेक्ष अनुभाव है। (भग. श. = उ. ६ सू. ३५१), (पत्र. ५. २३ सू. २६२ से २६४), (तत्पार्ष. अ. ८), (कर्म. भा. १ गा. ६, ५४)

(२) दर्शनावरणीय कर्म-वस्तु के सामान्य ज्ञान को दर्शन कहते हैं। आत्मा की दर्शन शक्ति को ढकने वाला कर्म दर्शनावरणीय कहलाता है। दर्शनावरणीय कर्म द्वारपाल के समान है। जैसे द्वारपाल राजा के दर्शन करने में रुकावट डालता है, उसी प्रकार दर्शनावरणीय कर्म पदार्थों को देखने में रुकावट डालता है अर्थात् आत्मा की दर्शन शक्ति को प्रकट नहीं होने देता।

दर्शनावरणीय कर्म के नव भेद हैं—(१) चक्षुदर्शनावरण (२) अचक्षुदर्शनावरण (३) श्रवणदर्शनावरण (४) केवलदर्शनावरण (५) निद्रा (६) निद्रानिद्रा (७) प्रचला (८) प्रचलाप्रचला (९) स्त्यानगृद्धि। चार दर्शन की व्याख्या इसके प्रथम भाग बोल नं० १६६ में दे दी गई है। उनका आवरण करने वाले कर्म चक्षुदर्शनावरणीयादि कहलाते हैं। पाँच निद्रा का स्वरूप इसके प्रथम भाग बोल नं० ४१६ में दिया जा चुका है। चक्षुदर्शनावरण आदि चार दर्शनावरण मूल से ही दर्शन लब्धि का घात करते हैं और पाँच निद्रा प्राप्त दर्शन शक्ति का घात करती हैं। दर्शनावरणीय कर्म की स्थिति जघन्य अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट तीस कोड़ाकोड़ी सागरोपम की है। दर्शनावरणीय कर्म बाँधने के छः कारण हैं। वे छः कारण इसके दूसरे भाग के छठे बोल संग्रह नं० ४४१ में दिये जा चुके हैं। उनके सिवाय दर्शनावरणीय कार्मण शरीर प्रयोग नामक कर्म के उदय से भी जीव दर्शनावरणीय कर्म बाँधता है। दर्शनावरणीय कर्म का अनुभाव नव प्रकार का है। ये नव प्रकार उपरोक्त नौ भेद रूप ही हैं। दर्शनावरणीय कर्म का उक्त अनुभाव स्वतः और परतः दो प्रकार का होता है। मृदु शय्यादि एक या अनेक युद्गलों का निमित्त

पाकर जीव को निद्रा आती है। मँम के दही आदि का भोजन भी निद्रा का कारण है। इसी प्रकार श्वामाविक पुद्गल परिणाम, जैसे वर्षा काल में आकाश का बदलों में धिर जाना, वर्षा की झड़ी लगना आदि भी निद्रा के महायक हैं। इस प्रकार पुद्गल, पुद्गलपरिणाम और श्वामाविक पुद्गलपरिणाम का निमित्त पाकर जीव के निद्रा का उदय होता है और उसके दर्शनोपयोग का घात होता है, यह परतः अनुभाव हुआ। म्यतः अनुभाव इस प्रकार है। दर्शनावरणीय पुद्गलों के उदय में दर्शन शक्ति का उत्पन्न होता है और जीव दर्शन योग्य वस्तु को देख नहीं पाता, देखने की इच्छा रखने हुए भी नहीं देख सकता, एक बार देख कर वापिस भूल जाता है। यहाँ तक कि उसकी दर्शनशक्ति आन्ध्रादि हो जाती है अर्थात् दब जाती है। (कर्म. भा. १ भा. १०-१२, १४) (मग रा. = प. १ मू. ३४१), (पञ्च प. = ६ मू. = १२-१४)

(३) वेदनीय—जो अनुमत्त एवं प्रतिवृत्त विषयों में उत्पन्न सुख दुःख रूप में वेदन अर्थात् अनुभव किया जाय यह वेदनीय कर्म कहलाता है। जो नो गमी कर्मों का वेदन होता है पण्डु माता अमाता अर्थात् गुण दुःख का अनुभव कराने वाले कर्म निरोप में ही वेदनीय कहें, इसलिए इसमें अन्य कर्मों का घात नहीं होता। वेदनीय कर्म माता अमाता के भेद में दो प्रकार का है। गुण का अनुभव कराने वाला कर्म मातावेदनीय कहलाता है और दुःख का अनुभव कराने वाला कर्म अमातावेदनीय कहलाता है। यह कर्म मनुजिन तन्वार की घार का घाटने के समान है। तन्वार की घार पर मगे हुए गरुड के खाद के समान मातावेदनीय है और घार में जीम के घटने जैसा अमाता-वेदनीय है। वेदनीय कर्म की उपपन्न स्थिति बाह्य मूल की और उत्पद्य नीम काँड़ीकाँड़ी मातानेपम की है।

प्राण, भूत, जीव और सत्त्व पर अनुकम्पा की जाय, इन्हें दुःख न पहुँचाया जाय, इन्हें शोक न कराया जाय जिससे ये दीनता दिखाने लगे, इनका शरीर कृश हो जाय एवं इनकी आँखों से आँसू और मुँह से लार गिरने लगे, इन्हें लकड़ी आदि से ताड़ना न दी जाय तथा इनके शरीर को परिताप अर्थात् क्लेश न पहुँचाया जाय। ऐसा करने से जीव सातावेदनीय कर्म बाँधता है। सातावेदनीय कार्मण शरीर प्रयोग नामक कर्म के उदय से भी जीव सातावेदनीय कर्म बाँधता है।

इसके विपरीत यदि प्राण, भूत, जीव और सत्त्व पर अनुकम्पा भाव न रहे, इन्हें दुःख पहुँचावे, इन्हें इस प्रकार शोक करावे कि ये दीनता दिखाने लगे, इनका शरीर कृश हो जाय, आँखों से आँसू और मुँह से लार गिरने लगे, इन्हें लकड़ी आदि से मारे और इन्हें परिताप पहुँचावे तो जीव असातावेदनीय कर्म बाँधता है। असातावेदनीय कार्मण शरीर प्रयोग नामक कर्म के उदय से भी जीव असातावेदनीय कर्म बाँधता है।

सातावेदनीय कर्म का अनुभाव आठ प्रकार का है—मनोज्ञ शब्द, मनोज्ञ रूप, मनोज्ञ गन्ध, मनोज्ञ रस, मनोज्ञ स्पर्श, मनः सुखता अर्थात् स्वस्थ मन, सुखी वचन अर्थात् कानों को मधुर लगाने वाली और मन में आह्लाद (हर्ष) उत्पन्न करने वाली वाणी और सुखी काया (स्वस्थ एवं नीरोग शरीर)।

यह अनुभाव परतः होता है और स्वतःभी। माला, चन्दन आदि एक या अनेक पुद्गलों का भोगोपभोग कर जीव सुख का अनुभव करता है। देश, काल, वय और अवस्था के अनुरूप आहार परिणाम रूप पुद्गलों के परिणाम से भी जीव साता का अनुभव करता है इसी प्रकार स्वाभाविक पुद्गल परिणाम, जैसे वेदना के प्रतिकार रूप शीतोष्णादि का निमित्त पाकर जीव सुख का अनुभव करता है। इस प्रकार पुद्गल, पुद्गलपरिणाम और स्वाभाविक पुद्गल-

लपरिणाम का निमित्त पाकर होने वाला सुख का अनुभव साधव है। मनोज्ञ शब्दादि विषयों के बिना भी सातावेदनीय कर्म के उदय से जीव जो सुख का उपयोग करता है वह निरपेक्ष अनुभाव है। तीर्थ-ङ्कर के जन्मादि के समय होने वाला नारकी का सुख ऐसा ही है।
 असातावेदनीय कर्म का अनुभाव भी आठ प्रकार का है—
 (१) अमनोज्ञ शब्द (२) अमनोज्ञ रूप (३) अमनोज्ञ गन्ध (४) अमनोज्ञ रस (५) अमनोज्ञ स्पर्श (६) अस्वस्थ मन (७) अर्मय (अच्छी नहीं लगने वाली) बाणी और दुःखी काथा।

असातावेदनीय का अनुभाव भी परतः और स्थतः दोनों तरह का होता है। विष, शस्त्र, कण्टकादि का निमित्त पाकर जीव दुःख भोगता है। अपथ्य आहार रूप पुद्गलपरिणाम भी दुःखकारी होता है। अकाल में अनिष्ट शीतोष्णादि रूप स्वाभाविक पुद्गल-परिणाम का भोग करने हुए जीव के मन में असमाधि होती है और इससे वह असाता को वेदता है। यह परतः अनुभाव हुआ। असातावेदनीय कर्म के उदय में वास्तव निमित्तों के न होने हुए भी जीव के असाता का भोग होता है, यह स्थतः अनुभाव जानना चाहिये।
 (पञ्च. प. २३ सू. २१२-१४), (भग. श. = ५ सू. ३४१), (भग. श. ३. ६ सू. २-६), (कर्म. भा. १ भा. १३), (न. पार्थे अ. =)

(४) मोहनीयकर्म—जो कर्म आत्मा को मोहित करना है अर्थात् भले पुत्र के विवेक में शून्य बना देता है यह मोहनीय कर्म है। यह कर्म मन के मदग है। जैसे शराही मदिग पीकर मनो पुत्र का विवेक ग़ो देता है तथा परवश हो जाता है। उसी प्रकार मोहनीय कर्म के प्रभाव में जीव मन अमन के विवेक में गड़ित होकर परवश हो जाता है। इस कर्म के दो भेद हैं—दर्शनमोहनीय और चाग्निमोहनीय। दर्शनमोहनीय समझने का धाव करना है और चाग्निमोहनीय चाग्नि का। मिथ्यात्वमोहनीय, मिथ-

मोहनीय और सम्यक्त्वमोहनीय के भेद से दर्शनमोहनीय तीन प्रकार का है। इनका स्वरूप इसके प्रथम भाग चोल नं० ७७ में दिया जा चुका है।

शंका—सम्यक्त्वमोहनीय तो जिन प्रणीत तत्त्वों पर श्रद्धान्तात्मक सम्यक्त्व रूप से भोगा जाता है। यह दर्शन का घात तो नहीं करता, फिर इसे दर्शनमोहनीय के भेदों में क्यों गिना जाता है ?

समाधान—जैसे चश्मा आँखों का आचारक होने पर भी देखने में रुकावट नहीं डालता। उसी प्रकार शुद्ध दलित रूप होने से सम्यक्त्वमोहनीय भी तन्वार्थ श्रद्धान्त में रुकावट नहीं करता परन्तु चश्मे की तरह वह आचरण रूप तो है ही। इसके सिवाय सम्यक्त्वमोहनीय में अतिचारों का सम्भव है। औपशमिक और क्षायिक दर्शन (सम्यक्त्व) के लिए यह मोह रूप भी है। इसीलिये यह दर्शनमोहनीय के भेदों में दिया गया है।

चारित्र्यमोहनीय के दो भेद हैं—कषायमोहनीय और नो-कषायमोहनीय। क्रोध, मान, माया और लोभ ये चार कषाय हैं। अनन्तानुबन्धी, अग्रत्याख्यानाचरण, प्रत्याख्यानाचरण और संज्वलन के भेद से प्रत्येक चार चार तरह का है। कषाय के ये कुल १६ भेद हुए। इनका स्वरूप इसके प्रथम भाग के चोल नं० १५६ से १६२ तक दिया गया है। हास्य, रति, अरति, भय, शोक, जुगुप्सा, स्त्रीविद, पुरुष वेद और नक्षुनिक वेद ये नौ भेद नो-कषायमोहनीय के हैं। इनका स्वरूप नवें चोल में दिया जायगा। इस प्रकार मोहनीय कर्म के कुल मिलाकर २८ भेद होते हैं। मोहनीय की स्थिति ज्वन्य अन्तर्मुक्ति और उत्कृष्ट स्वरूप कोड़ाकोड़ी सागरापन की है।

मोहनीय कर्म छः प्रकार से बँटा है—तीव्र क्रोध, तीव्र मान, तीव्र माया, तीव्र लोभ, तीव्र दर्शनमोहनीय और तीव्र चक्षुःमोहनीय।

मोहनीय । यहाँ चारित्र्यमोहनीय से नोकपाय मोहनीय समझना चाहिये, क्योंकि तीव्र क्रोध, मान, माया, लोभ से कपाय मोहनीय लिया गया है । मोहनीय कर्मण शरीर प्रयोग नामक कर्म के उदय से भी जीव मोहनीय कर्म बांधता है ।

मोहनीय कर्म का अनुभाव पाँच प्रकार का है—सम्यक्त्व मोहनीय, मिथ्यात्वमोहनीय, सम्यक्त्व मिथ्यात्वमोहनीय, कपाय मोहनीय और नोकपायमोहनीय ।

यह अनुभाव पुद्गल और पुद्गलपरिणाम की अपेक्षा होता है तथा स्वतः भी होता है । शम मंदग आदि परिणाम के कारण-भूत एक या अनेक पुद्गलों को पाकर जीव ममाकितमोहनीयादि वेदता है । देश काल के अनुकूल आहार परिणाम रूप पुद्गल परिणाम से जीव प्रशमादि भाव का अनुभव करता है ।

आहार के परिणाम विशेष में भी कभी कभी कर्म पुद्गलों में विशेषता आजाती है । जैसे धात्री र्भाषादि आदि आहार परिणाम में प्राणायम्यीय का विशेष चयोपशम होना प्रसिद्ध ही है । कहा भी है—

उदय गय मञ्जोवममा दि य, जं च कम्मुणो मणिदा ।

द्व्यं गेत्तं कालं, भायं भयं च ममाप ॥ १ ॥

अर्थात्—कर्मों के उदय, चय और चयोपशम जो कहें गये हैं वे सभी द्वय, क्षेत्र, काल, भाव और भय पाकर होते हैं ।

बादलों के विकार आदि रूप स्वाभाविक पुद्गल परिणाम से भी वेगत्यादि हो जाते हैं । इस प्रकार शम, मंदग आदि परिणामों के कारण-भूत जो भी पुद्गलादि हैं, उनका निर्मित पाकर जीव सम्यक्त्वादि रूप से मोहनीय कर्म को मोहता है यह धनः अनुभाव हुआ । सम्यक्त्व मोहनीयादि कर्मण पुद्गलों के उदय में जो प्रशमादि भाव होते हैं वह स्वतः अनुभाव है । (म. ग. ८ प. १ म. ३/१), (१७. प. २३ म. २१-२४), (४मं अ. १ प. १३-२२) (नेहादे-अध्याय ८)

(५) आयुर्कर्म—जिस कर्म के रहते प्राणी जीता है तथा पूरा होने पर मरता है उसे आयुर्कर्म कहते हैं। अथवा जिस कर्म से जीव एक गति से दूसरी गति में जाता है वह आयु कर्म कहलाता है। अथवा स्वकृत कर्म से प्राप्त नरकादि दुर्गति से निकलना चाहते हुए भी जीव को जो उसी गति में रोके रखता है उसे आयु कर्म कहते हैं। अथवा जो कर्म प्रति समय भोगा जाय वह आयु कर्म है। या जिस के उदय आने पर भव विशेष में भोगने लायक सभी कर्म फल देने लगते हैं वह आयु कर्म है।

यह कर्म कारागार के समान है। जिस प्रकार राजाकी आज्ञा से कारागार में दिया हुआ पुरुष चाहते हुए भी नियत अवधि के पूर्व वहाँ से निकल नहीं सकता उसी प्रकार आयु कर्म के कारण जीव नियत समय तक अपने शरीर में बंधा रहता है। अवधि पूरी होने पर वह उस शरीर को छोड़ता है परन्तु उसके पहिले नहीं। आयु कर्म के चार भेद हैं— नरकायु, तिर्यश्चायु, मनुष्यायु और देवायु। आयु कर्म की जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट तैत्तीस सागरोपम की है। नारकी और देवता की आयु जघन्य दस हजार वर्ष, उत्कृष्ट तैत्तीससागरोपम की है। तिर्यश्च तथा मनुष्य की आयु जघन्य अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट तीन पल्योपम की है।

नरकायु, तिर्यश्चायु, मनुष्यायु और देवायु के बंध के चार कारण हैं, जो इसके प्रथम भाग बोल नं० १३२ से १३५ में दिये जा चुके हैं,। नरकायु कार्मण शरीर प्रयोग नाम, तिर्यश्चायु कार्मण शरीर प्रयोग नाम, मनुष्यायु कार्मण शरीर प्रयोग नाम और देवायु कार्मण शरीर प्रयोग नाम कर्म के उदय से भी जीव क्रमशः नरक, तिर्यश्च, मनुष्य और देव की आयु का बंध करता है। आयु कर्म का अनुभाव चार प्रकार का है— नरकायु, तिर्यश्चायु, मनुष्यायु और देवायु। यह अनुभाव स्वतः और परतः

दो प्रकार का होता है। एक या अनेक शस्त्रादि पुद्गलों के निमित्त से, विषमिथित अन्नादि रूप पुद्गलपरिणाम से तथा शीतोष्णादि रूप स्वामाविक पुद्गलपरिणाम से जीव आयु का अनुभव करता है, क्योंकि इनसे आयु की अपवर्तना होती है। यह परतः अनुभाव हुआ। नरकादि आयुकर्म के उदय से जो आयु का भोग होता है वह स्वतः अनुभाव समझना चाहिये।

आयु दो प्रकार की होती है—अपवर्तनीय और अनपवर्तनीय।

वायु शस्त्रादि निमित्त पाकर जो आयु स्थिति पूर्ण होने के पहले ही शीघ्रता से भोग ली जाती है वह अपवर्तनीय आयु है। जो आयु अपनी पूरी स्थिति भोग कर ही समाप्त होती है, बीच में नहीं टूटती वह अनपवर्तनीय आयु है। (मग.ग. = ३६ सू० ३४१) (पञ्च.प. २३ सू० २६२-२४) (धर्म. भा. १ गा. २३) (नवार्थ अष्टा. ८)

अपवर्तनीय और अनपवर्तनीय आयु का बन्ध व्यामाविक नहीं है। यह परिणामों के तारतम्य पर अवलम्बित है। मारी जन्म का आयु वर्तमान जन्म में बंधता है। आयु बन्ध के समय यदि परिणाम मन्द हो तो आयु का बन्ध शिथिल होता है। इसमें निमित्त पाने पर बन्ध-काल की कालमर्यादा घट जाती है। इसके विपरीत यदि आयुबन्ध के समय परिणाम तीव्र हो तो आयु का बन्ध गाढ़ होता है। बन्ध के गाढ़ होने में निमित्त मिलने पर भी बन्ध-काल की कालमर्यादा कम नहीं होती और आयु एक माप नहीं भोगा जाता। अपवर्तनीय आयु मोक्षम होती है अर्थात् हममें विष शस्त्रादि का निमित्त अत्यन्त प्रात होता है और उस निमित्त को पाकर जीव निरत समय के पूरे ही मर जाता है। अनपवर्तनीय आयु मोक्षम और निरक्षम दोनों प्रकार की होती है। मोक्षम आयु जाने का सकलानुपपन्न योग्य विष शस्त्रादि का संयोग होता है और निरक्षम आयु जाने को नहीं होता। विष शस्त्र आदि निमित्त का प्रात होता

उपक्रम है। अपवर्तनीय आयु अधूरा ही टूट जाता है, इसलिए वहाँ शस्त्र आदि की नियमतः आवश्यकता पड़ती है। अनपवर्तनीय आयु बीच में नहीं टूटता। उसके पूरा होते समय यदि शस्त्र आदि निमित्त प्राप्त हो जायें तो उसे सोपक्रम कहा जायगा, यदि निमित्त प्राप्त न हों तो निरुपक्रम।

शंका—अपवर्तनीय आयु में नियत स्थिति से पहले ही जीव की मृत्यु मानने से कृतनाश, अकृतागम और निष्फलता दोष होंगे, क्योंकि आयु बाकी है और जीव मर जाता है, इससे किये हुए कर्मों का फलभोग नहीं हो पाता। अतएव कृतनाश दोष हुआ। मरण योग्य कर्म न होने पर भी मृत्यु आजाने से अकृतागम दोष हुआ। अवशिष्ट बंधी हुई आयु का भोग न होने से वह निष्फल रही, अतएव निष्फलता दोष हुआ।

समाधान—अपवर्तनीय आयु में बंधी हुई आयु का भोग न होने से जो दोष बताए गए हैं, वे ठीक नहीं हैं। अपवर्तनीय आयु में बंधी हुई आयु पूरी ही भोगी जाती है। बढ़ाया का कोई अंश ऐसा नहीं बचता जो न भोगा जाता हो। यह अवश्य है कि इसमें बंधी हुई आयु कालमर्यादा के अनुसार न भोगी जाकर एक साथ शीघ्र ही भोग ली जाती है। अपवर्तन का अर्थ भी यही है कि शीघ्र ही अन्तर्मुहूर्त्त में अवशिष्ट कर्म भोग लेना। इसलिए उक्त दोषों का यहाँ होना संभव नहीं है। दीर्घकाल-मर्यादा वाले कर्म इस प्रकार अन्तर्मुहूर्त्त में ही कैसे भोग लिए जाते हैं? इसे समझाने के लिए तीन दृष्टान्त दिए जाते हैं—

(१) इकट्ठी की हुई सूखी तृणराशि के एक एक अवयव को क्रमशः जलाया जाय तो उस तृणराशि के जलने में अधिक समय लगेगा, परन्तु यदि उसी तृणराशि का बंध ढीला करके चारों तरफ से उसमें आग लगादी जाय तथा पवन भी अनुकूल

हो तो वह शीघ्र ही जल जायगी । (२) एक प्रश्न को हल करने के लिए सामान्य व्यक्ति गुणा भाग की लम्बी रीति का आश्रय लेता है और उसी प्रश्न को हल करने के लिए गणितशास्त्री संक्षिप्त रीति का उपयोग करता है । पर दोनों का उत्तर एक ही आता है । (३) एक घोया हुआ कपड़ा जल में भीगा ही इकट्ठा करके रखा जाय तो वह देर से सूखेगा और यदि उमीको सूख निचोड़ कर धूप में फैला दिया जाय तो वह तत्काल सूख जायगा । इन्हीं की तरह अपवर्तनीय आयु में आयुक्रम पूरा भोगा जाता है, परन्तु शीघ्रता के साथ ।

देवता, नारकी असंख्यात वर्ष की आयु वाले निर्गन्ध और मनुष्य, उच्चम पुरुष (तीर्थङ्कर चक्रवर्त्ती आदि) तथा चरम शरीरी (उसी मय में मोच जाने वाले) जीव अनपवर्तनीय आयु वाले होते हैं और शेष दोनों प्रकार की आयु वाले होते हैं ।

(सम्भाषं मूल अध्याय २ मूल ५२) (अ० २ उ० ३ मूल ८२ की इति)
(६) नामकर्म—जिस कर्म के उदय में जीव नारक, निर्गन्ध आदि नामों से सम्बोधित होता है अर्थात् अमुक नारक है, अमुक निर्गन्ध है, अमुक मनुष्य है, अमुक देव है, इस प्रकार कहा जाता है उसे नामकर्म कहते हैं । अथवा जो जीव को विविध पर्यायों में परिणत करता है या जो जीव को गन्धादि पर्यायों का अनुभव करने के लिये उन्मुक्त करता है वह नामकर्म है ।

नामकर्म चित्तों के समान है । जैसे चित्रकार विविध वर्णों में अनेक प्रकार के गुन्दर अगुन्दर रूप बनाता है उमी प्रकार नामकर्म जीव को गुन्दर, अगुन्दर, आदि अनेक रूप करता है ।

नामकर्म के मूल भेद ४२ हैं—१४ पिण्ड प्रकृतियाँ, = प्रत्येक प्रकृतियाँ, अमदराक और व्यावदराक । चौदह पिण्ड प्रकृतियाँ ये हैं—(१) गति (२) ज्ञानि (३) शरीर (४) अङ्गोपाङ्ग (५) पंचन

(६) संघात (७) संहनन (८) संस्थान (९) वर्ण (१०) गन्ध
(११) रस (१२) स्पर्श (१३) आनुपूर्वी (१४) विहायोगति ।
(१) पराघात (२) उच्छ्वास (३) आतप (४) उद्योत (५) अगुरु-
लघु (६) तीर्थङ्कर (७) निर्माण (८) उपघात । ये आठ प्रत्येक
प्रकृतियाँ हैं । (१) त्रस (२) वादर (३) पर्याप्त (४) प्रत्येक (५)
स्थिर (६) शुभ (७) सुभग (८) सुस्वर (९) आदेय (१०)
यशः कीर्ति । ये दस भेद त्रसदशक हैं । इनके विपरीत (१)
स्थायर (२) घृत्तम (३) अपर्याप्त (४) साधारण (५) अस्थिर
(६) अशुभ (७) दुर्भग (८) दुःस्वर (९) अनादेय (१०) अयशः
कीर्ति । ये दस भेद स्थावरदशक के हैं ।

चौदह पिएड प्रकृतियों के उत्तर भेद ६५ हैं । गतिनामकर्म
के नरकादि चार भेद हैं । जाति नामकर्म के एकेन्द्रियादि पाँच
भेद हैं । शरीर नामकर्म के औदारिक आदि पाँच भेद हैं ।
अङ्गोपाङ्ग नामकर्म के तीन भेद हैं । बन्धन और संघात नाम-
कर्म के पाँच पाँच भेद हैं । संहनन और संस्थान नामकर्म के छः
छः भेद हैं । वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श के क्रमशः पाँच, दो, पाँच
और आठ भेद हैं । आनुपूर्वी नामकर्म के चार भेद और विहायो-
गति के दो भेद हैं ।

चार गति का स्वरूप इसके प्रथम भाग शोल नं० १३१ में
दे दिया गया है । पाँच जाति का स्वरूप इसके प्रथम भाग
शोल नं० २८१ में दे दिया गया है । शरीर, बन्धन और संघात
के भेदों का स्वरूप इसके प्रथम भाग शोल नं० ३८६, ३८७,
३८९ में है । संहनन और संस्थान के छः छः भेदों का वर्णन
इसके द्वितीय भाग शोल नं० ४६८ तथा ४७० में दिया गया है ।
वर्ण और रस के पाँच पाँच भेद इसके प्रथम भाग, शोल नं०
४१४ और ४१५ में हैं । शेष अङ्गोपाङ्ग, गन्ध, स्पर्श आनुपूर्वी

और विदायोगति का स्वरूप और इनके भेद यहाँ दिये जाते हैं—

अहोपाह नामकर्म—जिस कर्म के उदय से जीव के अह और उपाह के आकार में पुद्गलों का परिणमन होता है उसे अहोपाह नामकर्म कहते हैं। आहारिक, वैक्रियक और आहारक शरीर के ही अह उपाह होते हैं, इसलिए इन शरीरों के भेद में अहोपाह नामकर्म के भी तीन भेद हैं—आहारिक अहोपाह, वैक्रियक अहोपाह, आहारक अहोपाह।

आहारिक अहोपाह नाम कर्म—जिस कर्म के उदय में आहारिक शरीर रूप परिणत पुद्गलों में अहोपाह रूप अवलम्बन होते हैं उसे आहारिक अहोपाह नामकर्म कहते हैं।

वैक्रियक अहोपाह नामकर्म—जिस कर्म के उदय में वैक्रियक शरीर रूप परिणत पुद्गलों में अहोपाह रूप अवलम्बन होते हैं उसे वैक्रियक अहोपाह नामकर्म कहते हैं।

आहारक अहोपाह नामकर्म—जिस कर्म के उदय में आहारक शरीर रूप परिणत पुद्गलों में अहोपाह रूप अवलम्बन होते हैं वह आहारक अहोपाह नामकर्म है।

गन्धनामकर्म—जिस कर्म के उदय में शरीर की अच्छी या बुरी गन्ध हो उसे गन्ध नामकर्म कहते हैं। गन्ध नामकर्म के दो भेद सुगन्धिगन्ध और दुर्गन्धिगन्ध।

सुगन्धिगन्ध नामकर्म—जिस कर्म के उदय में जीव के शरीर की कपूर, कम्बूरी आदि पदार्थों जैसी सुगन्ध होती है उसे सुगन्धिगन्ध नामकर्म कहते हैं।

दुर्गन्धिगन्ध नामकर्म—जिस कर्म के उदय में जीव के शरीर की बुरी गन्ध हो उसे दुर्गन्धिगन्ध नामकर्म कहते हैं।

स्पर्श नामकर्म—जिस कर्म के उदय में शरीर में खोंखन मधु आदि स्पर्श हो उसे स्पर्श नामकर्म कहते हैं। इसके आठ भेद हैं—

गुरु, लघु, मृदु, कर्कश, शीत, उष्ण, स्निग्ध, रूक्ष । गुरु-जिसके उदय से जीव का शरीर लोहे जैसा भारी हो वह गुरु स्पर्श नामकर्म है । लघु-जिसके उदय से जीव का शरीर आक की रई जैसा हल्का होता है वह लघु स्पर्श नामकर्म है । मृदु-जिसके उदय से जीव का शरीर मक्खन जैसा कोमल हो उसे मृदु स्पर्श नामकर्म कहते हैं । कर्कश-जिस कर्म के उदय से जीव का शरीर कर्कश यानि खुरदरा हो उसे कर्कश स्पर्श नामकर्म कहते हैं । शीत-जिस कर्म के उदय से जीव का शरीर कमलदंड जैसा ठंडा हो वह शीत स्पर्श नामकर्म है । उष्ण-जिसके उदय से जीव का शरीर अग्नि जैसा उष्ण हो वह उष्ण स्पर्श नामकर्म कहलाता है । स्निग्ध-जिस कर्म के उदय से जीव का शरीर घी के समान चिकना हो वह स्निग्ध स्पर्श नामकर्म है । रूक्ष-जिस कर्म से जीव का शरीर राख के समान रूखा होता है वह रूक्ष स्पर्श नामकर्म कहलाता है । आनुपूर्वी नामकर्म-जिस कर्म के उदय से जीव विग्रहगति से पने उत्पत्ति स्थान पर पहुँचता है उसे आनुपूर्वी नामकर्म कहते हैं । आनुपूर्वी नामकर्म के लिये नाथ (नासारज्जु) का दृष्टान्त दिया जाता है । जैसे इधर उधर भटकता हुआ त्रैल नाथ द्वारा इष्ट स्थान पर ले जाया जाता है । इसी प्रकार जीव जब समश्रेणी से जाने लगता है तब आनुपूर्वी नामकर्म द्वारा विश्रेणी में रहे हुए उत्पत्ति स्थान पर पहुँचाया जाता है । यदि उत्पत्ति स्थान समश्रेणी में हो तो वहाँ आनुपूर्वी नामकर्म का उदय नहीं होता । वक्रगति में ही आनुपूर्वी नामकर्म का उदय होता है । गति के चार भेद हैं, इसलिए वहाँ ले जाने वाले आनुपूर्वी नामकर्म के भी चार भेद हैं-नरकानुपूर्वी नामकर्म, तिर्यञ्चानुपूर्वी नामकर्म, मनुष्यानुपूर्वी नामकर्म और देवानुपूर्वी नामकर्म ।

त्रसदशरु की दस प्रकृतियों का स्वरूप निम्न प्रकार है—

त्रसदशरु—जो जीव मर्दां गर्मा में अपना बचाव करने के लिये एक जगह से दूसरी जगह जाते हैं वे त्रस कहलाते हैं। द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और पञ्चेन्द्रिय जीव त्रस हैं। जिस कर्म के उदय से जीवों को त्रसकाय की प्राप्ति हो उसे त्रस नामकर्म कहते हैं।

बादर नामकर्म—जिस कर्म के उदय में जीव बादर होते हैं उसे बादर नामकर्म कहते हैं। जो चतु का विषय हो वह बादर है किन्तु यहाँ बादर का यह अर्थ नहीं है, क्योंकि प्रत्येक पृथ्वीकाय आदि का शरीर बादर होते हुए भी आँखों में नहीं देखा जाता। यह प्रकृति जीव विषाकिनी है और जीवों में बादर परिणाम उत्पन्न करती है। इसका शरीर पर इतना असर अवश्य होता है कि बहुत से जीवों का समुदाय दृष्टिगोचर हो जाता है। जिन्हें इस कर्म का उदय नहीं होता, ऐसे सूक्ष्म जीव समुदाय अवस्था में भी दिखाई नहीं देते।

पर्याप्ति नामकर्म—जिस कर्म के उदय में जीव अपने योग्य पर्याप्तियों में युक्त होते हैं वह पर्याप्ति नामकर्म है। पर्याप्तियों का स्वरूप हमने दूसरे भाग बोल नं० ४७२ में दिया जा चुका है।

प्रत्येक नामकर्म—जिस कर्म के उदय में जीव में पृथक् पृथक् शरीर होता है उसे प्रत्येक नामकर्म कहते हैं।

स्थिर नामकर्म—जिस कर्म के उदय में दांत, हड्डी, ग्रंथा आदि शरीर के अवयव स्थिर(निश्चल) होते हैं उसे स्थिरनामकर्म कहते हैं।

शुभनामकर्म—जिस कर्म के उदय में नाभि के ऊपर के अवयव शुभ होते हैं उसे शुभ नामकर्म कहते हैं। निर आदि शरीर के अवयवों का भ्रम होने पर किर्मा का अतीति नहीं होती जैसा कि पैर के भ्रम में होती है। यही नाभि के ऊपर के अवयवों का शुभनाम है।

सुभग नामकर्म—जिस कर्म के उदय से जीव किसी प्रकार का उपकार किये बिना या किसी तरह के सम्बन्ध के बिना भी सब का प्रीतिपात्र होता है उसे सुभग नाम कर्म कहते हैं।

सुस्वर नामकर्म—जिस कर्म के उदय से जीव का स्वर मधुर और प्रीतिकारी हो उसे सुस्वर नामकर्म कहते हैं।

आदेय नामकर्म—जिस कर्म के उदय से जीव का वचन सर्वमान्य हो उसे आदेय नामकर्म कहते हैं।

यशःकीर्ति नामकर्म—जिस कर्म के उदय से संसार में यश और कीर्ति का प्रसार हो वह यशःकीर्ति नामकर्म कहलाता है।

किसी एक दिशा में जो ख्याति या प्रशंसा होती है वह कीर्ति है और सब दिशाओं में जो ख्याति या प्रशंसा होती है वह यश है। अथवा दान तप आदि से जो नाम होता है वह कीर्ति है और पराक्रम से जो नाम फैलता है वह यश है।

त्रसदशक प्रकृतियों का स्वरूप ऊपर बताया गया है। स्थावर-दशक प्रकृतियों का स्वरूप इससे विपरीत है। वह इस प्रकार है—

स्थावर नामकर्म—जिस कर्म के उदय से जीव स्थिर रहें, सर्दी गर्मी आदि से वचने का उपाय न कर सकें, वह स्थावर नामकर्म है। पृथ्वीकाय, अपकाय, तेउकाय, वायुकाय और वनस्पतिकाय, ये स्थावर जीव हैं, तेउकाय और वायुकाय के जीवों में स्वाभाविक गति तो है किन्तु द्वीन्द्रिय आदि त्रस जीवों की तरह सर्दी गर्मी से वचने की विशिष्ट गति उसमें नहीं है।

सूक्ष्म नामकर्म—जिस कर्म के उदय से जीव को सूक्ष्म अर्थात् चतु से अग्राह्य शरीर की प्राप्ति हो वह वह सूक्ष्म नामकर्म है। सूक्ष्म शरीर न किसी से रोका जाता है और न किसी को रोकता ही है। इसके उदय से समुदाय अवस्था में रहे हुए भी सूक्ष्म प्राणी दिखाई नहीं देते। इस नामकर्म वाले जीव पाँच स्थावर

ही हैं। ये सूक्ष्म प्राणी सारे लोकाकाश में व्याप्त हैं।

अपर्याप्त नामकर्म—जिस कर्म के उदय से जीव अपने योग्य पर्याप्तियाँ पूर्ण न करे वह अपर्याप्त नामकर्म है। अपर्याप्त जीव दो प्रकार के हैं—लब्धि अपर्याप्त और करण अपर्याप्त।

लब्धि अपर्याप्त—जो जीव अपनी पर्याप्तियाँ पूर्ण किये बिना ही मरते हैं वे लब्धि अपर्याप्त हैं। लब्धि अपर्याप्त जीव भी आहार, शरीर और इन्द्रिय ये तीन पर्याप्तियाँ पूरी करके ही मरते हैं क्योंकि इन्हें पूरी किये बिना जीव के आगाभी रक्ष की आयु नहीं बंधती।

करण अपर्याप्त—जिन्होंने अब तक अपनी पर्याप्तियाँ पूर्ण नहीं की हैं किन्तु भविष्य में करने वाले हैं वे करण अपर्याप्त हैं।

साधारण नामकर्म—जिस कर्म के उदय से अनन्त जीवों का एक ही शरीर हो वह साधारण नामकर्म है।

अस्थिर नामकर्म—जिस कर्म के उदय से कान, गोंद, जीम आदि अवयव अस्थिर अर्थात् चपल होते हैं वह अस्थिर नामकर्म है।

अशुभ नामकर्म—जिस कर्म के उदय में नाभि के नीचे के अवयव पर आदि अशुभ होते हैं वह अशुभ नामकर्म है।

दुर्मग नामकर्म—जिस कर्म के उदय में उपकारी होने हुए या स चन्वी होने हुए भी जीव लोगों को अप्रिय लगता है वह दुर्मग नामकर्म है।

दुःस्वर नामकर्म—जिस कर्म के उदय में जीव का स्वर कर्कश हो अर्थात् मुनने में अप्रिय लगे वह दुःस्वर नामकर्म है।

अनादेय नामकर्म—जिस कर्म के उदय में जीव का दान युक्तियुक्त होने हुए भी प्राप्त नहीं होता वह अनादेय नामकर्म है।

अयशःकीर्ति नामकर्म—जिस कर्म के उदय में दुनिया में अपयश और अपकीर्ति हो वह अयशःकीर्ति नामकर्म है।

विषट् प्रकृतियों के उत्तर भेद गिनने पर नामकर्म की २३

वेद वेधन और संघात नामकर्म की १० प्रकृतियों का समा-
वेश शरीर नामकर्म की प्रकृतियों में कर लिया जाय तथा वर्ण,
गन्ध, रस और स्पर्श की २० प्रकृतियाँ न गिन कर सामान्य
रूप से चार प्रकृतियाँ ही गिनी जायें तो बंध की अपेक्षा से नाम-
कर्म की ६३-२६-६७ प्रकृतियाँ हैं, क्योंकि वर्ण, रस, गन्ध
और स्पर्श आदि की एक समय में एक ही प्रकृति बंधती है।
नामकर्म की स्थिति जघन्य आठ सुहृत्, उच्छृष्ट बीस कोड़ाकोड़ी
रूपम की है। शुभ और अशुभ के भेद से नामकर्म
को सरलता तथा अविस्मृति, भाव की सरलता और
हेतु हैं। कहना कुछ और करना कुछ, इस प्रकार

का व्यापार विर्सवादन योग है। इसका अभाव अर्थात् मन, वचन और कार्य में एकता का होना अविर्सवादन योग है। भगवती टीकाकार ने मन वचन और कायाकी सरलता और अविर्सवादनता में अन्तर बताते हुए लिखा है कि मन वचन काया की सरलता वर्तमानकालीन है और अविर्सवादन योग वर्तमान और अतीत काल की अपेक्षा है। इनके सिवाय शुभ नाम कार्मण शरीर प्रयोग बंध नामकर्म के उदय से भी जीव शुभ नामकर्म बांधता है। शुभ नामकर्म में तीर्थङ्कर नाम भी है। तीर्थङ्कर नाम कर्म बांधने के २० बोल नीचे लिखे अनुसार हैं—

(१-७) अरिहन्त, सिद्ध, प्रवचन, गुरु, स्थविर, बहुभूत और तपस्वी, इन में भक्ति भाव रखना, इनके गुणों का कीर्तन करना तथा इनकी सेवा करना (८) निरन्तर ज्ञान में उपधीग रचना (९) निरतिचार मत्पक्त्व धारण करना (१०) अतिचार (दोष) न लगने हुए ज्ञानादि विषय का भेदन करना (११) निर्दोष आवश्यक क्रिया करना (१२) मूलगुण एवं उत्तरगुणों में अतिचार न लगाना (१३) मदा संवेग भाव और शुभ ध्यान में लग रहना (१४) तप करना (१५) गुणाप्रदान देना (१६) दश प्रकार की वेयाश्रय करना (१७) गुरु आदि की गमाधि हो वेगा कार्य करना (१८) नया नया ज्ञान सीगना (१९) भूत की भक्ति अर्थात् बहुमान करना (२०) प्रवचन की प्रभारना करना। (हरिमंशोपासक निरुक्तिमाया १.३६-१.३७) (शाखाग्र अभ्यसन ८३)

काया की यकता, भावाकी यकता और विर्सवादन योग, ये अनुभ नामकर्म बांधने के हेतु हैं। अशुभ नाम कार्मण शरीर प्रयोग नामकर्मके उदय में भी जीव के अशुभ नाम कर्म का बंध होता है।

शुभ नामकर्म का सौदह प्रकार का अनुभाव है—४८ शब्द, ४८ रूप, ४८ गंध, ४८ रस, ४८ स्पर्श, ४८ गति, ४८ स्थिति, ४८ भावण

इष्ट यशःकीर्ति, इष्ट उत्थान बल वीर्य पुरुषाकार पराक्रम, इष्ट स्वरता, कान्त स्वरता, प्रिय स्वरता, मनोज्ञ स्वरता। अशुभ नाम कर्म का अनुभव भी चौदह प्रकार का है। ये चौदह प्रकार उपरोक्त प्रकारों से विपरीत समझने चाहिये। शुभ और अशुभ नामकर्म का उक्त अनुभाव स्वतः और परतः दो प्रकार का है। वीणा, वर्णक (पीठी), गन्ध, ताम्बूल, पट्ट (रेशमी वस्त्र), शिविका (पालखी), सिंहासन, कुंकुम, दान, राजयोग, गुटिकायोग आदि रूप एक या अनेक पुद्गलों को प्राप्त कर जीव क्रमशः इष्ट शब्द, रूप, गंध, रस, स्पर्श, गति, स्थिति, लावण्य, यशःकीर्ति, इष्ट उत्थानादि एवं इष्ट स्वर आदि रूप से शुभ नामकर्म का अनुभव करता है। इसी प्रकार प्राप्ति औषधि आदि आहार के परिणाम स्वरूप पुद्गलपरिणाम से तथा स्वाभाविक पुद्गलपरिणाम रूप बादल आदि का निमित्त पाकर जीव शुभ नामकर्म का अनुभव करता है। इसके विपरीत अशुभ नामकर्म के अनुभाव को पैदा करने वाले एक या अनेक पुद्गल, पुद्गलपरिणाम और स्वाभाविक पुद्गलपरिणाम का निमित्त पाकर जीव अशुभ नामकर्म को भोगता है। यह परतः अनुभाव हुआ। शुभ अशुभ नामकर्म के उदय से इष्ट अनिष्ट शब्दादि का जो अनुभव किया जाता है वह स्वतः अनुभाव है।

(पञ्च. प. २३ सू. २६२-६४) (भग. श. ८ उ. ६ सू. ३५१) (सा. अ. ८ सू. ६४) (आव. ह. नि. गा-१७६-८१) (कर्म. ना. १. गा. २३, २७, ३१) (तत्त्वार्थ. अध्या. ८)

(७.) गोत्र कर्म—जिस कर्म के उदय से जीव उच्च नीच शब्दों से कहा जाय उसे गोत्र कर्म कहते हैं। इसी कर्म के उदय से जीव जाति कुल आदि की अपेक्षा बड़ा छोटा कहा जाता है। गोत्र कर्म को समझाने के लिये कुम्हार का दृष्टान्त दिया जाता है। जैसे कुम्हार कई घड़ों को ऐसा बनाता है कि लोग उनकी प्रशंसा करते हैं और कुछ को कलश मानकर उनकी अल्लत चन्दनादि से पूजा करते हैं। कई घड़े ऐसे होते हैं कि निन्द्य

पदार्थ के संसर्ग के बिना भी लोग उनकी निंदा करते हैं, तो कई मद्यादि घृणित द्रव्यों के रखे जाने से सदा निन्दनीय समझे जाते हैं। उच्च नीच भेद वाला गोत्र कर्म भी ऐसा ही है। उच्च गोत्र के उदय से जीव धन, रूप आदि से हीन होता हुआ भी ऊँचा माना जाता है और नीच गोत्र के उदय से धन रूप आदि ने सम्पन्न होते हुए भी नीच ही माना जाता है। गोत्र कर्म की स्थिति जघन्य आऽमृहूर्त उत्कृष्ट बीस कोड़ाकोड़ी मागरोपम की है।

जाति, कुल, वल, रूप, तप, श्रुत, लाभ और ऐश्वर्य, इन आठों का मद न करने से तथा उच्च गोत्र कर्मण शरीर नामकर्म के उदय से जीव उच्च गोत्र बांधता है। इसके विपरीत उक्त आठों का अभिमान करने से तथा नीच गोत्र कर्मण शरीर नामकर्म के उदय से जीव नीच गोत्र बांधता है।

उच्च गोत्र का अनुभाव आठ प्रकार का है—जाति विशिष्टता, कुल विशिष्टता, वल विशिष्टता, रूप विशिष्टता, तप विशिष्टता, श्रुत विशिष्टता, लाभ विशिष्टता और ऐश्वर्य विशिष्टता।

उच्च गोत्र का अनुभाव स्वतः भी होता है और परतः भी। एक या अनन्क बाध द्रव्यादि रूप पुद्गलों का निमित्त पाकर जीव उच्च गोत्र कर्म भोगता है। राजा आदि विशिष्ट पुण्यों द्वारा अपनाये जाने से नीच जाति और कुल में उत्पन्न हुआ पुण्य भी जाति कुल सम्पन्न की तरह माना जाता है। लाठी बगैर घुमाने में कमजोर व्यक्ति भी वल विशिष्ट माना जाने लगता है। विशिष्ट यज्ञानंकार धारण करने वाला रूप सम्पन्न मान्यमान होने लगता है। पर्वत के शिखर पर चढ़कर आनापना लेने में तप विशिष्टता प्राप्त होती है। मनोहर प्रदेश में स्थाप्यावादि करने वाला श्रुतविशिष्ट हो जाता है। विशिष्ट रत्नादि की प्राप्ति द्वारा जीव लाभविशिष्टता का अनुभव करता है और धन गुणन

आदि का सम्बन्ध पाकर ऐश्वर्य विशिष्टता का भोग करता है।
 दिव्य फलादि के आहार रूप पुद्गलपरिणाम से भी जीव उच्च
 गोत्र कर्म का भोग करता है। इसी प्रकार स्वाभाविक पुद्गल-
 परिणाम के निमित्त से भी जीव उच्च गोत्र कर्म का अनुभव
 करता है। जैसे अकस्मात् बादलों के आने की बात कही और
 संयोगवश बादल होने से वह बात मिल गई। यह परतः अनुभाव
 हुआ। उच्च गोत्र कर्मके उदय से विशिष्ट जाति कुल आदि का
 भोग करना स्वतः अनुभाव है।
 नीचकर्म का आचरण, नीच पुरुष की संगति इत्यादि रूप एक

या अनेक पुद्गलोंका सम्बन्ध पाकर जीव नीच गोत्र कर्म का
 वेदन करता है। जातिवन्त और कुलीन पुरुष भी अधम जीविका
 या दूसरा नीच कार्य करने लगे तो वह निन्दनीय हो जाता है। मैले
 वस्त्र शय्यादि के सम्बन्ध से जीव बलहीन हो जाता है। मैले
 कुचैले वस्त्र पहनने से पुरुष रूपहीन मालूम होता है। पासत्ये
 कुशीले आदि की संगति से तपहीनता प्राप्त होती है। देश, काल
 तथा कुलाधुओं के संसर्ग से श्रुत में न्यूनता होती है। विकथा
 के अयोग्य वस्तुओं को खरीदने से लाभ का अभाव होता है।
 कुग्रह, कुभार्यादिके संसर्गसे पुरुष ऐश्वर्य रहित होता है। वृत्ताकी
 फल (वैंगन) आदि के आहार रूप पुद्गलपरिणाम से खुजली
 आदि होती है और इससे जीव रूपहीन हो जाता है। स्वाभाविक
 पुद्गलपरिणाम से भी जीव नीच गोत्र का अनुभव करता है।
 जैसे बादल के बारे में कही हुई बात का न मिलना आदि।
 यह तो नीच गोत्र कर्म का परतः अनुभाव हुआ। नीच गौत्र
 कर्मके उदयसे जातिहीन कुलहीन होना आदि स्वतः अनुभाव है।
 (भग. श. = उ. ६ सू. ३५१) (पत्र. प. २३ सू. २६२-६४) (कर्म भा. १
 गा. ५२) (तत्त्वार्थ ० अध्या. =)
 (२) अन्तराय कर्म—जिस कर्म के उदय से आत्मा की दान,
 लाभ, भोग, उपभोग और वीर्यशक्तियों का घात होता है अर्थात्

दान, लाम आदि में रुकावट पड़ती है वह अन्तराय कर्म है। यह कर्म कोषाध्यक्ष (मंडारी) के ममान है। राजा की आज्ञा होने हुए भी कोषाध्यक्ष के प्रतिकूल होने पर जैसे याचक को धनप्राप्ति में बाधा पड़ जाती है। उसी प्रकार आन्मा रूप राजा के दान लामादि की इच्छा होने हुए भी अन्तराय कर्म उसमें रुकावट डाल देता है। अन्तराय कर्म के पाँच भेद हैं—दानान्तराय, लामान्तराय, भोगान्तराय, उपभोगान्तराय और धीर्यान्तराय। इनका स्वरूप प्रथम भाग पाँचवाँ बोल मंग्रह, बोल नं० ३८८ में दिया जा चुका है। अन्तराय कर्म की स्थिति जयन्त्य अन्तर्मुहूर्त और उन्कृष्ट तीस कोड़ाकोड़ी मागरोपम की है।

दान, लाम, भोग, उपभोग और धीर्य में अन्तराय देने से तथा अन्तराय कार्मण शरीर प्रयोग नामकर्म के उदय से जीव अन्तराय कर्म बांधता है। दान, लाम, भोग, उपभोग और धीर्य में विघ्न बाधा होने रूप इस कर्म का पाँच प्रकार का अनुभाव है। वह अनुभाव स्वतः भी होता है और परतः भी। एक या अनेक पुद्गलों का सम्बन्ध पाकर जीव अन्तराय कर्म के उन्कृष्ट अनुभाव का अनुभव करता है। विशिष्ट रत्नादि के सम्बन्ध में तद्विषयक मूर्छा हो जाने से तन्मम्बन्धी दानान्तराय का उदय होता है। उस रत्नादि की मन्थि को छेदने वाले उपकरणों के सम्बन्ध से लामान्तराय का उदय होता है। विशिष्ट आधार अथवा बहु-मूल्य वस्तु का सम्बन्ध होने पर लोभयुक्त उनका भोग नहीं किया जाता और इस तरह ये भोगान्तराय के उदय में कारण होती हैं। इसी प्रकार उपभोगान्तराय के विषय में भी समझना चाहिये। लाठी आदि की छोट में मूर्छित होना धीर्यान्तराय कर्म का अनुभाव होता है। आधार, आशय आदि के परिणाम रूप पुद्गलपरिणाम से धीर्यान्तराय कर्म का उदय होता है। मन्

संस्कारित गंध पुद्गलपरिणाम से भोगान्तराय का उदय होता है। स्वभाविक पुद्गलपरिणाम भी अन्तराय के अनुभाव में निमित्त होता है, जैसे ठण्ड पड़ती देख कर दान देने की इच्छा होते हुए भी दाता वस्त्रादि का दान नहीं दे पाता और इस प्रकार दानान्तराय का अनुभव करता है। यह परतः अनुभाव हुआ। अन्तराय कर्म के उदय से दान, भोग आदि में अन्तराय रूप फल का जो भोग होता है वह स्वतः अनुभाव है।

शङ्का-शास्त्रों में बताया है कि सामान्य रूप से आयुर्कर्म के सिवाय शेष सात कर्मों का बन्ध एक साथ होता है। इसके अनुसार जिस समय ज्ञानावरणीय के बन्ध कारणों से ज्ञानावरणीय का बन्ध होता है उसी समय शेष प्रकृतियों का भी बन्ध होता ही है। फिर अमुक बन्ध कारणों से अमुक कर्म का ही बन्ध होता है, यह कथन कैसे संगत होगा? इसका समाधान पं० सुखलालजी ने अपनी तत्त्वार्थसूत्र की व्याख्या में इस प्रकार दिया है-

आठों कर्मों के बन्ध कारणों का जो विभाग बताया गया है वह अनुभाग बन्ध की अपेक्षा समझना चाहिए। सामान्य रूप से आयुर्कर्म के सिवाय सातों कर्मों का बन्ध एक साथ होता है, शास्त्र का यह नियम प्रदेशबन्ध की अपेक्षा जानना चाहिये। प्रदेशबन्ध की अपेक्षा एक साथ अनेक कर्म प्रकृतियों का बन्ध माना जाय और नियत आश्रवों को विशेष कर्म के अनुभाग बन्ध में निमित्त माना जाय तो दोनों कथनों में संगति हो जायगी और कोई विरोध न रहेगा। फिर भी इतना और समझ लेना चाहिये कि अनुभाग बन्ध की अपेक्षा जो बन्ध कारणों के विभाग का समर्थन किया गया है वह भी मुख्यता की अपेक्षा ही है। ज्ञानावरणीय कर्म बन्ध के कारणों के सेवन के समय ज्ञानावरणीय का अनुभाग बन्ध मुख्यता से होता है

और उस समय बंधने वाली अन्य कर्म प्रकृतियों का अनुभाग बन्ध गौण रूप में होता है। एक समय एक ही कर्म प्रकृति का अनुभाग बन्ध होता हो और दूसरी का न हो, यह तो माना नहीं जा सकता। कारण यह है कि जिस समय योग (मन, वचन, काया के व्यापार) द्वारा जिनकी कर्म प्रकृतियों का प्रदेश-बन्ध संभव है उसी समय कपाय द्वारा उनके अनुभाग बन्ध का भी संभव है। इस प्रकार अनुभाग बन्ध की मुख्यता की अपेक्षा ही कर्मबन्ध के कारणों के विभाग की संगति होती है।

प्रज्ञापना २३ पद में कर्म के आठ भेदों के क्रम की मार्पकता यों बताई गई है—ज्ञान और दर्शन जीव के स्वतन्त्र रूप हैं। इनके बिना जीवत्व की ही उपपत्ति नहीं होती। जीव का लक्षण चेतना (उपयोग) है और उपयोग ज्ञान दर्शन रूप है। फिर ज्ञान और दर्शन के बिना जीव का अस्तित्व कैसे रह सकता है? ज्ञान और दर्शन में भी ज्ञान प्रधान है। ज्ञान में ही सम्पूर्ण शास्त्रादि विषयक विचार परम्परा की प्रवृत्ति होती है। लक्ष्मियों भी ज्ञानोपयोग वाले के होती हैं, दर्शनोपयोग वाले के नहीं। जिस समय जीव सकल कर्मों में मुक्त होता है उस समय वह ज्ञानोपयोग वाला ही होता है, दर्शनोपयोग तो उसे दूसरे समय में होता है। इस प्रकार ज्ञान की प्रधानता है। इसलिये ज्ञान का आचार्यक ज्ञानावर्गीय कर्म भी सर्व प्रथम कहा जा है। ज्ञानोपयोग में गिरा हुआ जीव दर्शनोपयोग में स्थित होता है। इस लिए ज्ञानावर्ग के बाद दर्शन का आचार्यक दर्शनावर्गीय कर्म कहा गया है। ये ज्ञानावर्गीय और दर्शनावर्गीय कर्म अपना फल देने हुए यथायोग्य सुख दुःख रूप वेदनी कर्म में निमिग होते हैं। बाद ज्ञानावर्गीय कर्म भोगता हुआ जीव शून्य वस्तुओं के विचार में अपने को असमर्थ पाता है और

इसलिए वह खिन्न होता है। ज्ञानवरणीय कर्म के क्षयोपशम की पड़ता वाला जीव अपनी बुद्धि से सूक्ष्म, सूक्ष्मतर वस्तुओं का विचार करता है। दूसरों से अपने को ज्ञान में बढ़ा चढ़ा देख वह हर्ष का अनुभव करता है। इसी प्रकार प्रगाढ़ दर्शनावरणीय कर्म के उदय होने पर जीव जन्मान्ध होता है और महादुःख भोगता है। दर्शनावरणीय कर्म के क्षयोपशम की पड़ता से जीव निर्मल स्वस्थ चक्षु द्वारा वस्तुओं को यथार्थरूप में देखता हुआ प्रसन्न होता है। इसीलिए ज्ञानवरणीय और दर्शनावरणीय के बाद तीसरा वेदनीय कर्म कहा गया। वेदनीय कर्म इष्ट वस्तुओं के संयोग में सुख और अनिष्ट वस्तुओं के संयोग में दुःख उत्पन्न करता है। इससे संसारी जीवों के राग द्वेष होना स्वाभाविक है। राग और द्वेष मोह के कारण हैं। इसलिए वेदनीय के बाद मोहनीय कर्म कहा गया है। मोहनीय कर्म से मृढ़ हुए प्राणी महारंभ, महापरिग्रह आदि में आसक्त होकर नरकादि की आयु बाँधते हैं। इसलिये मोहनीय के बाद आयुर्कर्म कहा गया। नरकादि आयुर्कर्म के उदय होने पर अवश्य ही नरक गति आदि नामकर्म की प्रकृतियों का उदय होता है। अतएव आयुर्कर्म के बाद नामकर्म कहा गया है। नामकर्म के उदय होने पर जीव उच्च या नीच मोक्ष में से किसी एक का अवश्य ही भोग करता है। इसलिए नामकर्म के बाद गोत्रकर्म कहा गया है। गोत्र कर्म के उदय होने पर उच्चकुल में उत्पन्न जीव के दानान्तराय, लाभान्तराय आदि रूप अन्तराय कर्म का क्षयोपशम होता है तथा नीच कुल में उत्पन्न हुए जीव के दानान्तररायादि का उदय होता है। इसलिए गोत्र के बाद अन्तराय कर्म कहा गया है।

(पन्त. प. १३ सू. २८८ टीका)

कर्मवाद का महत्त्व—जैन दर्शन की तरह अन्य दर्शनों में

भी कर्मतत्त्व माना गया है परन्तु जैन दर्शन का कर्मवाद अनन्य विशेषताओं से युक्त है। जैन दर्शन में कर्मतत्त्व का जो विस्तृत वर्णन और सूक्ष्म विश्लेषण है वह अन्य दर्शनों में मुलभ नहीं है। जड़ और चेतन जगत के विविध परिवर्तन सम्बन्धी सभी प्रश्नों का उत्तर हमें यहां मिलता है। माग्य और पुरुषार्थ का यहाँ सुन्दर समन्वय है और विकास के लिए हममें विशाल क्षेत्र है। कर्मवाद जीवन में आशा और सृष्टि का संचार करता है और उन्नति पथ पर चढ़ने के लिये अनुपम उन्साह भर देता है। कर्मवाद पर पूर्ण विश्वास होने के बाद जीवन से निराशा और थालस्य दूर हो जाते हैं। जीवन विशाल कर्मभूमि बन जाता है और सुख दुःखके भोंके आन्मा को विचलित नहीं कर सकते।

कर्म क्या है ? आन्मा के साथ कैसे कर्मबन्ध होता है और उसके कारण क्या है ? किम कारण से कर्म में कर्मा शक्ति पैदा होती है ? कर्म अधिक से अधिक और कम से कम कितने समय तक आन्मा के साथ लगे रहते हैं ? आन्मा से मन्त्र होकर भी कर्म कितने काल तक फल नहीं देते ? विपाक का नियत समय बदल सकता है या नहीं ? यदि बदल सकता है तो उसके लिये कैसे आत्मपरिणाम आवश्यक है ? आन्मा कर्म का कर्मा और भोक्ता किम तरह है ? संक्लेश परिणाम में आकृष्ट होकर कर्मज कैसे आन्मा के साथ लग जाती है और आन्मा धीरे-धीरे किम प्रकार उसे हटा देता है ? विकामोन्मुख आन्मा जब परमान्म साथ प्रगट करने के लिये उन्मुख होता है तब उसके और कर्म के बीच कैसा अन्तर्द्वन्द्व होता है ? ममर्ष आन्मा कर्मों को गतिशून्य करके किम प्रकार अपना प्रगति मार्ग निष्कण्टक बनाता है और आगे बढ़ते हुए कर्मों के पराज को किम तरह नष्ट कर देता है ? पूर्ण विक्रम के मर्मता

पहुँचे हुए आत्मा को भी शान्त हुए कर्म पुनः किस प्रकार दबा लेते हैं ? इत्यादि कर्म विषयक सभी प्रश्नों के सन्तोषप्रद उत्तर जैन सिद्धान्त देता है। यही उसकी एक बड़ी विशेषता है।

कर्मवाद बताता है कि आत्मा को जन्म-मरण के चक्र में घुमाने वाला कर्म ही है। यह कर्म हमारे ही अतीत कार्यों का अवश्यम्भावी परिणाम है। जीवन की विभिन्न परिस्थितियों का यही एक प्रधान कारण है। हमारी वर्तमान अवस्था किसी वाय्व शक्ति से प्रदान की हुई नहीं है। यह पूर्व जन्म या वर्तमान जन्म में किये हुए हमारे कर्मों का ही फल है। जो कुछ भी होता है वह किसी अन्तरंग कारण या अवस्था का परिणाम है। मनुष्य जो कुछ पाता है वह उसी को बोई हुई खेती का फल है।

कर्मवाद अध्यात्म शास्त्र के विशाल भवन की आधार शिला है। आत्मा की समानता और महानता का सन्देश इसके साथ है। यह बताता है कि आत्मा किसी रहस्यपूर्ण शक्तिशाली व्यक्ति की शक्ति और इच्छा के अधीन नहीं है और अपने संकल्प और अभिलाषाओं की पूर्तिके लिए हमें उसका दरवाजा खटखटाने की आवश्यकता नहीं है। अपने पापों का नाश करने के लिये, अपने उत्थान के लिये हमें किसी शक्ति के आगे न दया की भीख मांगने की आवश्यकता है न उसके आगे रोने और गिड़गिड़ाने की ही। कर्मवाद का यह भी मन्तव्य है कि संसार की सभी आत्माएँ एक सी हैं और सभी में एक सी शक्तियाँ हैं। चेतन जगत में जो भेदभाव दिखाई देता है वह शक्तियों के न्यूनताधिक विकास के कारण। कर्मवाद के अनुसार विकास की चरम सीमा को प्राप्त व्यक्ति परमात्मा है। हमारी शक्तियाँ कर्मों से आवृत हैं, अविकसित हैं और आत्मबल द्वारा कर्म के आवरण को दूर कर इन शक्तियों का विकास

किया जा सकता है। विकास के सर्वोच्च स्तर पर पहुँच कर हम परमान्त स्वरूपको प्राप्त कर सकते हैं। यों पूर्ण विकास के लिये कर्मवाद से अतृप्त प्रेरणा मिलती है।

जीवन विघ्न, बाधा, दुःख और आनन्दियों से भरा है। इनके आने पर हम चकरा उठते हैं और हमारी बुद्धि अस्थिर हो जाती है। एक ओर बाहर की परिस्थिति प्रतिकूल होती है और दुर्ग और चक्रवर्ति और चिन्ता के कारण अन्तर्गत स्थिति को हम अपने हाथों में दिगाड़ लेते हैं। ऐसी अवस्था में मन पर मन होना स्वाभाविक है। अन्त में निगम होकर हम आरंभ किए हुए कामों को छोड़ बैठते हैं। दुःख के समय हम गते चिन्तित हैं। बाधनिमित्त कारणों को हम दुःख का प्रधान कारण समझने लगते हैं और इसलिये हम उन्हें मला दूँगा कहते और कोते हैं। इस तरह हम व्यर्थ ही कोते करते हैं और अपने लिए नवीन दुःख सड़ा कर लेते हैं। ऐसे समय कर्म निदान ही निदक का काम करता है और पथभ्रष्ट आत्मा को ठीक रास्ते पर लाता है। वह बतलाता है कि आत्मा अपने मान्य का निर्माता है। सुख दुःख उर्मी के किये हुए हैं। कोई भी बाध गति आत्मा को सुख दुःख नहीं दे सकती। हृद का मन बाध बीज है और हृदी, पानी पवन आदि निमित्त माय है। उर्मी प्रकाश दुःख का बीज हमारे ही पूर्वकृत कर्म है और बाध माया निमित्त माय है। इस विवेक के दृढ़ होने पर आत्मा दुःख और विघ्न के समय नहीं चक्रवर्ति और न दिदक में ही हार को बैठता है। अपने दुःख के लिये वह दुःखों को दोष भी नहीं देता। इस तरह कर्मवाद आत्मा को निगम से बचाता है, दुःख सहने की गति देता है, हृदय को शान्त और बुद्धि को स्थिर रख कर प्रतिकूल परिस्थितियों का सामना करने का पट प्रकाश

है। पुराना कर्ज चुकाने वाले की तरह कर्मवादी शान्त भाव से कर्म का ऋण चुकाता है और सब कुछ चुपचाप सह लेता है। अपनी गल्ती से होने वाला बड़े से बड़ा नुकसान भी मनुष्य किस तरह चुपचाप सह लेता है वह तो हम प्रत्यक्ष ही देखते हैं। यही हाल कर्मवादी का भी होता है। भूतकाल के अनुभवों से भावी भलाई के लिये तैयार होने की भी इससे शिक्षा मिलती है। सुख और सफलता में संयत रहने की भी इससे शिक्षा मिलती है और यह आत्मा को उच्छ्वल और उदंड होने से बचाता है।

शंका—पूर्वकृत कर्मानुसार जीव को सुख दुःख होते हैं; किये हुए कर्मों से आत्मा का छुटकारा संभव नहीं है। इस तरह सुखप्राप्ति और दुःख निवृत्ति के लिये प्रयत्न करना व्यर्थ है। भाग्य में जो लिखा होगा सो होकर ही रहेगा। सौ प्रयत्न करने पर भी उसका फल रोका नहीं जा सकता। क्या कर्मवाद का यह मन्तव्य आत्मा को पुरुषार्थ से विमुख नहीं करता ?

उत्तर—यह यह सत्य है कि अच्छा या बुरा कोई कर्म नष्ट नहीं होता। जो पत्थर हाथ से छूट गया है वह वापिस नहीं लौटाया जा सकता। पर जिस प्रकार सामने से वेग पूर्वक आता हुआ दूसरा पत्थर पहले वाले से टकराकर उसके वेग को रोक देता है या उसकी दिशा को बदल देता है। ठीक इसी प्रकार किये हुए शुभाशुभ कर्म आत्मपरिणामों द्वारा न्यून या अधिक शक्ति वाले हो जाते हैं, दूसरे रूप में परिवर्तित हो जाते हैं और कभी कभी निष्फल भी हो जाते हैं। जैन सिद्धान्त में कर्म की विविध अवस्थाओं का वर्णन है। कर्म की एक निकात्रित अवस्था ही ऐसी है जिसमें कर्मानुसार अवश्य फल भोगना पड़ता है। शेष अवस्थाएं आत्म परिणामानुसार परिवर्तन शील हैं। जैन कर्मवाद का मन्तव्य है कि प्रयत्न विशेष से आत्मा कर्म की

किया जा सकता है। विकास के सर्वोच्च निम्नरं पर पहुँच कर हम परमान्त स्वरूपको प्राप्त कर सकते हैं। यों पूर्ण विकास के लिये कर्मवाद में अत्युच्च प्रेरणा मिलती है।

जीवन चिन्त, याचा, दुःख और आपत्तियों में भरा है। इनके आने पर हम घबरा उठते हैं और हमारी बुद्धि अस्थिर हो जाती है। एक ओर बाहर की परिस्थिति प्रतिकूल होती है और दुर्गो और घबराहट और चिन्ता के कारण अन्तरंग स्थिति को इन अपने हाथों में बिगाड़ लेते हैं। ऐसी अवस्था में भूल पर भूल होना स्वाभाविक है। अन्त में निराशा होकर हम आरंभ किए हुए कामों को छोड़ बैठते हैं। दुःख के समय हम गते चिन्तिते हैं। याचनिमित्त कारणों को हम दुःख का प्रधान कारण समझने लगते हैं और इसलिये हम उन्हें मला बुरा कहते और कोते हैं। इस तरह हम व्यर्थ ही क्लेश करते हैं और अपने लिये नवीन दुःख बढ़ा कर लेते हैं। ऐसे समय कर्म निदान ही शिक्षक का काम करता है और पथभ्रष्ट आत्मा को ठीक रास्ते पर लाता है। यह बतलाता है कि आत्मा अपने मान्य का निर्माता है। सुख दुःख उर्मी के किये हुए हैं। कोई भी बाह्य शक्ति आत्मा को सुख दुःख नहीं दे सकती। वृष का मूल कारण बीज है और पृथ्वी, पानी पवन आदि निमित्त माय हैं। उर्मा प्रकार दुःख का बीज हमारे ही पूर्वकृत कर्म हैं और बाह्य मान्य निमित्त माय हैं। इस विश्वास के दृढ़ होने पर आत्मा दुःख और विपत्ति के समय नहीं घबराता और न विवेक में ही हार पा बैठता है। अपने दुःख के लिये वह दूसरों का दोष भी नहीं देता। इस तरह कर्मवाद आत्मा को निराशा में बचाता है, दुःख सहने की शक्ति देता है, हृदय को शान्त और बुद्धि को स्थिर रख कर प्रतिकूल परिस्थितियों का सामना करता है।

(क) आत्माद्वैत या ब्रह्माद्वैत को मानने वाले वेदान्ती । इनके मत से एक ही आत्मा है । भिन्न भिन्न अन्तःकरणों में उसी के प्रतिबिम्ब अनेक मालूम पड़ते हैं । जिस तरह एक ही चाँद अलग अलग जलपात्रों में अनेक मालूम पड़ता है । दूसरा कोई आत्मा नहीं है । पृथ्वी, जल, तेज वगैरह महाभूत तथा सारा संसार आत्मा का ही विवर्त है अर्थात् वास्तव में सब कुछ आत्मस्वरूप ही है । जैसे अंधेरे में रस्सी साँप मालूम पड़ती है, उसी तरह आत्मा ही भ्रम से भौतिक पदार्थों के रूप में मालूम पड़ता है । इस भ्रम का दूर होना ही मोक्ष है ।

(ख) शब्दाद्वैतवादी—इस मत में संसार की सृष्टि शब्द से ही होती है । ब्रह्म भी शब्दरूप है । इसका नाम वैयाकरणदर्शन भी है । इस दर्शन पर भर्तृहरि का 'वाक्यदीप्य' नामक मुख्य ग्रन्थ है ।

(ग) सामान्यवादी—इनके मत से वस्तु सामान्यात्मक ही है । यह सांख्य और योग का सिद्धान्त है ।

ये सभी दर्शन दूसरी वस्तुओं का अपलाप करने से तथा प्रमाण विरुद्ध अद्वैतवाद को स्वीकार करने से अक्रियावादी है ।

(२) अनेकवादी—बौद्ध लोग अनेकवादी कहलाते हैं । सभी पदार्थ किसी अपेक्षा से एक तथा किसी अपेक्षा से अनेक हैं । जो लोग यह मानते हैं कि सभी पदार्थ अनेक ही हैं, अर्थात् अलग अलग मालूम पड़ने से परस्पर भिन्न ही हैं वे अनेकवादी कहलाते हैं । उनका कहना है—पदार्थों को अधिक मानने से जीव अजीव, वद्वसुक्त, सुखी दुःखी आदि सभी एक हो जाएंगे, दीक्षा वगैरह धार्मिक कार्य व्यर्थ हो जाएंगे । दूसरी बात यह है कि पदार्थों में एकता सामान्य की अपेक्षा से ही मानी जाती है । विशेष से भिन्न सामान्य नाम की कोई चीज नहीं है । इसलिए रूप से भिन्न रूपत्व नाम की कोई वस्तु नहीं है । इसी तरह

अवयवों में मिल अवयवी और धर्मों में मिल कोई धर्म भी नहीं है। सामान्य रूप में वस्तुओं के एक होने पर भी उनका निरवयव होने में यह मत भी अक्रियावादी है।

यह कहना भी शक नहीं है कि विग्रहों में मिल सामान्य नाम की कोई वस्तु नहीं है। बिना सामान्य के कई पदार्थों में या पक्षों में एक ही गुण में प्रतीति नहीं हो सकती। कई पक्षों में यह यह तथा कड़ा कुरडल वर्गस्थ पक्षों में स्वर्ग स्वर्ग यह प्रतीति सामान्य रूप एक अनुगत वस्तुके जगदी हो सकती है। सभी पदार्थों को सर्वथा विलक्षण मान लेने पर एक परमाणु को छोड़ कर शेष सभी परमाणु ही जायेंगे।

अवयवी को बिना माने अवयवों को अवयवा भी नहीं हो सकती। एक गुण रूप अवयवी मान लेने के बाद ही यह कहा जा सकता है, हाथ पर फिर वर्गस्थ गुण के अवयव है। इसी तरह धर्मों को माने बिना भी कान नहीं चलता।

सामान्य विग्रह, धर्मधर्म, अवयव अवयवी आदि क्याचित्त निमित्त तथा क्याचित्त अनिमित्त मानने में सब तरह की अवयवा शक हो जाती है।

(३) मिदवादी—जीवों के अनन्तानन्त होने पर भी जो उन्हें परिमित बताते हैं वे मिदवादी हैं। उनका मत है कि संसार एक दिन मनुष्यों में रहित हो जाएगा। अवयव जो जीव की अंगुष्ठ परिमाण, पञ्चानक दन्तुतमिमा, या अंगुष्ठमिमा मानते हैं। शान्ति में जीव समुत्पन्न प्रवेगी है। अंगुष्ठ के अमंग्यतासे मान में लेकर को लेकर दो पञ्चानक कर सकता है। इसीप्रकार अनन्त परिमाण बताते हैं। अवयव जो अमंग्यता ही मनुष्यों में कुछ चौदह गज परिमाण वाले लोक को सात और मनुष्य रूप ही बताते हैं वह मिदवादी हैं। दन्तुद निमित्त हस्त में

ये सभी अक्रियावादी हैं ।

(४) निर्मितवादी—जो लोग संसार को ईश्वर, ब्रह्म या पुरुष आदि के द्वारा निर्मित मानते हैं । उनका कहना है—पहले यह सब अन्धकारमय था । न इसे कोई जानता था, न इसका कुछ स्वरूप था । कल्पना और बुद्धि से परे था । मानो सब कुछ सोया हुआ था । वह एक अन्धकार का समुद्र सा था । न स्थावर थे न जंगम । न देवता थे न मनुष्य । न साँप थे न राक्षस । एक शून्य खड्ड सा था । कोई महाभूत न था । उस शून्यमें अचिन्त्यस्वरूप विभु लेटे हुए तपस्या कर रहे थे । उसी समय उनकी नाभि से एक कमल निकला । वह दोपहर के सूर्य की तरह दीप्त, मनोहर तथा सोने के पराग वाला था । उस कमल से दण्ड और यज्ञोपवीत से युक्त भगवान् ब्रह्मा पैदा हुए । उन्होंने आठ जगन्माताओं की सृष्टि की । उनके नाम निम्न लिखित हैं—(१) देवों की माँ अदिति (२) राक्षसों की दिति (३) मनुष्यों की मनु (४) दिविध प्रकार के पक्षियों की चिन्ता (५) साँपों की कटु (६) नाग जाति वालों की सुलसा (७) चौपायों की सुरभि और (८) सब प्रकार के चीजों की इला । वे सिद्ध करते हैं—संसार किसी बुद्धिमान् का बनाया हुआ है क्योंकि संस्थान अर्थात् विशेष आकार वाला है, जैसे घट । अनादि संसारको ईश्वरादिनिर्मित मानने से ये भी अक्रियावादी हैं ।

ईश्वर को जगत्कर्ता मानने से सभी पदार्थ उसी के द्वारा बनाए जाएंगे तो कुम्भकार बगैरह व्यर्थ हो जाएंगे । कुलाल (कुहार) आदि की तरह अगर ईश्वर भी बुद्धि की अपेक्षा रखेगा तो वह ईश्वर ही न रहेगा । ईश्वर शरीर रहित होने से भी क्रिया करने में असमर्थ है । अगर उसे शरीर वाला माना जाय तो उस के शरीर को बनाने वाला कोई दूसरा सशरीरी मानना पड़ेगा और

इस तरह अनवस्था हो जाणगी ।

(५) मातवादी—जो कहते हैं, संसार में मुख में रहना चाहिये । मुख ही में मुख की उत्पत्ति हो सकती है, तपस्या आदि दुःख में नहीं । जैसे मफेद तन्तुओं में बनाया गया कपड़ा ही मफेद हो सकता है, लाल तन्तुओं में बनाया हुआ नहीं । इसी तरह दुःख में मुख की उत्पत्ति नहीं हो सकती ।

संयम और तप जो पारमार्थिक मुख के कारण हैं उनका निराकरण करने में ये भी श्रक्रियावादी हैं ।

(६) समुच्छेदवादी—यह भी बौद्धों का ही नाम है । यस्तु प्रत्येक क्षण में सर्वथा नष्ट होती रहती है, किसी अपेक्षा में निर्य नहीं है, यही समुच्छेदवाद है । उनका कहना है—यस्तु का लक्षण है किसी कार्य का करना । निर्य यस्तु में कार्य की उत्पत्ति नहीं हो सकती, क्योंकि दूसरे पदार्थ की उत्पत्ति होने में यह निर्य नहीं रह सकता । इसलिये यस्तु को क्षणिक ही मानना चाहिये । निर्ययनाश मान लेने में आत्मा भी प्रतियोग बदलता रहेगा । इसमें स्वर्गादि की प्राप्ति उमी आत्मा को न होगी जिनने संयम आदि का पालन किया है । इसलिये यह भी श्रक्रियावादी है ।

(७) नियतवादी—सांख्य और योगदर्शन वाले नियतवादी कहलाते हैं । ये सभी पदार्थों को निर्य मानते हैं ।

(८) परमोक्त नास्तिन्यवादी—चारोंक दर्शन परमोक्त वर्गक को नहीं मानता । आत्मा को भी पाँच भूत स्वरूप ही मानता है । इसके मत में संयम आदि की कोई आवश्यकता नहीं है ।

इन सब का विरोध विस्तार इसके दूसरे भाग के ध्यान नं० ४६७ में छः दर्शन के प्रकरण में दिया गया है । (संस्कृत ८४ अर्थात् ११)

५२.२—कण आठ

जीव के शरीर विरोध को कण कहते हैं । यहाँ कण में

कर्म विषयक जीव का वीर्य विशेष विवक्षित है। करण आठ हैं—

(१) बन्धन—आत्मप्रदेशों के साथ कर्मों को क्षीर-नीर की तरह एक रूप मिलाने वाला जीव का वीर्य विशेष बन्धन कहलाता है।

(२) संक्रमण—एक प्रकार के प्रकृति, स्थिति, अनुभाग और प्रदेशबन्ध को दूसरी तरह से व्यवस्थित करने वाला जीव का वीर्य विशेष संक्रमण कहलाता है।

(३) उद्वर्तना—कर्मों की स्थिति और अनुभाग में वृद्धि करने वाला जीव का वीर्य विशेष उद्वर्तना है।

(४) अपवर्तना—कर्मों की स्थिति और अनुभाग में कमी करने वाला जीव का वीर्य विशेष अपवर्तना है।

(५) उदीरणा—अनुदय प्राप्त कर्म दलिकों को उदयावलिका में प्रवेश कराने वाला जीव का वीर्य विशेष उदीरणा है।

(६) उपशमना—जिस वीर्य विशेष के द्वारा कर्म उदय, उदीरणा, निधत्ति और निकाचना के अयोग्य हो जाँय वह उपशमना है।

(७) निधत्ति—जिससे कर्म उद्वर्तना और अपवर्तनाकरण के सिवा विशेष करणों के अयोग्य हो जाँय वह वीर्य विशेष निधत्ति है।

(८) निकाचना—कर्मों को सभी करणों के अयोग्य एवं अवश्यवेद्य बनाने वाला जीव का वीर्य विशेष निकाचना है।

(कर्मप्रकृति गाथा २)

५९.३—आत्मा के आठ भेद

जो लगातार दूसरी दूसरी स्व-पर पर्यायों को प्राप्त करता रहता है वह आत्मा है। अथवा जिसमें हमेशा उपयोग अर्थात् बोध रूप व्यापार पाया जाय वह आत्मा है। तत्त्वार्थ सूत्र में आत्मा का लक्षण बताते हुए कहा है—‘उपयोगो लक्षणम्’ अर्थात् आत्मा का स्वरूप उपयोग है।

उपयोग की अपेक्षा सामान्य रूप से सभी आत्माएँ एक प्रकार

की हैं किन्तु विविष्ट गुण और उपाधि को प्रधान मानकर आत्मा के आठ भेद बताये गये हैं । ये इस प्रकार हैं—

(१) द्रव्यान्मा—विकालवर्ती द्रव्य रूप आत्मा द्रव्यान्मा है । यह द्रव्यान्मा सभी जीवों के होती है ।

(२) कषायान्मा—क्रोध, मान माया, लोभ रूप कषाय विविष्ट आत्मा कषायान्मा है । उपग्रान्त एवं धीग कषाय आत्माओं के मिश्रण से सभी संसारी जीवों के यह आत्मा होती है ।

(३) योगान्मा—मन वचन काया के व्यापार को योग कहते हैं । योगप्रधान आत्मा योगान्मा है । योग वाले सभी जीवों के यह आत्मा होती है । असोमी केवली और मिदों के यह आत्मा नहीं होती, क्योंकि ये योग रहित होते हैं ।

(४) उपयोगान्मा—ज्ञान और दर्शन रूप उपयोग प्रधान आत्मा उपयोगान्मा है । उपयोगान्मा मिद और संसारी सम्मगदष्टि और मिथ्यादष्टि सभी जीवों के होती है ।

(५) ज्ञानान्मा—विशेष अतुल्य रूप सम्मगज्ञान से विविष्ट आत्मा को ज्ञानान्मा कहते हैं । ज्ञानान्मा सम्मगदष्टि जीवों के होती है ।

(६) दर्शनान्मा—सामान्य अवरोध रूप दर्शन से विविष्ट आत्मा को दर्शनान्मा कहते हैं । दर्शनान्मा सभी जीवों के होती है ।

(७) चाग्निान्मा—चाग्नि गुण विविष्ट आत्मा को चाग्निान्मा कहते हैं । चाग्निान्मा विगति वालों के होती है ।

(८) धीरान्मा—उन्मत्तादि रूप काग्णों से युक्त धीर विविष्ट आत्मा को धीरान्मा कहते हैं । यह सभी संसारी जीवों के होती है । यहाँ धीर से मद्धग धीर लिया जाता है । मिदान्माओं के मद्धग धीर नहीं होता, अतएव उनमें धीरान्मा नहीं मानी गई है । उनमें भी जग्य धीर की अपेक्षा धीरान्मा मानी गई है ।

आत्मा के आठ भेदों में परम्पर क्या सम्बन्ध है ? यह भेद

में दूसरा भेद रहता है या नहीं ? इसका उत्तर निम्न प्रकार है—

जिस जीव के द्रव्यात्मा होती है उसके कपायात्मा होती भी है और नहीं भी होती । सकपायी द्रव्यात्मा के कपायात्मा होती है और अकपायी द्रव्यात्मा के कपायात्मा नहीं होती, किन्तु जिस जीव के कपायात्मा होती है उसके द्रव्यात्मा नियम रूप से होती है । द्रव्यात्मत्व अर्थात् जीवत्व के बिना कपायों का सम्भव नहीं है ।

जिस जीव के द्रव्यात्मा होती है, उसके योगात्मा होती भी है और नहीं भी होती । जो द्रव्यात्मा सयोगी है उसके योगात्मा होती है और जो अयोगी है उसके योगात्मा नहीं होती, किन्तु जिस जीव के योगात्मा होती है उसके द्रव्यात्मा नियमपूर्वक होती है । द्रव्यात्मा जीव रूप है और जीव के बिना योगों का सम्भव नहीं है ।

जिस जीव के द्रव्यात्मा होती है उसके उपयोगात्मा नियम से होती है एवं जिसके उपयोगात्मा होती है उसके द्रव्यात्मा नियम से होती है । द्रव्यात्मा और उपयोगात्मा का परस्पर नित्य सम्बन्ध है । सिद्ध और संसारी सभी जीवों के द्रव्यात्मा भी है और उपयोगात्मा भी है । द्रव्यात्मा जीव रूप है और उपयोग उसका लक्षण है । इसलिये दोनों एक दूसरी में नियम रूप से पाई जाती हैं ।

जिसके द्रव्यात्मा होती है उसके ज्ञानात्मा की भजना है । क्योंकि सम्यग्दृष्टि द्रव्यात्मा के ज्ञानात्मा होती है और मिथ्या-दृष्टि द्रव्यात्मा के ज्ञानात्मा नहीं होती । किन्तु जिसके ज्ञानात्मा है उसके द्रव्यात्मा नियम से है । द्रव्यात्मा के बिना ज्ञान की सम्भावना ही नहीं है ।

जिसके द्रव्यात्मा होती है उसके दर्शनात्मा नियम पूर्वक होती है और जिसके दर्शनात्मा होती है उसके भी द्रव्यात्मा नियम पूर्वक होती है । द्रव्यात्मा और उपयोगात्मा की तरह द्रव्यात्मा और दर्शनात्मा में भी नित्य सम्बन्ध है ।

जिसके द्रव्यान्मा होती है उसके चाग्निआन्मा की मजना है । विगति वाले द्रव्यान्मा में चाग्निआन्मा पाई जाती है । विगति रहित संमारी और मिद्ध जीवों में द्रव्यान्मा होने पर भी चाग्निआन्मा नहीं पाई जाती किन्तु जिस जीव के चाग्निआन्मा है उसके द्रव्यान्मा नियम में होती ही है । द्रव्यान्मन्व के बिना चाग्नि संभव ही नहीं है ।

जिसके द्रव्यान्मा होती है उसके वीर्यान्मा की मजना है । मकरग वीर्य रहित मिद्ध जीवों में द्रव्यान्मा है पर वीर्यान्मा नहीं है । संमारी जीवों के द्रव्यान्मा और वीर्यान्मा दोनों ही हैं, परन्तु जहाँ वीर्यान्मा है वहाँ द्रव्यान्मा नियम रूप में रहती ही है । वीर्यान्मा वाले सभी संमारी जीवों में द्रव्यान्मा होती ही है ।

सारांश यह है कि द्रव्यान्मा में कषायान्मा, योगान्मा, ज्ञानान्मा चाग्निआन्मा और वीर्यान्मा की मजना है पर उक्त आन्माओं में द्रव्यान्मा का रहना निश्चित है । द्रव्यान्मा और उपयोगान्मा तथा द्रव्यान्मा और दर्शनान्मा इनमें परस्पर नित्य सम्बन्ध है । इस प्रकार द्रव्यान्मा के साथ गेय मात्र आन्माओं का सम्बन्ध है ।

कषायान्मा के साथ आगे की छः आन्माओं का सम्बन्ध इस प्रकार है— जिस जीव के कषायान्मा होती है उसके : योगान्मा नियम पूर्वक होती है । मकरार्थी आन्मा अयोगी नहीं होती । जिसके योगान्मा होती है उसके कषायान्मा की मजना है, क्योंकि मयोगी आन्मा मकरार्थी और अकषार्थी दोनों प्रकार की होती है ।

जिस जीव के कषायान्मा होती है उसके उपयोगान्मा नियम पूर्वक होती है क्योंकि उपयोग रहित के कषाय का अभाव है । किन्तु उपयोगान्मा वाले जीव के कषायान्मा की मजना है, क्योंकि ग्याग्रहवे में चांदहवे गुणम्यान वाले तथा मिद्ध जीवों में उपयोगान्मा तो है पर उनमें कषाय का अभाव है ।

जिसके कषायान्मा होती है उसके ज्ञानान्मा की मजना है ।

मिथ्यादृष्टि के कपायात्मा होते हुए भी ज्ञानात्मा नहीं होती। इसी प्रकार जिस जीव के ज्ञानात्मा होती है उसके भी कपायात्मा की भजना है। ज्ञानी कपाय सहित भी होते हैं और कपाय रहित भी।

जिस जीव के कपायात्मा होती है उसके दर्शनात्मा नियम से होती है। दर्शन रहित घटादि में कपायों का सर्वथा अभाव है। दर्शनात्मा वालों में कपायात्मा की भजना है, क्योंकि दर्शनात्मा वाले जीव सकपायी और अकपायी दोनों प्रकार के होते हैं।

जिस जीव के कपायात्मा होती है उसके चारित्रात्मा की भजना है और चारित्रात्मा वाले के भी कपायात्मा की भजना है। कपाय वाले जीव संयत और असंयत दोनों प्रकार के होते हैं। चारित्र वालों में भी कपाय सहित और अकपायी दोनों शामिल हैं। सामायिक आदि चारित्र वालों में कपाय रहती है और यथा-ख्यात चारित्र वाले कपाय रहित होते हैं।

जिस जीव के कपायात्मा है उसके वीर्यात्मा नियम पूर्वक होती है। वीर्य रहित जीव में कपायों का अभाव पाया जाता है। वीर्यात्मा वाले जीवों के कपायात्मा की भजना है, क्योंकि वीर्यात्मा वाले जीव सकपायी और अकपायी दोनों प्रकार के होते हैं।

योगात्माओं के साथ आगे की पाँच आत्माओं का पारस्परिक सम्बन्ध निम्न लिखितानुसार है— जिस जीव के योगात्मा होती है उसके उपयोगात्मा नियम पूर्वक होती है। सभी सयोगी जीवों में उपयोग होता ही है। किन्तु जिसके उपयोगात्मा होती है उसके योगात्मा होती भी है और नहीं भी होती। चौदहवें गुणस्थानवर्ती अयोगी केवली तथा सिद्ध आत्माओं में उपयोगात्मा होते हुए भी योगात्मा नहीं है।

जिस जीव के योगात्मा होती है उसके ज्ञानात्मा की भजना है। मिथ्यादृष्टि जीवों में योगात्मा होते हुए भी ज्ञानात्मा नहीं

होती। इसी प्रकार ज्ञानान्मा वाले जीव के भी योगान्मा की मजना है। चतुर्दश गुणस्थानवर्ती अयोगी केवली तथा सिद्ध जीवों में ज्ञानान्मा होने हुए भी योगान्मा नहीं है।

जिस जीव के योगान्मा होती है उसके दर्शनान्मा होती ही है, क्योंकि सभी जीवों में दर्शन रहना ही है। किन्तु जिस जीव के दर्शनान्मा है उसके योगान्मा की मजना है, क्योंकि दर्शन वाले जीव योग महित भी होते हैं और योग रहित भी।

जिस जीव के योगान्मा होती है उसके चारित्रान्मा की मजना है। योगान्मा होने हुए भी अचिरानि जीवों में चारित्रान्मा नहीं होती इसी तरह जिस जीव के चारित्रान्मा होती है उसके भी योगान्मा की मजना है। चौदहवें गुणस्थानवर्ती अयोगी जीवों के चारित्रान्मा तो है पर योगान्मा नहीं है। दूसरी वाचना में यह बताया है कि जिसके चारित्रान्मा होती है उसके नियम पूर्वक योगान्मा होती है। यहाँ प्रत्युपेक्षणादि व्यापार रूप चारित्र की शिखा है और यह चारित्र योग पूर्वक ही होता है।

जिसके योगान्मा होती है उसके धीर्यान्मा होती ही है क्योंकि योग होने पर धीर्य अवश्य होता ही है पर जिसके धीर्यान्मा होती है उसके योगान्मा की मजना है। अयोगी केवली में धीर्यान्मा तो है पर योगान्मा नहीं है। यह बात कर्म और लब्धि दोनों धीर्यान्माओं को लेकर कही गई है। जहाँ कर्म धीर्यान्मा है वहाँ योगान्मा अवश्य रहेगी। जहाँ लब्धि धीर्यान्मा है वहाँ योगान्मा की मजना है।

उपयोगान्मा के साथ ऊपर की चार आत्माओं का सम्बन्ध इस प्रकार है— जहाँ उपयोगान्मा है वहाँ ज्ञानान्मा की मजना है। निष्वाद्यादि जीवों में उपयोगान्मा होने हुए भी ज्ञानान्मा नहीं होती। जहाँ उपयोगान्मा है वहाँ दर्शनान्मा निदम रूप में

रहती है। जहाँ उपयोगात्मा है वहाँ चारित्रात्मा की भजना है। असंयती जीवों के उपयोगात्मा तो होती है पर चारित्रात्मा नहीं होती। जहाँ उपयोगात्मा है वहाँ वीर्यात्मा की भजना है। सिद्धों में उपयोगात्मा के होते हुए भी करण वीर्यात्मा नहीं पाई जाती।

ज्ञानात्मा, दर्शनात्मा, चारित्रात्मा और वीर्यात्मा में उपयोगात्मा नियम पूर्वक रहती है। जीव का लक्षण उपयोग है। उपयोग लक्षण वाला जीव ही ज्ञान, दर्शन, चारित्र, और वीर्य का धारक होता है। उपयोग शून्य घटादि में ज्ञानादि नहीं पाये जाते।

ज्ञानात्मा के साथ ऊपर की तीन आत्माओं का सम्बन्ध निम्न लिखितानुसार है। जहाँ ज्ञानात्मा है वहाँ दर्शनात्मा नियम पूर्वक होती है। ज्ञान सम्यग्दृष्टि जीवों के होता है और वह दर्शन पूर्वक ही होता है। किन्तु जहाँ दर्शनात्मा है वहाँ ज्ञानात्मा की भजना है। मिथ्यादृष्टि जीवों के दर्शनात्मा होते हुए भी ज्ञानात्मा नहीं होती।

जहाँ ज्ञानात्मा है वहाँ चारित्रात्मा की भजना है। अचिरति सम्यग्दृष्टि जीव के ज्ञानात्मा होते हुए भी चारित्रात्मा नहीं होती। जहाँ चारित्रात्मा है वहाँ ज्ञानात्मा नियम पूर्वक होती है, क्योंकि ज्ञान के बिना चारित्र का अभाव है।

जिस जीव के ज्ञानात्मा होती है उसके वीर्यात्मा होती भी है और नहीं भी होती। सिद्ध जीवों में ज्ञानात्मा के होते हुए भी करण वीर्यात्मा नहीं होती। इसी प्रकार जहाँ वीर्यात्मा है वहाँ भी ज्ञानात्मा की भजना है। मिथ्यादृष्टि जीवों के वीर्यात्मा होते हुए भी ज्ञानात्मा नहीं होती।

दर्शनात्मा के साथ चारित्रात्मा और वीर्यात्मा का सम्बन्ध इस प्रकार है—जहाँ दर्शनात्मा होती है वहाँ चारित्रात्मा और वीर्यात्मा की भजना है। दर्शनात्मा के होते हुए भी असंयतियों

के चारित्र्यान्मा नहीं होती और मिट्टी के कारण वीर्यान्मा नहीं होती । किन्तु जहाँ चारित्र्यान्मा और वीर्यान्मा हैं वहाँ दर्शनान्मा नियमतः होती है, क्योंकि दर्शन तो सभी जीवों में होता ही है।

चारित्र्यान्मा और वीर्यान्मा का सम्बन्ध इस प्रकार है—जिम जीव के चारित्र्यान्मा होती है उसके वीर्यान्मा होती ही है, क्योंकि वीर्य के बिना चारित्र्य का अभाव है । किन्तु जिम जीव के वीर्यान्मा होती है उसके चारित्र्यान्मा की मज्जा है । अमरपत आत्माओं में वीर्यान्मा के होते हुए भी चारित्र्यान्मा नहीं होती ।

इन आठ आत्माओं का अल्प बहुल्य इस प्रकार है— सब से थोड़ी चारित्र्यान्मा है, क्योंकि चारित्र्यवान् जीव संख्यात ही हैं । चारित्र्यान्मा में ज्ञानान्मा अनन्तगुणी है, क्योंकि मिट्टी और मय्यन्दति जीव चारित्र्यी जीवों में अनन्तगुण हैं । ज्ञानान्मा में कषायान्मा अनन्तगुणी है, क्योंकि मिट्टी की अपेक्षा कषायों के उदय वाले जीव अनन्तगुण हैं । कषायान्मा में योगान्मा विशेषाधिक है, क्योंकि योगान्मा में कषायान्मा तो शामिल है ही और कषाय रहित योग वाले जीवों का भी इसमें समावेश हो जाता है । योगान्मा में वीर्यान्मा विशेषाधिक है, क्योंकि वीर्यान्मा में अयोगी आत्माओं का समावेश है । उपयोगान्मा, द्रव्यान्मा और दर्शनान्मा ये तीनों तुल्य हैं, क्योंकि सभी सामान्य जीव रूप हैं परन्तु वीर्यान्मा में विशेषाधिक है क्योंकि इन तीन आत्माओं में वीर्यान्मा वाले समान जीवों के अतिरिक्त मिट्टी जीवों का भी समावेश होता है । (भगवती सूत्र १० १० ३०१० मू० ४६०)

५.१.२— अनेकान्तवाद पर आठ दोष और

उनका वाग्ण

परम्पर विशेषी मान्य पढ़ने वाले अनेक धर्मों का सम्बन्ध

अनेकांतवाद, सप्तमङ्गीवाद या स्याद्वाद हैं। इसमें एकांतवादियों की तरफ से आठ दोष दिये जाते हैं। वस्तु को नित्यानित्य, द्रव्यपर्यायात्मक, सदसत् या किसी भी प्रकार अनेकान्तरूप मानने से घटाये जा सकते हैं।

(१) विरोध— परस्पर विरोधी दो धर्म एक साथ एक ही वस्तु में नहीं रह सकते। जैसे एक ही वस्तु काले रंग वाली और बिना कालेरंग वाली नहीं हो सकती, इसी प्रकार एक ही वस्तु भेद वाली और बिना भेद वाली नहीं हो सकती, क्योंकि भेद वाली होना और न होना परस्पर विरोधी हैं। एक के रहने पर दूसरा नहीं रह सकता। विरोधी धर्मों को एक स्थान पर मानने से विरोध दोष आता है।

(२) वैयाधिकरण्य— जिस वस्तु में जो धर्म कहे जाय वे उसी में रहने चाहिए। यदि उन दोनों धर्मों के अधिकरण या आधार भिन्न भिन्न हों तो यह नहीं कहा जा सकता कि वे दोनों एक ही वस्तु में रहते हैं। जैसे— घटत्व का आधार घट और पटत्व का आधार पट है। ऐसी हालत यह नहीं कहा जा सकता कि घटत्व और पटत्व दोनों समानाधिकरण या एक ही वस्तु में रहने वाले हैं। भेदाभेदात्मक वस्तु में भेद का अधिकरण पर्याय और अभेद का अधिकरण द्रव्य है। इसलिए भेद और अभेद दोनों के अधिकरण अलग अलग हैं। ऐसी दशा में यह नहीं कहा जा सकता कि भेद और अभेद दोनों एक ही वस्तु में रहते हैं। भिन्न भिन्न अधिकरण वाले धर्मों को एक जगह मानने में वैयाधिकरण्य दोष आता है।

(३) अनवस्था— जहाँ एक वस्तु की सिद्धि के लिये दूसरी वस्तु की सिद्धि करना आवश्यक हो और दूसरी के लिये तीसरी, चौथी, इसी प्रकार परम्परा चल पड़े और उत्तरोत्तर की असिद्धि

मे पूर्वपूर्व में अमिद्धि आती जाय उसे अनवस्था कहें हैं ।

जिम स्वभाव के कारण वस्तु में भेद कहा जाता है और जिमके कारण अभेद कहा जाता है वे दोनों स्वभाव भी मित्राभिन्नान्मक मानने पड़ेंगे, नहीं तो वही एकान्तवाद आ जायगा । उन्हें मित्राभिन्न मानने पर वहाँ भी अपेक्षा बतानी पड़ेगी कि इस अपेक्षा में मित्र है और अमुके अपेक्षा में अमित्र । इस प्रकार उत्तरोत्तर कल्पना करने पर अनवस्था दोष है ।

(४) मझूर— मके जगह अनेकान्ते मानने में यह भी कहें पड़ेगा कि जिम रूप में भेद है उमी रूप में अभेद भी है । नहीं तो एकान्तवाद आ जायगा । एक ही रूप से भेद और अभेद दोनों मानने में मझूर दोष है ।

(५) व्यतिकर— जिम रूप में भेद है उमी रूप में अभेद मान लेने पर भेद का कारण अभेद करने वाला तथा अभेद का कारण भेद करने वाला हो जायगा । इस प्रकार व्यतिकर दोष है ।

(६) मंशय— भेदाभेदान्मक मानने पर किसी वस्तु का विरुद्ध अर्थात् दूसरे पदार्थों में अलग करके निश्चय नहीं किया जा सकेगा और इस प्रकार मंशय दोष आ जायगा ।

(७) अप्रतिपक्षि— मंशय होने पर किसी वस्तु का ठीक ठीक ज्ञान न हो सकेगा और अप्रतिपक्षि दोष आ जायगा ।

(८) अद्वयस्था— इस प्रकार ज्ञान न होने में विषयों की अवस्था भी न हो सकेगी ।

दोषों का निराकरण

जैन मिदान्त पर लगाए गए उपर बाने दोष ठीक नहीं हैं । विरोध उन्हीं वस्तुओं में कहा जा सकता है जो एक स्थान पर न मिलें । जो वस्तुएं एक साथ एक अधिकरण में स्पर्शमान पड़ती हैं उनका विरोध नहीं कहा जा सकता । काला

और सफेद भी यदि एक स्थान पर मिलते हैं तो उनका विरोध नहीं है। बौद्ध कई रंगों वाले वस्त्र के एक ही ज्ञान में काला और सफेद दोनों प्रतीतियाँ मानते हैं। योग शास्त्र को मानने वाले भी भिन्न भिन्न रंगों के समूह रूप एक चित्र रूप को मानते हैं। भिन्न भिन्न प्रदेशों की अपेक्षा एक ही वस्तु में चल अचल, रक्त अरक्त, आवृत अनावृत आदि विरोधी धर्मों का ज्ञान होता ही है, इसलिए इसमें विरोध दोष नहीं लग सकता। वैयधिकरण्य दोष भी नहीं है, क्योंकि भेद और अभेद का अधिकरण भिन्न भिन्न नहीं है। एक ही वस्तु अपेक्षा भेद से दोनों का अधिकरण है। अनवस्था भी नहीं है, क्योंकि पर्याय रूप से किसी अलग भेद की कल्पना नहीं होती, पर्याय ही भेद है। इसी प्रकार द्रव्य रूप से किसी अभेद की कल्पना नहीं होती किन्तु द्रव्य ही अभेद है। अलग पदार्थों की कल्पना करने पर ही अनवस्था की सम्भावना होती है, अन्यथा नहीं। सङ्कर और व्यक्तिकर दोष भी नहीं हैं। जैसे कई रंगों वाली मेचकमणि में कई रंग प्रतीत होते हैं। इसी प्रकार यहाँ भी सामान्य विशेष विवक्षा करने पर किसी प्रकार दोष नहीं आता। जैसे वहाँ प्रतिभास होने के कारण उसे ठीक मान लिया जाता है इसी प्रकार यहाँ भी ठीक मान लेना चाहिए। संशय नहीं होता है जहाँ किसी प्रकार का निश्चय न हो। यहाँ दोनों कोटियों का निश्चय होने के कारण संशय नहीं कहा जा सकता। इस प्रकार वस्तु का सम्यक् ज्ञान हो पर अप्रतिपत्ति दोष भी नहीं लगता। इसलिए स्याद्वाद में कोई दोष नहीं है।

(प्रमाण मीमांसा अध्याय १ आह्निक १ सूत्र ३३ टीका)

५९५— आठ वचन विभक्तियाँ

बोलकर या लिखकर भाव प्रकट करने में क्रिया और वाम

का मुख्य स्थान है। क्रिया के बिना यह नहीं व्यक्त किया जा सकता कि क्या हो रहा है और नाम या प्रातिपदिक के बिना यह नहीं बताया जा सकता कि क्रिया कहाँ, कैसे, किम के द्वारा और किम के लिए हो रही है।

क्रिया का ज्ञान हो जाने के बाद यह जानने की इच्छा होती है कि क्रिया का करने वाला कौन है जो बोल रहा है, या जो सुन रहा है या इन दोनों के मित्राद्य कोई तीसरा है। हम यह भी जानना चाहते हैं कि क्रिया को करने वाला एक है, दो है या उसमें अधिक हैं। इन सब जिज्ञासाओं को पूरा करने के लिए क्रिया के साथ कुछ चिह्न जोड़ दिए जाते हैं जो इन सब का विभाग कर देते हैं। इसीलिए उन्हें विभक्ति कहा जाता है। संस्कृत में क्रिया के आगे चलने वाली अठारह विभक्तियाँ हैं। तीन पुरुषों में प्रत्येक का एक वचन, द्विवचन और बहुवचन। इस तरह नौ आत्मनेपद और नौ परस्मैपद। हिन्दी में द्विवचन नहीं होता। आत्मनेपद और परस्मैपद का भेद भी नहीं है। इस लिए छः ही रह जाती हैं।

नाम अर्थात् प्रातिपदिक के लिए भी यह जानने की इच्छा होती है, क्रिया किमने की, क्रिया किम को लक्ष्य करके हुई, उसमें कौन सी वस्तु साधन के रूप में काम लाई गई, किमके लिए हुई इत्यादि। इन सब बातों की जानकारी के लिए नाम में आगे लगने वाली आठ विभक्तियाँ हैं। संस्कृत में मात्र ही हैं। सम्बोधन का पहिला विभक्ति में अन्तर्भाव हो जाता है।

इसका स्वरूप यहाँ ब्रह्मणः लिखा जाता है—

(१) कर्ता— क्रिया के करने में जो व्यक्तित्व हो उसे कर्ता कहते हैं। जैसे गम जाता है, यहाँ गम कर्ता है। हिन्दी में कर्ता का चिह्न 'ने' है। वर्तमान आत्मविशेष काल में यह चिह्न नहीं लगता।

(२) कर्म—कर्ता क्रिया के द्वारा जिस वस्तु को प्राप्त करना चाहता है उसे कर्म कहते हैं। जैसे राम पानी पीता है। यहाँ कर्ता पीना रूप क्रिया द्वारा पानी को प्राप्त करना चाहता है। इसलिए पानी कर्म है। इसका चिह्न है 'को'। यह भी बहुत जगह बिना चिह्न के आता है।

(३) करण—क्रिया की सिद्धि में जो वस्तु बहुत उपयोगी हो, उसे करण कहते हैं। जैसे—राम ने गिलास से पानी पीया। यहाँ 'गिलास' पीने का साधन है। इसके चिह्न हैं—'से' और 'के द्वारा'।

(४) सम्प्रदान—जिसके लिए क्रिया हो उसे सम्प्रदान कहते हैं। जैसे—राम के लिए पानी लाओ। यहाँ राम सम्प्रदान है। इसका चिह्न है 'के लिये'। संस्कृत में यह कारक मुख्य रूप से 'देना' अर्थ वाली क्रियाओं के योग में आता है। कई जगह हिन्दी में जहाँ सम्प्रदान आता है, संस्कृत में उस जगह कर्म कारक भी आजाता है। इनका सूक्ष्म विवेचन दोनों भाषाओं की व्याकरण पढ़ने से मालूम पड़ सकता है।

(५) अपादान—जहाँ एक वस्तु दूसरी वस्तु से अलग होती हो वहाँ अपादान आता है। जैसे—वृक्ष से पत्ता गिरता है। यहाँ वृक्ष अपादान है। इसका चिह्न है 'से'।

(६) सम्बन्ध—जहाँ दो वस्तुओं में परस्पर सम्बन्ध बताया गया हो, उसे सम्बन्ध कहते हैं। जैसे राजा का पुरुष। इसके चिह्न हैं 'का, की, के'। संस्कृत में इसे कारक नहीं माना जाता, क्योंकि इसका क्रिया के साथ कोई सम्बन्ध नहीं।

(७) अधिकरण—आधार को अधिकरण कहते हैं। जैसे मेज पर किताब है, यहाँ मेज। इसके चिह्न हैं 'में, पे, पर'।

(८) सम्बोधन—किसी व्यक्ति की दूर से बुलाने में सम्बोधन विभक्ति आती है। जैसे हे राम ! यहाँ आओ। इसके चिह्न

‘हे, अरे, ओ’ इत्यादि हैं। बिना चिह्न के भी इसका प्रयोग होता है।

हिन्दी में सम्बोधन सहित आठ कारक माने जाते हैं। संस्कृत में सम्बोधन और सम्बन्ध को छोड़ कर छः। अंग्रेजी में इन्हें केन कहते हैं। केन तीन ही हैं—कर्ता, कर्म और सम्बन्ध। बाकी कारकों का काम अव्यय पद (Preposition) जोड़ने में चलता है।

(वैयाकरण मिहान्त कौमुदी कारक प्रकरण) (अनुयोगशार म. १०८)
(टांग्रांग = उ ३ मूत्र ६०६)

५९६—गण आठ

काव्य में छन्दों का लक्षण बनाने के लिए तीन तीन मात्राओं के आठ गण होते हैं। इनके स्वरूप और मेट इमी पुस्तक के प्रथम भाग बोल नं० २१३ में दे दिये गए हैं। इनके नाम इन प्रकार हैं—१ मगण (SSS) २ नगण (III) ३ मगण (JII) ४ यगण (ISS) ५ जगण (ISJ) ६ गगण (JIS) ७ मगण (IIS) = तगण (SJI)। ‘S’ यह चिह्न गुरु का है और ‘I’ लघु का।

गणों का मेट जानने के लिए नीचे लिखा श्लोक उपयोगी है—
मगिगुरुमिलघुश्च नकागो, मादिगुरुः पुनगदिलघुः।
त्रो गुरुमध्यगतो ग्लमध्यः, मोञ्जगुरुः कथितोन्नतपुनः।

अर्थान्—मगण में तीनों गुरु होते हैं और नगण में तीनों लघु। मगण में पहला अक्षर गुरु होता है और यगण में पहला लघु। जगण में मध्यमाक्षर गुरु होता है और गगण में लघु। मगण में अन्तिम अक्षर गुरु होता है और तगण में अन्तिम लघु।

(सिंगल) (छन्द मञ्जरी)

५९७—स्पर्श आठ

(१) कच्छ—कच्छर जैसा कच्छर स्पर्श कच्छर कहलाता है।

(२) मृदु—मृदुगर्भ की तरह कोमल स्पर्श मृदु कहलाता है।

(३) लघु—जो इन्का हो उसे लघु कहते हैं।

(४) गुरु—जो भारी हो वह गुरु कहलाता है।

- (५) स्निग्ध—चिकना स्पर्श स्निग्ध कहलाता है ।
 (६) रुच—रूखे पदार्थ का स्पर्श रुच कहलाता है ।
 (७) शीत—ठण्डा स्पर्श शीत कहलाता है ।
 (८) उष्ण—अग्नि की तरह उष्ण (गर्म) स्पर्श को उष्ण कहते हैं ।
 (ठाणांग ८ उ. ३ सूत्र ५६६) (पञ्चवर्णा पद २३ उ० २)

५९८—दर्शन आठ

- वस्तु के सामान्य प्रतिभास को दर्शन कहते हैं । ये आठ हैं—
 (१) सम्यग्दर्शन—यथार्थ प्रतिभास को सम्यग्दर्शन कहते हैं ।
 (२) मिथ्यादर्शन—मिथ्या अर्थात् विपरीत प्रतिभास को मिथ्यादर्शन कहते हैं ।
 (३) सम्यग् मिथ्यादर्शन—कुछ सत्य और कुछ मिथ्या प्रतिभास को सम्यग् मिथ्यादर्शन कहते हैं ।
 (४) चतुर्दर्शन (५) अचतुर्दर्शन (६) अवधिदर्शन (७) केवलदर्शन इन चारों का स्वरूप प्रथम भाग के बोल नं० १६६ में दे दिया गया है ।
 (८) स्वप्नदर्शन—स्वप्न में कल्पित वस्तुओं को देखना ।
 (ठाणांग ८ उ. ३ सूत्र ५६६) (पञ्च. पद. २ सू. २६)

५९९—वेदों का अल्प बहुत्व आठ प्रकार से

संख्या में कौन किससे कम है और कौन किससे अधिक है, यह बताने को अल्पबहुत्व कहते हैं । जीवाभिगम सूत्र में यह आठ प्रकार का बताया गया है ।

- (१) तिर्यञ्चयोनि के स्त्री पुरुष और नपुंसकों की अपेक्षा से—तिर्यञ्च योनि के पुरुष सब से थोड़े हैं, तिर्यञ्च योनि की स्त्रियाँ उनसे संख्यातगुणी अधिक हैं, नपुंसक उनसे अनन्तगुणे हैं ।
 (२) मनुष्य गति के पुरुष, स्त्री और नपुंसकों की सब से कम मनुष्य पुरुष हैं, मनुष्य स्त्रियाँ उनसे

तथा मनुष्य नपुंसक उनमें अमंश्यात गुण हैं ।

(३) आसपातिक जन्म वान्तों अर्थात् देव स्त्री पुरुष और नारक नपुंसकों की अपेक्षा में—नारक गति के नपुंसक सब में थोड़े हैं । देव उनमें अमंश्यातगुण तथा देवियाँ देवों में मंश्यातगुणी ।

(४) चारों गतियों के स्त्री पुरुष और नपुंसकों की अपेक्षा में—मनुष्य पुरुष सब में कम हैं, मनुष्य स्त्रियाँ उनमें मंश्यातगुणी, मनुष्य नपुंसक उनमें अमंश्यातगुण । नारकी नपुंसक उनमें अमंश्यातगुण, निर्यश्चयोनि के पुरुष उनमें अमंश्यागुण, निर्यश्च योनि की स्त्रियाँ उनमें मंश्यातगुणी देव पुरुष उनमें अमंश्यातगुण, देवियाँ उनमें मंश्यातगुणी, निर्यश्चयोनि के नपुंसक उनमें अनन्तगुण ।

(५) जलचर, स्थलचर और मेचर तथा पञ्चेन्द्रियादि मंदों की अपेक्षा में—मेचर पञ्चेन्द्रिय निर्यश्चयोनि के पुरुष सब में कम हैं । मेचर पञ्चेन्द्रिय निर्यश्चयोनि की स्त्रियाँ उनमें मंश्यातगुणी हैं । स्थलचर पञ्चेन्द्रिय निर्यश्चयोनि के पुरुष उनमें मंश्यातगुण हैं, स्थलचर पञ्चेन्द्रिय निर्यश्चयोनि की स्त्रियाँ उनमें मंश्यातगुणी, जलचर पञ्चेन्द्रिय निर्यश्चयोनि के पुरुष उनमें मंश्यातगुण, तथा स्त्रियाँ उनमें मंश्यातगुणी हैं । मेचर पञ्चेन्द्रिय निर्यश्चयोनि के नपुंसक उनमें अमंश्यातगुण, स्थलचर पञ्चेन्द्रिय निर्यश्चयोनि के नपुंसक उनमें मंश्यातगुण, जलचर पञ्चेन्द्रिय निर्यश्चयोनि के नपुंसक उनमें मंश्यातगुण, चतुर्गिन्द्रिय निर्यश्च उनमें कुछ अधिक हैं, त्र्येन्द्रिय उनमें विनेताधिक हैं तथा द्वेन्द्रिय उनमें विनेताधिक हैं । उनकी अपेक्षा में उद्धार के निर्यश्चयोनि के नपुंसक अमंश्यातगुण हैं, पृथ्वीकाय के नपुंसक उनमें विनेताधिक, अपरकाय के उनमें विनेताधिक, वायुकाय के उनमें विनेताधिक, दनस्पतिकाय के पञ्चेन्द्रिय नपुंसक उनमें अनन्तगुण हैं ।

(६) कर्मभूमिज आदि मनुष्य, स्त्री, पुरुष तथा नपुंसकों की अपेक्षा से—अन्तर्द्वीपों की स्त्रियाँ और पुरुष सब से कम हैं। युगल के रूप में उत्पन्न होने से स्त्री और पुरुषों की संख्या वहाँ भी बराबर ही है। देवकुरु और उत्तरकुरु रूप अकर्मभूमियों के स्त्री पुरुष उनसे संख्यातगुणे हैं। स्त्री और पुरुषों की संख्या वहाँ भी बराबर ही है। हरिवर्ष और रम्यकवर्ष के स्त्री पुरुष उनसे संख्यातगुणे तथा हैमवत और हैरण्यवत के उनसे संख्यातगुणे हैं। युगलिते होने के कारण स्त्री और पुरुषों की संख्या इनमें भी बराबर है। भरत और ऐरावत के कर्मभूमिज पुरुष उनसे संख्यातगुणे हैं, लेकिन आपस में बराबर हैं। दोनों क्षेत्रों की स्त्रियाँ उनसे संख्यातगुणी (सत्ताईस गुणी) हैं। आपस में ये बराबर हैं। पूर्वविदेह और अपरविदेह के कर्मभूमिज पुरुष उनसे संख्यातगुणे हैं। स्त्रियाँ उनसे संख्यातगुणी अर्थात् सत्ताईसगुणी हैं। अन्तर्द्वीपों के नपुंसक उनसे असंख्यातगुणे हैं। देवकुरु और उत्तरकुरु के नपुंसक उनकी अपेक्षा संख्यातगुणे हैं। हरिवर्ष और रम्यकवर्ष के नपुंसक उनसे संख्यातगुणे तथा हैमवत और हैरण्यवत के उनसे संख्यातगुणे हैं। उनकी अपेक्षा भरत और ऐरावत के नपुंसक संख्यातगुणे हैं तथा पूर्व और पश्चिमविदेह के उनसे संख्यातगुणे हैं।

(७) भवन्वासी आदि देव और देवियों की अपेक्षा से—अनुत्तरोपपातिक के देव सब से कम हैं। इसके बाद ऊपर के ग्रैवेयक, बीच के ग्रैवेयक, नीचे के ग्रैवेयक, अच्युत, आरण्य, प्राणत और आनतकल्प के देव क्रमशः संख्यातगुणे हैं। इनके बाद सातवीं पृथ्वी के नारक, छठी पृथ्वी के नारक, सहस्रार कल्प के देव, महाशुक्र कल्प के देव, पाँचवीं पृथ्वी के नारक, लान्तक कल्प के देव, चौथी पृथ्वी के नारक, ब्रह्मलोक कल्प

के देव, तीसरी पृथ्वी के नारक, माहेन्द्र कल्प के देव, मनन्दुमार कल्प के देव और दूसरी पृथ्वी के नारक क्रमशः अमरस्यात गुणें हैं। ईशानकल्प के देव उनमें अमरस्यातगुणें हैं। ईशान-कल्प की देवियाँ उनमें मरस्यातगुणी अर्थात् बर्चीमगुणी हैं। सौधर्म कल्प के देव उनमें मरस्यातगुणें हैं। स्त्रियाँ उनमें मरस्यात अर्थात् बर्चीमगुणी। मवनवामी देव उनमें अमरस्यातगुणें हैं, स्त्रियाँ उनमें मरस्यात अर्थात् बर्चीमगुणी। रत्नप्रभा पृथ्वी के नारक उनमें अमरस्यातगुणें हैं। पाणव्यन्तर देव पुरा उनमें अमरस्यातगुणें हैं, स्त्रियाँ उनमें मरस्यातगुणी। ज्योतिषी देव उनमें मरस्यातगुणें तथा ज्योतिषी देवियाँ उनमें बर्चीमगुणी हैं। (८) सभी जाति के भेदों का दूसरों की अपेक्षा में-अन्तर्हीनों के मनुष्य श्री पुरा मय में थोड़े हैं। देवकुरु उचारकुरु, हरिवर गम्पकवर्य, ईमवत ईरण्यवत के श्री पुरा उनमें उचगेतर मरस्यातगुणें हैं। भग्न और ऐरावत के पुरा मरस्यातगुणें हैं, भग्न और ऐरावत की स्त्रियाँ उनमें मरस्यातगुणी, पूर्वविदेह और पश्चिमविदेह के पुरा उनमें मरस्यातगुणें तथा स्त्रियाँ पुराओं में मरस्यातगुणी हैं। इसके बाद अनुगोपपातिक, ऊपर के श्रवेयक, बीच के श्रवेयक, नीचे के श्रवेयक, अच्युतकल्प, आरणकल्प, प्राणतकल्प और आनतकल्प के देव उचगेतर मरस्यातगुणें हैं। उनके बाद मानवी पृथ्वी के नारक, छटी पृथ्वी के नारक, महेश्वर कल्प के देव, महागुरु कल्प के देव, पाँचवी पृथ्वी के नारक, लान्तर कल्प के देव, चौथी पृथ्वी के नारक, ब्रह्मलोक कल्प के देव, तीसरी पृथ्वी के नारक, माहेन्द्र कल्प के देव, मनन्दुमार कल्प के देव, दूसरी पृथ्वी के नारक, अन्तर्हीन के नवृमर उचगेतर अमरस्यातगुणें हैं। देवकुरु उचारकुरु, हरिवर गम्पकवर्य, ईमवत ईरण्यवत, भग्न ऐरावत, पूर्वविदेह पश्चिम-

विदेह के नपुंसक मनुष्य उत्तरोत्तर संख्यातगुणे हैं। ईशानकल्प के देव उनसे संख्यात गुणे हैं। इसके बाद ईशानकल्प की देवियाँ, सौधर्म कल्प के देव और सौधर्म कल्प की देवियाँ उत्तरोत्तर संख्यातगुणी हैं। भवनवासी देव उनसे असंख्यात गुणे हैं। भवनवासी देवियाँ उनसे संख्यात गुणी। रत्नप्रभा के नारक उनसे असंख्यातगुणे हैं। इनके बाद खेचर तिर्यञ्च योनि के पुरुष, खेचर तिर्यञ्चयोनि की स्त्रियाँ, स्थलचर तिर्यञ्चयोनि के पुरुष, स्थलचर स्त्रियाँ, जलचर पुरुष, जलचर स्त्रियाँ, वाणव्यन्तर देव, वाणव्यन्तर देवियाँ, ज्योतिषी देव, ज्योतिषी देवियाँ उत्तरोत्तर संख्यातगुणी हैं। खेचर तिर्यञ्च नपुंसक उनसे असंख्यात गुणे, स्थल नपुंसक उनसे संख्यातगुणे तथा जलचर उनसे संख्यातगुणे हैं। इसके बाद चतुरिन्द्रिय, त्रीन्द्रिय और द्वीन्द्रिय नपुंसक उत्तरोत्तर विशेषाधिक हैं। तेउकाय उनसे असंख्यातगुणी है। पृथ्वी, जल और वायु के जीव उनसे उत्तरोत्तर विशेषाधिक हैं। वनस्पतिकाय के जीव उनसे अनन्तगुणे हैं, क्योंकि निगोद के जीव अनन्तानन्त हैं।

(जीवाभिगम प्रतिपत्ति २ सूत्र ६२)

६००-आयुर्वेद आठ

जिस शास्त्र में पूरी आयु को स्वस्थ रूप से विताने का तरीका बताया गया हो अर्थात् जिस में शरीर को नीरोग और पुष्ट रखने का मार्ग बताया हो उसे आयुर्वेद कहते हैं। इसका दूसरा नाम चिकित्सा शास्त्र है। इसके आठ भेद हैं—

(१) कुमारभृत्य—जिस शास्त्र में बच्चों के भरणपोषण, मां के दूध वगैरह में कोई दोष हो, अथवा दूध के कारण बच्चे में कोई बीमारी हो तो उसे और दूसरे सब तरह के बालरोगों को दूर करने की विधि बताई हो।

(२) कायचिकित्सा—ज्वर, अतिसार, रक्त, शोथ, उन्माद प्रमेह

आँख कुष्ठ आदि बीमारियों को दूर करने की विधि बनाने वाला नंत्र ।

(३) शालाक्य—गले में ऊपर अर्थात् कान, मुँह, आँख, नाक वर्गरह की बीमारियाँ, जिन की चिकित्सा में मलाई की जलग्न पहनी हो, उन्हें दूर करने की विधि बनाने वाला शास्त्र ।

(४) शल्यहन्वा—शल्य अर्थात् काँटा वर्गरह उनकी हत्या अर्थात् बाहर निकालने का उपाय बनाने वाला शास्त्र । शरीर में तिनका, लकड़ी, पत्थर, धूल, लोह, हड्डी, नख आदि चीजों के द्वारा पैदा हुई किसी अङ्ग की पीड़ा को दूर करने के लिए यह शास्त्र है ।

(५) जङ्गोली—विष को नाश करने की औषधियाँ बनाने वाला शास्त्र । माँप, कीड़ा, मकड़ी वर्गरह के विष को शान्त करने के लिए अथवा मँगिया वर्गरह विषों का अमर दूर करने के लिए ।

(६) भूतविद्या—भूत पिशाच वर्गरह को दूर करने की विद्या बनाने वाला शास्त्र । देव, अमर, गन्धर्व, यक्ष, राक्षस पितृ, पिशाच, नाग आदि के द्वारा अभिभूत व्यक्ति की शान्ति और स्वस्थता के लिए उम विद्या का उपयोग होता है ।

(७) घातन्त्र—शुरू अर्थात् वीर्य के घग्ग को घात कहते हैं । जिस शास्त्र में यह विषय हो उसे घातन्त्र कहते हैं । शुभ्रत आदि ग्रन्थों में इसे पार्श्वरुग्ग कहा जाता है । उसका भी अर्थ यही है कि जिस मनुष्य का वीर्य घीन हो गया है उसे वीर्य बढ़ाकर हष्ट पृष्ट बना देना ।

(८) रमायन शास्त्र—रम अर्थात् अमृत की आयन अर्थात् शान्ति जिसमें हो उसे रमायन कहते हैं, क्योंकि रमायन में वृंदावत्या जन्मी नहीं आती, वृंदि और आयु की वृंदि होती है और ममी तरह के योग शान्त होते हैं । (शालङ्गिका ३.१ मृ १११)

६०१—योगांग आठ

विष वृत्ति के निरोध को योग कहते हैं । अर्थात् विष की

चञ्चलता को दूर कर उसे किसी एक ही बात में लगाना या उसके व्यापार को एक दम रोक देना योग है। योग के आठ अङ्ग हैं। इनका क्रमशः अभ्यास करने से ही मनुष्य योग प्राप्त कर सकता है। वे इस प्रकार हैं—

(१) यम (२) नियम (३) आसन (४) प्राणायाम (५) प्रत्याहार (६) धारणा (७) ध्यान (८) समाधि।

(१) यम—अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह ये पाँच यम हैं। इनका पालन करने से आत्मा दृढ़ तथा उन्नत होता है और मन संयत होता है।

(२) नियम—शौच, सन्तोष, तप, स्वाध्याय और भगवान् की भक्ति ये नियम हैं। इनसे मन संयत होता है। इन दोनों के अभ्यास के बाद ही मनुष्य योग सीखने का अधिकारी होता है। जो व्यक्ति चञ्चल मन वाला, विषयों में गृद्ध तथा अनियमित आहार विहार वाला है वह योग नहीं सीख सकता।

(३) आसन—आरोग्य तथा मन की स्थिरता के लिए शरीर के व्यायाम विशेष को आसन कहते हैं। शास्त्रों में बताया गया है कि जितने प्राणी हैं उतने ही आसन हैं। इसलिए उनकी निश्चित संख्या नहीं बताई जा सकती। कई पुस्तकों में चौरासी योगासन दिए हैं। कहीं कहीं बत्तीस मुख्य बताए हैं। यहाँ हेमचन्द्राचार्य कृत योग शास्त्र में बताए गए योग के उपयोगी कुछ आसनों का स्वरूप दिया जाता है।

(क) पर्यङ्कासन—दोनों पैर घुटनों के नीचे हों, हाथ नाभि के पास हों, बाएँ हाथ पर दाहिना हाथ उच्चान रक्खा हो तो उसे पर्यङ्कासन कहते हैं। भगवान् महावीर का निर्वाण के समय यही आसन था। मतझलि के मत से हाथों को घुटनों तक फैलाकर सोने का नाम पर्यङ्कासन है।

(ग) वीरामन—बायाँ पैर दक्षिण जंघा पर और दक्षिण पैर बाईं जंघा पर रखने से वीरामन होता है । हाथों को इसमें भी पर्यङ्गामन की तरह रखना चाहिए । इसको पद्मामन भी कहा जाता है । एक पैर को जंघा पर रखने से अर्द्धपद्मामन होता है । अगर इसी अवस्था में पीछे से लेंजाकर दाँए हाथ से बायाँ अङ्गुठा तथा बाएँ हाथ से दायाँ अङ्गुठा पकड़ लें तो वह बद्धपद्मामन हो जाता है ।

(ग) वज्रामन—बद्धपद्मामन को ही वज्रामन कहते हैं । यह वेतालामन भी कहा जाता है ।

(घ) वीरामन—कुर्मी पर बैठे हुए व्यक्ति के नीचे में कुर्मी खींच ली जाय तो उसे वीरामन कहा जाता है । वीरामन का यह स्वरूप कायक्लेश रूप तप के प्रकरण में आया है । पतञ्जलि के मत में एक पैर पर खड़ा रहने का नाम वीरामन है ।

(ङ) पद्मामन—दक्षिण या वाम जंघा का दूसरी जंघा से सम्बन्ध होना पद्मामन है ।

(च) मद्रामन—पैर के तलों को मम्पुट करके हाथों की कटुण के आकार रखने से मद्रामन होता है ।

(छ) दण्डामन—जमीन पर उन्टा लेटने को दण्डामन कहते हैं । इसमें अङ्गुलियाँ, पैर के गट्टे और जंघाएँ भूमि को छूते रहने चाहिये ।

(ज) उन्कटिकामन—पैर के तले तथा ण्डी जमीन पर लगे रहें तो उसे उन्कटिकामन कहते हैं । इसी आसन में बैठे हुए भगवान् महावीर को केवलज्ञान उत्पन्न हुआ था ।

(झ) गोदोहनामन—अगर ण्डी उठाकर मिर्क पत्तों पर बैठ जाय तो गोदोहनामन हो जाता है । पट्टिमायागी मानु तथा आदमों के लिए इसका विधान किया है ।

(ञ) कार्यान्मर्गामन—गुदे होकर या बैठ कर कार्यान्मर्ग करने

में जो आसन लगाया जाता है उसे कायोत्सर्गसन करने में खड़े होकर करने में बाहुएं लम्बी रहती हैं। जिनकन्या और छद्मस्थ अवस्था में तीर्थङ्करों का ध्यान खड़े खड़े ही होता है। स्थविरकल्पियों का दोनों तरह से होता है। विशेष अवस्था में लेटे हुए भी कायोत्सर्ग होता है। यहाँ थोड़े से आसन बताए गए हैं। इसी प्रकार और भी बहुत से हैं—ग्राम की तरह ठहरने को आम्रकुब्जासन कहते हैं। इसी आसन से बैठ कर भगवान् ने एकरात्रिकी प्रतिमा अङ्गीकार की थी। उसी आसन में संगम के उपसर्गों को सहा था। मुँह ऊपर की तरफ, नीचे की तरफ या तिर्खा करके एक से ही पसवाड़े से सोना। दण्ड की तरह जंघा, घुटने, हाथ वगैरह फैलाकर बिना हिले डुले सोना। सिर्फ मस्तक और एड़ियों से जमीन को छूते हुए बाकी सब अङ्गों को अङ्ग रखकर सोना। समसंस्थान अर्थात् एड़ी और पैरों को संकुचित करके एक दूसरे के द्वारा दोनों को पीड़ित करना। दूर्वाशसन अर्थात् सिर को जमीन पर रखते हुए पैरों को ऊपर से उठाना। इसी को कपालीकरण या शीर्षासन भी कहा जाता है। गोपासन करते हुए अगर पैरों से पद्मासन लगा ले तो वह दण्डपासन हो जाता है। बाएँ पैर को संकुचित करके दाएँ ऊरु और जंघा के बीच में रखे और दाएँ पैर को संकुचित करके बाएँ ऊरु और जंघा के बीच में रखे तो स्वास्तिकासन हो जाता है। इसी तरह कौञ्च, हंस, गरुड़ आदि के बैठने की तरह अनेक आसन हो सकते हैं।

जिस व्यक्ति का जिस आसन से मन स्थिर रहता है, योग-सिद्धि के लिए वही आसन अच्छा माना गया है। योग-के लिए आसन करते समय नीचे लिखी बातों का ध्यान रखना चाहिए। ऐसे आसन से बैठे जिस में अधिक देर तक बैठने पर भी कोई अङ्ग न दुखे। अङ्गों से

चञ्चल हो जायगा । थोड़ा विन्कल बन्द हों । दृष्टि नाक के अग्रभाग पर जमी हो । ऊपर के दाँत नीचे वालों को न छूते हों । प्रसन्नमुख से पूर्व या उत्तर दिशा की तरफ मुँह करके प्रसाद गृहित होने हुए अच्छे संस्थान वाला ध्याता ध्यान में उद्यत हो ।

(४) प्राणायाम—योग का चौथा अङ्ग प्राणायाम है । प्राण अर्थात् श्वास के ऊपर नियंत्रण करने को प्राणायाम कहते हैं । इसका विस्तृत वर्णन बोल संग्रह के द्वितीय भाग, प्राणायाम मान बोल नं० ५५६ में दे दिया गया है ।

(५) प्रत्याहार—योग का पाँचवाँ अङ्ग प्रत्याहार है । इस का अर्थ है इकट्ठा करना । मन की बाहर जाने वाली शक्तियों को रोकना और उसे इन्द्रियों की दामता में मुक्त करना । जो व्यक्ति अपने मन को इच्छानुसार इन्द्रियों में लगा या उनमें अनग कर सकता है वह प्रत्याहार में सफल है । इसके लिए नीचे लिखे अनुसार अभ्यास करना चाहिए ।

कृत्स्न देह तरु के लिए चुपचाप बैठ जाओ और मन को इधर उधर दौड़ने दो । मन में प्रतिक्षण उबार मा आया करता है । यह पागल बन्दर की तरह उचकने लगता है । इसे उचकने दो । चुपचाप बैठे इसका नमाणा देखने जाओ । जब तरु यह अच्छी तरह न जान लिया जाय कि मन कितना जाता है, वह वग में नहीं होता । मन को इस तरह मृतन्त्र छोड़ देने में मयंक में मयंक विचार उठेंगे । उन्हें देखते रहना चाहिए । कुछ दिनों बाद मनकी उड़ल रुद अपने आप कम होने लगेगी और अन्त में वह विन्कल बन्द जायगा । गौतम अभ्यास करने में अपने सफलता मिल सकती है । इस प्रकार अभ्यास द्वारा मन को वग में करना प्रत्याहार है ।

(६) धारणा—धारणा का अर्थ है मन को हमी वग में रखा

कर शरीर के किसी स्थलविन्दु पर लगाना । जैसे— बाकी सब अङ्गों को भूलकर सारा ध्यान हाथ, पैर या और किसी अङ्ग पर जमा लेना । इस तरह ध्यान जमाने का अभ्यास हो जाने से शरीर के किसी भी अङ्ग की बीमारी दूर की जा सकती है ।

धारणा कई प्रकार की होती है । इसके साथ थोड़ी कल्पना का सहारा ले लेना अच्छा होता है । जैसे मन से हृदय में एक विन्दु का ध्यान करना । यह बहुत कठिन है । सरलता के लिए किसी कमल या प्रकाश पुञ्ज वगैरह की कल्पना की जा सकती है । किसी तरह मस्तिष्क में कमल की कल्पना या सुपुष्पा नाड़ी में शक्ति और कमल आदि की कल्पना की जाती है ।

(७) ध्यान— योग का सातवाँ अङ्ग ध्यान है । बहुत देर तक चित्त को किसी एक ही बात के सोचने में लगाए रखना ध्यान है । ध्यान में चित्त की लहरे बिल्कुल वन्द हो जाती हैं । बारह सेकण्ड तक चित्त एक स्थान पर रहे तो वह धारणा है । बारह धारणाओं का एक ध्यान होता है । ध्यान के चार भेद और उनकी व्याख्या इसी ग्रन्थ के पहले भाग बोल नं २१५ में है ।

(८) समाधि— बारह ध्यानों की एक समाधि होती है । इसके दो भेद हैं— सम्प्रज्ञात समाधि और असम्प्रज्ञात समाधि । मन से किसी अच्छी बात का ध्यान करना और उसी वस्तु पर बहुत देर तक मन को टिकाए रखना सम्प्रज्ञात समाधि है । मन में कुछ न सोचना और इसी तरह बहुत देर तक मन के व्यापार को बन्द रखना असम्प्रज्ञात समाधि है ।

योगाभ्यास करने के लिए योगी को हमेशा अभ्यास करना चाहिए । एकान्त से रहना चाहिए । आहार विहारादि नियमित रखना तथा इन्द्रिय विषयों से सदा अलग रहना चाहिए । तभी क्रमशः यम नियमादि का साधन करते हुए असम्प्रज्ञातावस्था

तक पहुँच सकता है ।

योग में तरह तरह की सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं । उनके प्रलोभन में न पड़कर अगर मोक्ष को ही अपना ध्येय बनाया जाय तो इसी तरह अभ्यास करते करते अन्त में मोक्ष प्राप्त हो सकता है ।
(योगशास्त्र, हेमचन्द्राचार्य ४-४ प्रकाश) (गजयोग, स्वामी विवेकानन्द)

६०२—छद्मस्थ आठ बातें नहीं देख सकता

नीचे लिखी आठ बातों को सम्पूर्णरूप से छद्मस्थ देख या जान नहीं सकता । (१) धर्मात्मिकाय (२) अधर्मात्मिकाय (३) आकाशात्मिकाय (४) शरीर रहित जीव (५) पन्माणुपृष्ठगल (६) शब्द (७) गन्ध और (८) वायु । (छद्मगंग = ३० ३ सूत्र ६१०)

६०३—चित्त के आठ दोष

चित्त के नीचे लिखे आठ दोष ध्यान में विघ्न करते हैं तथा कार्यसिद्धि के प्रतिबन्धक हैं । इमनिष्ट उन्मनिर्गल व्यक्ति को इन से दूर रहना चाहिए ।

दोषो ग्लानिस्तुष्टिर्ता प्रथम उद्वेगो द्वितीयमथा ।
म्याद्भ्रान्तिश्च तृतीयरूपलतोन्यान् चतुर्थो मतः ॥
ध्वनेः म्यान्मनसः क्रियान्तरगर्भमुक्त्वा प्रवृत्तक्रिया-
मामल्लः प्रकृतक्रियारतिरतो दूर्लभ्यतोष्यं पुनः ॥१॥
तन्वालोचितदर्शनं चरितो गगध कानान्तर-
कर्तव्येभ्यमुदाहृतो निगदितो दोषः पुनः मज्जमः ॥
उच्छेदः मदनुष्टितं रगभितो दोषोऽष्टमो गणने ।
ध्याने विघ्नकरोऽमेष्ट मनसा दोषो विमोच्याः सप्तः ॥२॥

(१) ग्लानि—धार्मिक अनुष्ठान में ग्लानि होना विघ्न का पहला दोष है ।

(२) उद्वेग— काम करते हुए चित्त में उद्वेग अर्थात् उदासी रहना, उत्साह का न होना दूसरा दोष है ।

(३) भ्रान्ति— चित्त में भ्रान्ति रहना अर्थात् कुछ का कुछ समझ लेना भ्रान्ति नाम का तीसरा दोष है ।

(४) उत्थान— किसी एक कार्य में मन का स्थिर न होना, चञ्चलता बनी रहना उत्थान नाम का चौथा दोष है ।

(५) क्षेप— प्रारम्भ किए हुए कार्य को छोड़ कर नए नए कार्यों की तरफ मन का दौड़ना क्षेप नाम का पाँचवाँ दोष है ।

(६) आसंग—किसी एक बात में लीन होकर सुध बुध खो बैठना आसंग नाम का छठा दोष है ।

(७) अन्यमुद्— अवसर प्राप्त कार्य को छोड़ कर और और कामों में लगे रहना अन्यमुद् नाम का सातवाँ दोष है ।

(८) रुक्—कार्य को प्रारम्भ करके छोड़ देना रुक् नाम का आठवाँ दोष है । (कर्तव्य कौमुदी भाग २ श्लोक १६०-१६१)

६०४— महाग्रह आठ

जिन के अनुकूल और प्रतिकूल होने से मनुष्य तथा तिर्यञ्चों को शुभाशुभ फल की प्राप्ति होती है उन्हें महाग्रह कहते हैं। ये आठ हैं— (१) चन्द्र (२) सूर्य (३) शुक्र (४) बुध (५) वृहस्पति (६) अंगार (मंगल) (७) शनैश्वर (८) केतु । (ठाण्णंग, = ३. ३ सूत्र ६१२)

६०५— महानिमित्त आठ

भूत, भविष्यत् और वर्तमान काल के जो पदार्थ इन्द्रियों के विषय नहीं हैं उन्हें जानने में हेतु भूत बातें निमित्त कहलाती हैं । उन बातों को बताने वाले शास्त्र भी निमित्त कहलाते हैं । सूत्र, वार्तिक आदि के भेद से प्रत्येक शास्त्र लाखों हो जाता है । इसलिये यह महानिमित्त

निमित्त के आठ भेद हैं— (१) भूमि (२) उत्पात (३) म्वम्र (४) आन्तरिच (५) अङ्ग (६) स्वर (७) लवण (८) व्यञ्जन ।

(१) भूमि— भूमि में किसी तरह की हलचल या और किसी लवण में शुमाशुम जानना । जैसे— जब पृथ्वी मयङ्कर शब्द करती हुई काँपती है तो मनापति, प्रधानमन्त्री, राजा और राज्य को कष्ट होता है ।

(२) उत्पात— रुधिर या हड्डी बगैरह की वृष्टि होना । जैसे— जहाँ चर्वी, रुधिर, हड्डी धान्य, अङ्गारे या पीप की वृष्टि होती है वहाँ चारों तरह का मय है ।

(३) म्वम्र— अच्छे या बुरे म्वम्रों में शुमाशुम बताना । जैसे— म्वम्र में देव, यज्ञ, पुत्र, वन्धु, उन्सव, गुरु, छत्र और कमल का देखना; प्राकार, हाथी, मेघ वृक्ष, पहाड़ या प्रामाद पर चढ़ना; समुद्र को तैरना; सुग, अमृत, दूध और दही का पीना; चन्द्र और सूर्य का मुख में प्रवेश तथा मोच में बैठना हुआ अपने को देखना; ये सभी म्वम्र शुभ हैं अर्थात् अच्छा फल देने वाले हैं । जो व्यक्ति म्वम्र में लाल रंग वाले मूत्र या पुरीष करता है और उमी ममय जग जाता है, उसे अर्थहानि होती है । यह अशुभ है ।

(४) आन्तरिच— आकाश में होने वाले निमित्त को आन्तरिच कहते हैं । यह कई तरह का है—ग्रहबंध अर्थात् एक ग्रह में से दूसरे ग्रह का निकल जाना । भूताह्वाम अर्थात् आकाश में अनानक अव्यक्त शब्द गुनाह पड़ना । गन्धर्वनगर अर्थात् मन्थ्या के समय बादलों में हाथी घोंड़े बगैरह की बनारह । पति गन्धर्वनगर में धान्य का नाश जाना जाना है । मर्त्रीष्ट के रंग वाले में गीधों का हरण । अव्यक्त (धुंधला) वर्ण वाले में बल या मेला का सोम अर्थात् अशान्ति । अगर माँसा (हँस) दिशा में म्निग्ध प्राकार तथा तोरण बाना गन्धर्वनगर हो

तो वह राजा की विजय की सूचक है ।

(५) अङ्ग— शरीर के किसी अङ्ग के स्फुरण वगैरह से शुभाशुभ निमित्त का जानना । पुरुष के दक्षिण तथा स्त्री के वाम अङ्गों का स्फुरण शुभ माना गया है । अगर सिर में स्फुरण (फड़कन) हो तो पृथ्वी की प्राप्ति होती है, ललाट में हो तो पद वृद्धि होती है, इत्यादि ।

(६) स्वर— पङ्जादि सात स्वरों में शुभाशुभ बताना । जैसे— पङ्ज स्वर से मनुष्य अजीविका प्राप्त करता है, किया हुआ काम बिगड़ने नहीं पाता, गौएं, मित्र तथा पुत्र प्राप्त होते हैं । वह स्त्रियों का वल्लभ होता है । अथवा पक्षियों के शब्द से शुभाशुभ जानना । जैसे— श्यामा का चिलिचिलि शब्द पुण्य अर्थात् मंगल रूप होता है । खलिलि धन देने वाला होता है । चेरीचेरी दीप्त तथा 'चिकुत्ती' लाभ का हेतु होता है ।

(७) लक्षण— स्त्री पुरुषों के रेखा या शरीर की बनावट वगैरह से शुभाशुभ बताना लक्षण है । जैसे— हड्डियों से जाना जाता है कि यह व्यक्ति धनवान होगा । मंगल होने से सुखी समझा जाता है । शरीर का चमड़ा प्रशस्त होने से विलासी होता है । आंखें सुन्दर होने से स्त्रियों का वल्लभ, ओजस्वी तथा गम्भीर शब्द वाला होने से हुक्म चलाने वाला तथा शक्तिसम्पन्न होने से सब का स्वामी समझा जाता है ।

शरीर का परिमाण वगैरह लक्षण हैं तथा मसा वगैरह व्यञ्जन हैं । अथवा लक्षण शरीर के साथ उत्पन्न होता है और व्यञ्जन बाद में उत्पन्न होता है । निशीथ सूत्र में पुरुष के लक्षण इस प्रकार बताए गए हैं— साधारण मनुष्यों के बत्तीस, बलदेव और वासुदेवों के एक सौ आठ, चक्रवर्ती और तीर्थङ्करों के एक हजार आठ लक्षण हाथ पैर वगैरह में होते हैं । जो मनुष्य

मरल म्बनाथी, पराक्रमी, जानी या दूसरे विशेष गुणों वाले होते हैं उनमें उतने लक्षण अधिक पाए जाते हैं ।

(८) व्यञ्जन ममा वर्गम् । जैसे—जिम स्त्री के नामि मे नीचे कुं कुन की वृंद के समान ममा या कोई लक्षण हो तो वह अच्छी मानी गई है । (टाण्णंग ८३० ३ सूत्र ६०२) (प्रवचनमाला दूर भाग २५ भा. १४०४-६)

६०६— प्रयत्नादि के योग्य आठ स्थान

नीचे लिखी आठ बातें अगर प्राप्त न हों तो प्राप्त करने के लिए कोशिश करनी चाहिए । अगर प्राप्त हों तो उनकी रक्षा के लिए अर्थात् वे नष्ट न हों, इसके लिए प्रयत्न करना चाहिए । शक्ति न हो तो भी उनके प्रयत्न में लगे रहना चाहिए तथा दिन प्रतिदिन उन्माद बढ़ाने जाना चाहिए ।

(१) शास्त्र की जिन बातों को या जिन श्रुतियों को न सुना हो उन्हें सुनने के लिए उद्यम करना चाहिए ।

(२) सुने हुए शास्त्रों को हृदय में जमाकर उनकी स्मृति को स्थायी बनाने के लिए प्रयत्न करना चाहिए ।

(३) संयम द्वारा पाप कर्म रोकने की कोशिश करनी चाहिए ।

(४) नष्ट के डार पूर्वोपाजित कर्मों की निज्जेग करने हुए आत्मविशुद्धि के लिए यत्न करना चाहिए ।

(५) नष्ट शिष्यों का संश्रद्ध करने के लिए कोशिश करनी चाहिए ।

(६) नष्ट शिष्यों को मायु आचार तथा गोचरी के भेद अथवा ज्ञान के पाँच प्रकार और उनके विषयों को मिथाने में प्रयत्न करना चाहिए ।

(७) ग्लान अर्थात् बीमार मायु की उन्माद पूर्वक दीक्षा करने के लिए यत्न करना चाहिए ।

(८) मायमियों में विरोध होने पर राग द्वेष गति होकर अथवा आदागति और शिष्यादि की अपेक्षा में गति होकर बिना

किसी का पक्ष लिए मध्यस्थभाव रखते। दिल में यह भावना करे कि किस तरह ये सब साधर्मिक जोर जोर से बोलना, असम्बद्ध प्रलाप तथा तू तू मैं मैं वाले शब्द छोड़ कर शान्त, स्थिर तथा प्रेम वाले हों। हर तरह से उनका कलह दूर करने के लिए प्रयत्न करना चाहिए। (ठाण्णंग ८ उ. ३ सूत्र ६४६)

६०७-रुचक प्रदेश आठ

रत्नप्रभा पृथ्वी के ऊपर तिर्यक् लोक के मध्य भाग में एक राज्ज परिमाण आयाम विष्कम्भ (लम्बाई चौड़ाई) वाले आकाश प्रदेशों के दो प्रतर हैं। वे प्रतर सब प्रतरों से छोटे हैं। मेरु पर्वत के मध्य प्रदेश में इनका मध्यभाग है। इन दोनों प्रतरों के बीचोबीच गोस्तनाकार चार चार आकाश प्रदेश हैं। ये आठों आकाश प्रदेश जैन परिभाषा में रुचक प्रदेश कहे जाते हैं। ये ही रुचक प्रदेश दिशा और विदिशाओं की मर्यादा के कारणभूत हैं। (आचारंग श्रुतस्फुट १ अध्ययन १ उद्देशा १ नि गा. ४२ टीका)

उक्त आठों रुचक प्रदेश आकाशास्तिकाय के हैं। आकाशास्तिकाय के मध्यभागवर्ती होने से इन्हें आकाशास्तिकाय मध्य प्रदेश भी कहते हैं। आकाशास्तिकाय की तरह ही धर्मास्तिकाय और अधर्मास्तिकाय के मध्य भाग में भी आठ आठ रुचक प्रदेश रहे हुए हैं। इन्हें क्रमशः धर्मास्तिकाय मध्यप्रदेश और अधर्मास्तिकाय मध्यप्रदेश कहते हैं। जीव के भी आठ रुचक प्रदेश हैं जो जीव के मध्यप्रदेश कहलाते हैं। जीव के ये आठों रुचक प्रदेश सदा अपने शुद्ध स्वरूप में रहते हैं। इन आठ प्रदेशों के साथ कभी कर्मबन्ध नहीं होता। भव्य, अभव्य सभी जीवों के रुचक प्रदेश सिद्ध भगवान् के आत्मप्रदेशों की तरह शुद्ध स्वरूप में रहते हैं। 'सभी जीव समान हैं' निश्चय नय का यह कथन इसी अपेक्षा से है। (आगमसार) (भग० श० ८ उ० ६ सू. ३४७ टी.) (ठाण्णंग ८ उ. ३ सूत्र ६२४)

६०८-पृथ्वियां आठ

(१) रत्नप्रमा (२) शर्कराप्रमा (३) बालुकाप्रमा (४) पंकप्रमा (५) धूमप्रमा (६) तमःप्रमा (७) तमम्नमःप्रमा (८) ईषन्प्राग्माग। मान पृथ्वियों का वर्णन इसी के द्वितीय भाग मानवें बोल मंत्र बोल नं० ५६० में दिया गया है। ईषन्प्राग्माग का स्वल्प इस प्रकार है-ईषन्प्राग्माग पृथ्वी मर्षार्यमिद्व विमान की मर में ऊपर की धूमिका (मृषिका-वृलिका) के अग्रभाग में बारह योजन ऊपर अवस्थित है। मनुष्य क्षेत्र की लम्बाई चौड़ाई की तरह ईषन्प्राग्माग पृथ्वी की लम्बाई चौड़ाई भी ४५ लाख योजन है। इसका परिच्छेप एक करोड़ यथार्थम लाख तीस हजार दो सौ उनपचास (१४२३०२४६) योजन विरोधाधिक है। इस पृथ्वी के मध्य भाग में आठ योजन आयाम विष्कम्भ बना क्षेत्र है, इसकी मोटाई भी आठ योजन ही है। इसके आगे ईषन्प्राग्माग पृथ्वी की मोटाई क्रमशः थोड़ी थोड़ी मात्रा में घटने लगती है। प्रति योजन मोटाई में अंगुलपृथक्त्व का हाम होता है। घटने घटने इस पृथ्वी के चरम भाग की मोटाई मरुती के पंग में भी कम हो जाती है। यह पृथ्वी उत्तान छत्र के आकार गढ़ी हुई है। इसका वर्ण अन्यन्त रंगत है एवं यह स्फटिक रत्नमयी है। इस पृथ्वी के एक योजन ऊपर लोक का अन्त होता है। इस योजन के ऊपर के कोम का छत्रा भाग जो ३३३ पनु आर ३२ अंगुल परिमाण है वहीं पर मिद्व भगवान् विराजते हैं।
(टाणग = ३ ३ मूत्र ६४ =)

६०९-ईषन्प्राग्माग पृथ्वी के आठ नाम

(१) ईषन् (२) ईषन्प्राग्माग (३) तन्वी (४) तनुतन्वी (५) मिदि (६) मिद्वालय (७) मुक्ति (८) मुक्तालय।
(१) ईषन्-रत्नप्रमादि पृथ्वियों की अपेक्षा ईषन्प्राग्माग पृथ्वी

छोटी है। इसलिए इसका नाम ईपत्त है। अथवा पद के एक देश में पद समुदाय का उपचार कर ईपत्तप्राग्भारा का नाम ईपत्त रखा गया गया है।

(२) ईपत्तप्राग्भारा—रत्नप्रभादि पृथ्वियों की अपेक्षा इसका उक्छाय (ऊँचाई) रूप प्राग्भार थोड़ा है, इसलिए इसका नाम ईपत्तप्राग्भारा है।

(३) तन्वी—शेष पृथ्वियों की अपेक्षा छोटी होने से ईपत्तप्राग्भारा पृथ्वी तन्वी नाम से कही जाती है।

(४) तनुतन्वी—जगत्प्रसिद्ध तनु पदार्थों से भी अधिक तनु (पतली) होने से यह तनुतन्वी कहलाती है। मक्खी के पंख से भी इस पृथ्वी का चरम भाग अधिक पतला है।

(५) सिद्धि—सिद्धि क्षेत्र के समीप होने से इसका नाम सिद्धि है। अथवा यहाँ जाकर जीव सिद्ध, कृतकृत्य हो जाते हैं। इसलिए यह सिद्धिकहलाती है।

(६) सिद्धालय—सिद्धों का स्थान।

(७) मुक्ति—जहाँ जीव सकल कर्मों से मुक्त होते हैं वह मुक्ति है।

(८) मुक्ताल—मुक्त जीवों का स्थान।

(पञ्चवणा पद २ सू० १४) (ठाणांग = ३० ३ सूत्र ६४ =)

६१०—त्रस आठ

इच्छानुसार चलने फिरने की शक्ति रखने वाले जीवों को त्रस कहते हैं, अथवा वेइन्द्रिय से लेकर पञ्चेन्द्रिय तक के जीवों को त्रस कहते हैं। इनके आठ भेद हैं—

(१) अंडज—अंडे से पैदा होने वाले जीव, पक्षी आदि।

(२) पोतज—गर्भ से पोत अर्थात् कोथली सहित पैदा होने वाले जीव। जैसे हाथी वगैरह।

(३) जरायुज गर्भ से जरायु सहित पैदा होने वाले जीव।

जैसे मनुष्य, गाय, भैंस, मृग आदि । ये जीव जब गर्म में बाहर आते हैं तब इनके शरीर पर एक मिट्टी रहती है, उमी को जरायु कहते हैं । उसमें निकलते ही ये जीव चलने फिरने लगते हैं ।

(४) रमज— दूध, दही, घी आदि तरल पदार्थ रम कहलाते हैं । उनके विकृत हो जाने पर उनमें पड़ने वाले जीव ।

(५) मंस्येदज—पर्पनि में पैदा होने वाले जीव । जं, लींग आदि ।

(६) समृद्धिम— शीत, उष्ण आदि के निमित्त मिलने पर आम पाम के परमाणुओं में पैदा होने वाले जीव । मच्छर, विषाणिका, पतंगिया वर्ग रह ।

(७) उद्भिज्ज— उद्भेद अर्थात् जमीन को फोड़ कर उत्पन्न होने वाले जीव । जैसे पतंगिया, टिड्डीकाका, मंजरीटि (ममोलिया) ।

(८) आपपानिक—उपपान जन्म में उत्पन्न होने वाले जीव । गुप्ता तथा कुम्भी में पैदा होने वाले देव और नारकी जीव आपपानिक हैं ।

(दशवै० अध्यायन ४) (टागांग = ३० ३ मूर ४१४ आठ योनिमंडल)

६११— मृक्ष आठ

बहुत मिले हुए होने के कारण या छोटे परिमाण बाने होने के कारण जो जीव दृष्टि में नहीं आते या कठिनता में आते हैं, वे मृक्ष कहते जाते हैं । मृक्ष आठ हैं—

मिण्टेहं पुण्डमुहूम च पाणुत्तिगं तदेवय ।

पाणगं यीपहरिचं च अंहमुहूम च अहूम ॥

(१) स्नेह मृक्ष— सोम, चर्क, घृघ, सोले इत्यादि मृक्ष जल को स्नेह मृक्ष कहते हैं ।

(२) पुण्य मृक्ष— बड़ और उद्भेद वर्ग रह के फूल जो मृक्ष तथा उमी रंग के होने में जन्दी नजर नहीं आते उन्हें पुण्य मृक्ष कहते हैं ।

(३) प्राण मृक्ष— कृष्णया वर्ग रह जीव जो चलते हुए भी दिखाई देने हैं, मियर नजर नहीं आते वे प्राण मृक्ष हैं ।

(४) उत्तिंग सूक्ष्म—कीड़ी नगरा अर्थात् कीड़ियों के बिल को उत्तिंग सूक्ष्म कहते हैं । उस बिल में दिखाई नहीं देने वाली चींटियाँ और बहुत से दूसरे सूक्ष्म जीव होते हैं ।

(५) पनक सूक्ष्म—चौमासे अर्थात् वर्षा काल में भूमि और काठ वगैरह पर होने वाली पाँचों रंग की लीलन फूलन को पनक सूक्ष्म कहते हैं ।

(६) बीज सूक्ष्म—शाली आदि बीज का मुखमूल जिससे अंकुर उत्पन्न होता है, जिसे लोक में तुप कहा जाता है वह बीज सूक्ष्म है ।

(७) हरित सूक्ष्म—नवीन उत्पन्न हुई हरित काय जो पृथ्वी के समान वर्ण वाली होती है वह हरित सूक्ष्म है ।

(८) अण्ड सूक्ष्म—मक्खी, कीड़ी, छिपकली गिरगट आदि के सूक्ष्म अंडे जो दिखाई नहीं देते वे अंड सूक्ष्म हैं ।

(ठाणांग = उ. ३ सूत्र. ७१५) (दशवैकालिक अध्ययन = गाथा १५)

६१२—तृणवनस्पतिकाय आठ

बादर वनस्पतिकाय को तृणवनस्पतिकाय कहते हैं । इसके आठ भेद हैं—(१) मूल अर्थात् जड़ । (२) कन्द—स्कन्ध के नीचे का भाग । (३) स्कन्ध—धड़, जहाँ से शाखाएं निकलती हैं । (४) त्वक्—ऊपर की छाल । (५) शाखाएं । (६) प्रवाल अर्थात् अंकुर । (७) पत्ते और (८) फूल । (ठाणांग = उ. सू. ६१३)

६१३—गन्धर्व (वाणव्यन्तर) के आठ भेद

जो वाणव्यन्तर देव तरह तरह की राग रागिणियों में निपुण होते हैं, हमेशा संगीत में लीन रहते हैं उन्हें गन्धर्व कहते हैं । ये बहुत ही चञ्चल चिन्त वाले, हंसी-खेल पसन्द करने वाले, गम्भीर हास्य और बातचीत में प्रेम रखने वाले, गीत और नृत्य में रुचि वाले, वनमाला वगैरह सुन्दर सुन्दर आभूषण पहन कर प्रसन्न होने वाले, सभी ऋतुओं के पुष्प पहन कर

आनन्द मनाने वाले होते हैं। वे स्वप्नमा पृथ्वी के एक हजार योजन वाले स्वकाण्ड में नीचे माँ योजन तथा ऊपर माँ योजन छोड़ कर बीच के आठ माँ योजनों में रहते हैं। इनके आठ भेद हैं—

(१) आण्णण्णे (२) पाण्णण्णे (३) इमिवाइ (अभिवादी)
(४) भूयवाइ (भूतवादी) (५) कन्दे (६) महाकन्दे (७) कृमाण्ड
(कृन्माण्ड) (८) पयदेव (प्रेतदेव)। (उक्काइ मूत्र २४) (पण्णणावड २
मू. ४३)

६१४—अन्तर देव आठ

वि अर्थान् आकाशं जिनका अन्तर अथकां अर्थान् आश्रय
है उन्हें अन्तर कहते हैं। अथवा विविध प्रकार के भवन, नगर
आर आवास रूप जिनका आश्रय है। स्वप्नमा पृथ्वी के पहले
स्वकाण्ड में माँ योजन ऊपर तथा माँ योजन नीचे छोड़ कर
वाकी के आठ माँ योजन मध्यभाग में भवन हैं। निर्देक् लोक में
नगर होते हैं। जैसे—निर्देक् लोक में जम्बूद्वीप द्वार के अधिपति
विजयदेव की बाग़द्व हजार योजन प्रमाण नगरी है। आशान तीनों
लोकों में होते हैं। जैसे ऊर्ध्वलोक में पंडकवन वर्गगृह में आवास है।
अथवा 'विगतमन्तरं मनुष्येभ्यो येषां ते अन्तराः' जिनका मनुष्यों
में अन्तर अर्थान् एक नही रहा, क्योंकि बहुतों में अंतर देव
चक्रवर्ती, वामुदेव वर्गगृह की नीकर की तरह सेवा करते हैं।
इमनिण मनुष्यों में उनका भेद नहीं है। अथवा 'विनिधनन्तरा-
माश्रयस्सं येषां ते अन्तराः' परंतु, गुफा, वनगाण्ड वर्गगृह जिनके
अन्तर अर्थान् आश्रय विविध हैं, वे अन्तर कहलाते हैं। यहाँ
में 'वाणमन्तरा' पाठ है 'वनाजामन्तराणु मयाः वानमन्तराः'
होदगादि होने में बीच में मरार आगया। अर्थान् वनों के
अन्तर में रहने वाले। इनके आठ भेद हैं—

(१) विगत (२) भूत (३) यक्ष (४) गन्धर्व (५) रिद्धा (६)
रिद्धुग (७) महाग (८) गन्धर्व ।

ये सभी व्यन्तर मनुष्य क्षेत्रों में इधर उधर घूमते रहते हैं ।
टूटे फूटे घर, जंगल और शून्य स्थानों में रहते हैं ।

स्थान-रत्नप्रभा पृथ्वी के एक हजार योजन में सौ योजन
ऊपर तथा सौ योजन नीचे छोड़कर बीच के आठ सौ योजन
तिर्छे लोक में वाणव्यन्तरों के असंख्यात नगर हैं । वे नगर बाहर
से गोल, अन्दर समचौरस तथा नीचे कमल की कणिका के
आकार वाले हैं । ये पर्याप्त तथा अपर्याप्त देवों के स्थान बताए
गए हैं । जैसे उपपात, सनुद्धात और स्वस्थान इन तीनों की
अपेक्षा से लोक का असंख्यातवाँ भाग उनका स्थान है । वहाँ
आठों प्रकार के व्यन्तर रहते हैं । गन्धर्व नाम के व्यन्तर संगीत
से बहुत प्रीति करते हैं । वे भी आठ प्रकार के होते हैं—आण-
पन्निक, पाणपन्निक, ऋषिवादिक, भूतवादिक, कंदित, महाकंदित,
कुहंड और पतंगदेव । दहृत चपल, चञ्चल चिच वाले तथा
क्रीड़ा और हास्य को पसन्द करने वाले होते हैं । हमेशा विविध
आभूषणों से अपने सिंगारने में अथवा विविध क्रीड़ाओं में लगे
रहते हैं । वे विचित्र चिह्नों वाले, महाऋद्धि वाले, महाकान्ति
वाले, महायश वाले, महाबल वाले, महासामर्थ्य वाले तथा महा
सुख वाले होते हैं ।

व्यन्तर देवों के इन्द्र अर्थात् अधिपतियों के नाम इस प्रकार हैं—
पिशाचों के काल तथा महाकाल । भूतों के सुरूप और प्रतिरूप ।
यक्षों के पूर्णभद्र और मणिभद्र । राक्षसों के भीम और महाभीम ।
किन्नरों के किन्नर और किम्पुरुष । किम्पुरुषों के सत्पुरुष और
महापुरुष । महोरगों के अतिकाय और महाकाय । गन्धर्वों के
गीतरति और गीतयश । काल इन्द्र दक्षिण दिशा का है और
महाकाल उत्तर दिशा का । इसी तरह सुरूप और प्रतिरूप
वगैरह को भी जानना च

आणपन्निक के इन्द्र मन्दिन और मामान्य । पाणपन्निक के धाता और विधाता । अपिवादी के अपि और अपिपाल । भूतवादी के ईश्वर और माहेश्वर । कंदित के सुवन्म और विगाल । महारुंदित के हाम और रति । कोहंड के श्वेत और मदारेत । पतंग के पतंग और पतंगपति ।

स्थिति—ज्यन्तर देवों का आयुष्य जयन्त दस हजार वर्ष तथा उन्कृष्ट एक पन्थोपम होता है । ज्यन्तर देवियों का जयन्त दस हजार वर्ष उन्कृष्ट अर्द्ध पन्थोपम ।

(पञ्चवक्त्रा प. ८ मूत्र ४७-४८, स्थिति पत्र ४ मूत्र १००) (टण्ण = ३. ३ मूत्र ६४४) (जीवाभिगमप्रति ३ देवाधिकार मू. १०१)

६१५—लोकान्तिक देव आठ

आठ कृष्णरात्रियों के अवकाशान्तर्गों में आठ लोकान्तिक विमान हैं । उनके नाम इस प्रकार हैं—

(१) अर्ची (२) अर्चिमाली (३) वैरोचन (४) प्रमसर (५) पन्डाम (६) यूराम (७) शुक्राम (८) सुप्रतिष्ठाम ।

अर्ची विमान उत्तर और पूर्व की कृष्णरात्रियों के बीच में है । अर्चिमाली पूर्व में है । इसी प्रकार मभी को जानना चाहिए । गिष्टविमान विन्तुल मध्य में है । इनमें आठ लोकान्तिक देव रहते हैं । उनके नाम इस प्रकार हैं—(१) मार्म्वत (२) आदिन्य (३) वद्धि (४) वरुण (५) गर्दनोय (६) तुति (७) अरुपाराय (८) आग्नेय । ये देव प्रमगः अर्ची आदि विमानों में रहते हैं ।

मार्म्वत और आदिन्य के मात देव तथा उनके मात की परिवार हैं । वद्धि और वरुण के पाँदह देव तथा पाँदह इत्रा परिवार हैं । गर्दनोय और तुति के मात देव तथा मात इत्रा परिवार हैं । बाकी देवों के नर देव और नर की परिवार हैं ।

लौकान्तिक विमान वायु पर ठहरे हुए हैं। उन विमानों में जीव असंख्यात और अनन्त बार उत्पन्न हुए हैं किन्तु देव के रूप में अनन्त बार उत्पन्न नहीं हुए।

लौकान्तिक देवों की आठ सागरोपम की स्थिति है। लौकान्तिक विमानों से लोक अन्त असंख्यात हजार योजन दूरी पर है। (भगवद् गीता ६ उ० ५ सू. ४४३) (ठाण्णं = ३. ३ सूत्र ६२३)

६१६-कृष्णराजियाँ आठ

कृष्ण वर्ण की सचित्त अचित्त पृथ्वी की भित्ति के आकार व्यवस्थित पंक्तियाँ कृष्ण राजि हैं एवं उनसे युक्त क्षेत्र विशेष भी कृष्णराजि नाम से कहा जाता है।

सनत्कुमार और माहेन्द्र कल्प के ऊपर और ब्रह्मलोक कल्प के नीचे रिष्ट विमान नामका पाथड़ा है। यहाँ पर आखाटक (आसन विशेष) के आकार की समचतुरस्र संस्थान वाली आठ कृष्णराजियाँ हैं। पूर्वादि चारों दिशाओं में दो दो कृष्णराजियाँ हैं। पूर्व में दक्षिण और उत्तर दिशा में तिर्छी फैली हुई दो कृष्णराजियाँ हैं। दक्षिण में पूर्व और पश्चिम दिशा में तिर्छी फैली हुई दो कृष्णराजियाँ हैं। इसी प्रकार पश्चिम दिशा में दक्षिण और उत्तर में फैली हुई दो कृष्णराजियाँ हैं और उत्तर दिशा में पूर्व पश्चिम में फैली हुई दो कृष्णराजियाँ हैं। पूर्व, पश्चिम, उत्तर और दक्षिण दिशा की आभ्यन्तर कृष्णराजियाँ क्रमशः दक्षिण, उत्तर पूर्व और पश्चिम की बाहर वाली कृष्णराजियाँ को छूती हुई हैं। जैसे पूर्व की आभ्यन्तर कृष्णराजि दक्षिण की बाह्य कृष्णराजि को स्पर्श किये हुए है। इसी प्रकार दक्षिण की आभ्यन्तर कृष्णराजि पश्चिम की बाह्य कृष्णराजि को, पश्चिम की आभ्यन्तर कृष्णराजि उत्तर की बाह्य कृष्णराजि को और उत्तर की कृष्णराजि पूर्व की बाह्य कृष्णराजि को स्पर्श किये

इन आठ कृष्णराजियों में पूर्व पश्चिम की बाय दो कृष्णराजियाँ पट्कोणाकार हैं एवं उत्तर दक्षिण की बाय दो कृष्णराजियाँ त्रिकोणाकार हैं । अन्दर की चारों कृष्णराजियाँ चतुष्कोण हैं ।

कृष्णराजि के आठ नाम हैं—(१) कृष्णराजि (२) मेघराजि (३) मघा (४) माघवती (५) शानपरिधा (६) शानपरिचोमा (७) देवपरिधा (८) देवपरिचोमा ।

काले वर्ण की पृथ्वी और पृद्गलों के परिणाम रूप होने में इसका नाम कृष्णराजि है । काले मेघ की रेखा के मटन होने में इसे मेघराजि कहते हैं । छठी और मानवीं नागकी के मटन अंधकारमय होने में कृष्णराजि को मघा और माघवती नाम में कहते हैं । आधी के मटन मयन अंधकार वाली और दुर्लभ होने में कृष्णराजि शानपरिधा कहलाती है । आधी के मटन अंधकार वाली और घोंम का कारण होने में कृष्णराजि को शान परिचोमा कहते हैं । देवता के लिये दुर्लभ होने में कृष्णराजि का नाम देवपरिधा है और देवों को सुख करने वाली होने में यह देवपरिचोमा कहलाती है ।

यह कृष्णराजि मचित अचिन पृथ्वी के परिणाम रूप है और इर्मालिये जीर और पृद्गलों दोनों के विस्तार रूप है ।

ये कृष्णराजियाँ अर्मग्यात हजार योजन लम्बी और मर्मग्यात हजार योजन चौड़ी हैं । इनका परिघेप (घेरा) अर्मग्यात हजार योजन है । (टागांग = ३.३ मू ६०३) (भगवती गतक ६ ३१ ग ४ मू. २५०) (प्रवचन सारासार २।४ २६३ गाथा १४८१ से १४८८)

६१७—वर्गणा आठ

समान ज्ञानि बाले पृद्गल परमाणुओं के समूह को वर्गणा कहते हैं । पृद्गल का स्वरूप समझने के लिए उमहें अनन्तानन्त परमाणुओं को नार्थेश्वर भगवान ने बाँट दिया है, उर्मा विभाग को

वर्गणा कहते हैं । इसके लिए विशेषावश्यक भाष्य में कुचिकर्ण का दृष्टान्त दिया गया है—

भरतनेत्र के मगध देश में कुचिकर्ण नाम का गृहपति रहता था । उसके पास बहुत गौएँ थीं । उन्हें चराने के लिए बहुत से ग्वाले रक्खे हुए थे । हजार से लेकर दस हजार गौओं तक के टोले बनाकर उसने ग्वालों को सौंप दिया । गौएँ चरते चरते जब आपस में मिल जातीं तो ग्वाले भगड़ने लगते । वे अपनी गौओं को पहिचान न सकते । इस कलह को दूर करने के लिए सफेद, काली, लाल, कवरी आदि अलग अलग रंग की टोले के अलग अलग टोले बनाकर उसने ग्वालों को सौंप दिए । इसके बाद उनमें कभी भगड़ा नहीं हुआ ।

इसी प्रकार सजातीय पुद्गल परमाणुओं के समूहों की व्यवस्था है । गौओं के स्वामी कुचिकर्ण के तुल्य कर्णवान् ने ग्वाल रूप अपने शिष्यों को गायों के समूहों के परमाणुओं का स्वरूप अच्छी तरह समझाने के लिए ग्वालों के रूप में विभाग कर दिया । वे वर्गणाएँ आ—

- (१) औदारिक वर्गणा—जो पुद्गल परमाणु औदारिक रूप में परिणत होते हैं, उनके समूह को औदारिक वर्गणा पुद्गल परमाणुओं का समूह ।
- (२) वैक्रिय वर्गणा—वैक्रिय शरीर रूप में परिणत होने वाले पुद्गल परमाणुओं का समूह ।
- (३) आहारक वर्गणा—आहारक शरीर रूप में परिणत होने वाले परमाणु पुद्गलों का समूह ।
- (४) तैजस वर्गणा—तैजस शरीर रूप में परिणत होने वाले परमाणुओं का समूह ।
- (५) भाषा वर्गणा—भाषा शरीर रूप में परिणत होने वाले पुद्गलपरमाणुओं का समूह ।

(६) आनप्राण या श्वाभोच्छ्वास वर्गेणा— मांस के रूप में परिगणित होने वाले परमाणुओं का समूह ।

(७) मनोवर्गेणा— मन रूप में परिगणित होने वाले पृद्गल परमाणुओं का समूह ।

(८) कर्मण वर्गेणा—कर्म रूप में परिगणित होने वाले पुद्गल परमाणुओं का समूह ।

इन वर्गेणाओं में आँदागिक की अपेक्षा वैक्रियक तथा वैक्रियक की अपेक्षा आहारक, इस प्रकार उनरोत्तर सूक्ष्म और बहुप्रदेशी हैं।

प्रत्येक वर्गेणा के ग्रहण योग्य अयोग्य और मिश्र के रूप में फिर तीन भेद हैं। प्रदेशों की अपेक्षा में मंख्यात, अमंख्यात, तथा अनंत भेद हैं। विस्तार विशेषावश्यक भाष्य आदि ग्रंथों में जान लेना चाहिए। (विशेषावश्यक भाष्य गाथा ६३१-६३५ नियुक्त गाथा ३-३१)

६१८— पुद्गलपरावर्तन आठ

अष्टा पन्थोपम की अपेक्षा में बीस कोड़ाकोड़ी माणसोम का एक काल चक्र होता है। अनन्त कालचक्र बीतने पर एक पुद्गलपरावर्तन होता है। इसके आठ भेद हैं—

(१) वाटर द्रव्यपुद्गलपरावर्तन (२) सूक्ष्म द्रव्यपुद्गलपरावर्तन

(३) वाटर घेयपुद्गलपरावर्तन (४) सूक्ष्म घेयपुद्गलपरावर्तन

(५) वाटर कालपुद्गलपरावर्तन (६) सूक्ष्म कालपुद्गलपरावर्तन

(७) वाटर भावपुद्गलपरावर्तन (८) सूक्ष्म भावपुद्गलपरावर्तन।

(१) वाटर द्रव्यपुद्गलपरावर्तन—आँदागिक, वैक्रिय, तन्त्रम, माता श्वाभोच्छ्वास, मन और कर्मण वर्गेणा के परमाणुओं को सूक्ष्म तथा वाटर परिगमना के द्वारा एक जीव आँदागिक आदि नोचन अथवा कर्मण में अनन्त भरी में धूमना हुआ जितने काल में ग्रहण करें, कर्म तथा छोड़े उन्हें वाटर द्रव्यपुद्गलपरावर्तन कहते हैं। पहिले गृहीत किए हुए पुद्गलों को दूसरा ग्रहण करना

गृहीतग्रहणा है। कुछ गृहीत तथा कुछ अगृहीत पुद्गलों को ग्रहण करना अगृहीतग्रहणा है। काल की इस गिनती में अगृहीतग्रहणा के द्वारा ग्रहण किए हुए पुद्गलस्कन्ध ही लिए जाते हैं गृहीत या मिश्र नहीं लिए जाते।

प्रत्येक परमाणु औदारिक आदि रूप सात वर्गणाओं में परिणामन करे। जब जीव सारे लोक में व्याप्त उन सभी परमाणुओं को प्राप्त करले तो एक द्रव्य पुद्गलपरावर्तन होता है।

(२) सूक्ष्म द्रव्यपुद्गलपरावर्तन—जिस समय जीव सर्वलोकवर्ती अणु को औदारिक आदि के रूप में परिणामता है, अगर उस समय बीच में वैक्रिय पुद्गलों को ग्रहण कर लेवे तो वह समय पुद्गल परावर्तन की गिनती में नहीं आता। इस प्रकार एक औदारिक पुद्गलपरावर्तन में ही अनन्त भव करने पड़ते हैं। बीच में दूसरे परमाणुओं की परिणति को न गिनते हुए जब जीव सारे लोक के परमाणुओं को औदारिक के रूप में परिणत कर लेता है तब औदारिक सूक्ष्म द्रव्यपुद्गलपरावर्तन होता है। इसी तरह वैक्रिय आदि सातों वर्गणाओं के परमाणुओं को परिणामाने के बाद वैक्रियादि रूप सूक्ष्म द्रव्य पुद्गलपरावर्तन होता है।

इनमें कर्मण पुद्गलपरावर्तनकाल अनन्त है। उससे अनन्त-गुणा तैजस पुद्गलपरावर्तनकाल। इस प्रकार अधिक होते हुए औदारिक पुद्गलपरावर्तन सब से अनन्तगुणा हो जाता है। कर्मण वर्गणा का ग्रहण प्रत्येक प्राणी के प्रत्येक भव में होता है। इसलिए उसकी पूर्ति जल्दी होती है। तैजस उसके अनन्तगुणे काल में पूरा होता है। इसी प्रकार उत्तरोत्तर जानना चाहिये।

अतीत काल में एक जीव के अनन्त वैक्रिय पुद्गलपरावर्तन हुए। उससे अनन्तगुणे भाषा पुद्गलपरावर्तन। उससे अनन्त-गुणे मनःपुद्गलपरावर्तन, उससे अनन्तगुणे श्वासोच्छ्वास पुद्गल-

परावर्तन, उममें अनन्नगुणे आहारिक पुद्गलपरावर्तन, उममें अनन्नगुणे तैजस पुद्गलपरावर्तन तथा उममें अनन्नगुणे कामग पुद्गलपरावर्तन हुए ।

किमी आचार्य का मत है कि जीव जब लोक में रहें हुए सभी पुद्गलपरमाणुओं को आहारिक, वैक्रिय, तैजस और कामग शरीर द्वारा कर्म लेता है अर्थात् प्रत्येक परमाणु को प्रत्येक शरीर रूप में परिणित कर लेता है तो बादर द्रव्यपुद्गलपरावर्तन होता है । सभी परमाणुओं को एक शरीर के रूप में परिणित कर फिर दूसरे शरीर रूप में परिणित, इस प्रकार क्रम से जब सभी शरीरों के रूप में परिणित लेता है तो सूक्ष्म द्रव्य पुद्गलपरावर्तन होता है । कुछ परमाणुओं को आहारिक शरीर के रूप में परिणित कर अगर वैक्रिय के रूप में परिणित न लग जाय तो वह हममें नहीं गिना जाता ।

(३) बादर क्षेत्रपुद्गलपरावर्तन—एक अंगुल आकाश में इतने आकाशप्रदेश है कि प्रत्येक समय में एक एक प्रदेश को मर्ग करने में अमंग्यात कालचक्र घूम जायें । इस प्रकार के सूक्ष्मप्रदेशों वाले मार्ग लोकाकाश को जर जीव प्रत्येक प्रदेश में जीवन-मरण पाता हुआ घूम कर लेता है तो बादर क्षेत्रपुद्गलपरावर्तन होता है । जिस प्रदेश में एक बार मृत्यु प्राण का घुसा है अगर उसी प्रदेश में फिर मृत्यु प्राण को तो वह हममें नहीं गिना जायगा । मिन वे ही प्रदेश गिने जायेंगे जिनमें रहने मृत्यु प्राण नहीं की । यद्यपि जीव अमंग्यात प्रदेशों में रहता है, फिर भी किसी एक प्रदेश को मुख्य रूप कर गिनती ही जा सकती है ।

(४) सूक्ष्म क्षेत्रपुद्गलपरावर्तन—एक प्रदेश की श्रेणी के ही दूसरे प्रदेश में मरण प्राण करता हुआ जीव जर लोकाकाश को घूम कर लेता है तो सूक्ष्म क्षेत्रपुद्गलपरावर्तन होता है । अगर

जीव एक श्रेणी को छोड़कर दूसरी श्रेणी के किसी प्रदेश में जन्म प्राप्त करता है तो वह इसमें नहीं गिना जाता। चाहे वह प्रदेश चिल्कुल नया ही हो। बादर में वह गिन लिया जाता है। जिस श्रेणी के प्रदेश में एक बार मृत्यु प्राप्त की है जब उसी श्रेणी के दूसरे प्रदेश में मृत्यु प्राप्त करे तभी वह गिना जाता है।

(५) बादर कालपुद्गलपरावर्तन—तीस कोड़ाकोड़ी सागरोपम का एक काल चक्र होता है। जब कालचक्र के प्रत्येक समय को जीव अपनी मृत्यु के द्वारा फरस लेता है तो बादर काल पुद्गलपरावर्तन होता है। जब एक ही समय में जीव दूसरी बार मरण प्राप्त कर लेता है तो वह इसमें नहीं गिना जाता। इस प्रकार अनेक भव करता हुआ जीव कालचक्र के प्रत्येक समय को फरस लेता है। तब बादर कालपुद्गलपरावर्तन होता है।

(६) सूक्ष्म काल पुद्गलपरावर्तन—काल चक्र के प्रत्येक समय को जब क्रमशः मृत्यु द्वारा फरसता है तो सूक्ष्म काल पुद्गलपरावर्तन होता है। अगर पहले समय को फरस कर जीव तीसरे समय को फरस ले तो वह इसमें नहीं गिना जाता। जब दूसरे समय में जीव की मृत्यु होगी तभी वह गिना जायगा। इस प्रकार क्रमशः कालचक्र के सभी समय पार कर लेने पर सूक्ष्म काल पुद्गलपरावर्तन होता है।

(७) बादर भाव पुद्गलपरावर्तन—रसबन्ध के कारण भूत कपाय के अध्यवसायस्थानक मन्द, मन्दतर और मन्दतम के भेद से असंख्यात लोकाकाश प्रमाण हैं। उनमें से बहुत से अध्यवसायस्थानक उत्तर कोड़ाकोड़ी सागरोपम वाले रसबन्ध के कारण हैं। उन सब अध्यवसायों को जब जीव मृत्यु के द्वारा फरस लेता है अर्थात् मन्द मन्दतर आदि उनके सभी परिणामों में एक बार मृत्यु प्राप्त कर लेता है तब एक बादर पुद्गलपरावर्तन होता है।

(८) सूक्ष्म भाव पृद्गलपरावर्तन—ऊपर लिखे हुए सभी भावों को जीव जब क्रमशः फल लेता है तो सूक्ष्म भाव पृद्गलपरावर्तन होता है । अर्थात् किसी एक भव के मन्द परिणाम को फल लेने के बाद अगर वह दूसरे भावों को फल लेता है तो वह इसमें नहीं गिना जायगा । जब उसी भाव के दूसरे परिणाम को फल लेगा तभी वह गिना जायगा । इस प्रकार क्रमशः प्रत्येक भाव के सभी परिणामों को फल लेता हुआ जब सभी भावों को फल लेता है तो सूक्ष्म भाव पृद्गलपरावर्तन होता है ।

इन आठ के मिश्रण किसी किसी ग्रन्थ में भव पृद्गलपरावर्तन भी दिया है । उसका स्वरूप निम्नलिखित है -

कोई जीव नरक गति में दस हजार वर्ष की आयु में लेकर एक एक समय को बढ़ाने हुए अमंज्यन्त भवों में नब्बे हजार वर्ष तक की आयु प्राप्त करे तथा दस लाख वर्ष स्थिति की आयु में लेकर एक एक समय बढ़ाने हुए तेतीस मागरोरम की आयु प्राप्त करे । इसी प्रकार देवगति में दस हजार वर्ष में लेकर एक एक समय बढ़ाने हुए तेतीस मागरोरम की आयु प्राप्त करे । मनुष्य तथा निर्यज्ञ भव में सुल्लभ भव में लेकर एक एक समय बढ़ाने हुए तीन पन्धरोरम की स्थिति को फल लेने बाद भव पृद्गलपरावर्तन होता है ।

जब नरक वर्गोद की स्थिति को क्रमशः फल ले तो सूक्ष्म भव पृद्गलपरावर्तन होता है । पूरे दस हजार वर्ष की आयु फल कर जब वह दस हजार वर्ष और एक समय की आयु नहीं फल लेगा वह काल इसमें नहीं गिना जाता । जब क्रमशः पहिले एक समय की फिर दूसरे समय की इस प्रकार सभी भव स्थितियों को फल लेता है तभी सूक्ष्म भव पृद्गलपरावर्तन होता है । भव पृद्गलपरावर्तन की मान्यता दिगम्बरों में प्रचलित है ।

दूसरे परमाणुओं का आकर मिलना पूरण है। मिले हुए परमाणुओं का अलग होना गलन है। पुद्गल के ये दो स्वभाव हैं। परमाणुओं का मिलना और अलग होना पुद्गलस्कन्ध में होता है। वे जीव की अपेक्षा अनन्त गुणे हैं। सारा लोकाकाश अनन्तानन्त पुद्गलस्कन्धों द्वारा भरा है। जितने समय में जीव सभी परमाणुओं को औदारिक आदि शरीर के रूप में परिणत करके छोड़े उस काल को सामान्य रूप से वादर द्रव्यपुद्गल-परावर्तन कहते हैं। इसी प्रकार काल आदि में भी जानना चाहिए। सूक्ष्म और वादर के भेद से वे आठ हैं। वादर का स्वरूप सूक्ष्म को अच्छी तरह समझने के लिए दिया गया है। शास्त्रों में जहाँ पुद्गलपरावर्तन काल का निर्देश आता है वहाँ सूक्ष्म पुद्गलपरावर्तन ही लेना चाहिए। जैसे सम्यक्त्व पाने के बाद जीव अधिक से अधिक कुछ न्यून अर्द्ध पुद्गलपरावर्तन में अवश्य मोक्ष प्राप्त करता है। यहाँ काल का सूक्ष्म पुद्गल परावर्तन ही लिया जाता है। (कर्म ग्रन्थ भाग ५ गाथा ८६-८८)

६१९.—संख्याप्रमाण आठ

जिसके द्वारा गिनती, नाप, परिमाण या स्वरूप जाना जाय उसे संख्याप्रमाण कहते हैं इसके आठ भेद हैं—

(१) नामसंख्या (२) स्थापना संख्या (३) द्रव्य संख्या (४) उपमान संख्या (५) परिमाण संख्या (६) ज्ञान संख्या (७) गणना संख्या (८) भाव संख्या।

(१) नाम संख्या—किसी जीव या अजीव का नाम 'संख्या' रख देना नाम संख्या है।

(२) स्थापना संख्या—काठ या पुस्तक वगैरह में संख्या की कल्पना कर लेना स्थापना संख्या है। नामसंख्या आयुपर्यन्त रहती है और स्थापना संख्या थोड़े काल के लिए भी हो सकती है।

- (३) द्रव्य संख्या—शरीर रूप द्रव्य को द्रव्य संख्या कहते हैं के ज शरीर, भव्य शरीर और तद्द्रव्यनिगृह्य वर्गगृह भेद ।
- (४) उपमान संख्या—किमी के साथ उपमा देकर किमी का स्वरूप या परिमाण बताने को उपमान संख्या कहते हैं चार तरह की है—(१) मद्भूत अर्थात् विद्यमान वस्तु में विद्यमान की उपमा देना । जैसे— नीर्यङ्करों की छाती वर्गगृह को विद्यमान वर्गगृह में उपमा दी जाती है । (२) विद्यमान पदार्थ को अविद्यमान में उपमा दी जाती है, जैसे—पण्योपम, मागरोपम आदि परिमाण को कृष्ण वर्गगृह में उपमा देना । यहाँ पण्योपमादि मद्भूत (विद्यमान) पदार्थ हैं और कृष्ण वर्गगृह अमद्भूत (अविद्यमान) पदार्थ हैं ।
- (३) अमन पदार्थ में मद्भूत पदार्थ की उपमा देना । जैसे— अतु के प्रारम्भ में नीचे गिरे हुए पुराने घुमे पत्ते नई कौपल कहते हैं—‘भाई ! हम भी एक दिन तुम्हारे मरीये ही की कांति धालें तथा चिकने थे । हमारी आज जो दशा है तुम भी एक दिन वही होगी, इस लिए अपनी मुन्दरता का परामर्श मत करो ।’ यहाँ पत्तों का आपस में बातचीत करना अमन अर्थात् अविद्यमान वस्तु है । उनके साथ मण्डजीशों की बातचीत की उपमा दी गई है । अर्थात् एक शायद प्रसन्न मन ममय नवयूवकों में कहता है ‘एक दिन तुम्हारी दशा होगी इस लिए अपने शरीर, शक्ति आदि का मिया मत करो ।’
- (४) अर्थात् अविद्यमान वस्तु में अविद्यमान की उपमा देना । जैसे—गंध के माग आकाश के कूलों में उपमा दी जाती है । जैसे—गंध के माग नहीं होते वैसे ही आकाश में कूल नहीं होते । इस लिए यह अमन में अमन की उपमा है ।
- (५) परिमाण संख्या—यथाय आदि की गिनती बताना परिमाण संख्या है । इसके दो भेद हैं—(१) कालिक भूत परिमाण संख्या

(२) दृष्टिवाद श्रुत परिमाण संख्या । कालिक श्रुत परिमाण संख्या अनेक तरह की हैं— अक्षरसंख्या, संघातसंख्या, पदसंख्या, पादसंख्या, गाथासंख्या, श्लोकसंख्या, वेष्टक (विशेष प्रकार का छन्द) संख्या, निक्षेप, उपोद्घात और सूत्रस्पर्शक रूप तीन तरह की निर्युक्ति संख्या, उपक्रमादि रूप अनुयोगद्वार संख्या, उद्देश संख्या, अध्ययन संख्या, श्रुतस्कन्ध संख्या और अङ्ग संख्या । दृष्टिवाद श्रुत की परिमाण संख्या भी अनेक तरह की हैं । पर्याय संख्या से लेकर अनुयोगद्वार संख्या तक इसमें सम्भना चाहिए । इनके सिवाय प्राभृत संख्या, प्राभृतिका संख्या, प्राभृतप्राभृतिका संख्या और वस्तु संख्या ।

(६) ज्ञान संख्या— जो जिस विषय को जानता है, वही ज्ञान संख्या है । जैसे— शब्दशास्त्र अर्थात् व्याकरण को शाब्दिक अर्थात् वैयाकरण जानता है । गणित को गणितज्ञ अर्थात् ज्योतिषी जानता है । निमित्त को निमित्तज्ञ । काल अर्थात् समय को कालज्ञानी तथा वैद्यक को वैद्य ।

(७) गणना संख्या— दो से लेकर गिनती को गणनासंख्या कहते हैं । 'एक' गिनती नहीं है । वह तो वस्तु का स्वरूप ही है । गणनासंख्या के तीन भेद हैं— संख्येय, असंख्येय और अनन्त । संख्येय के तीन भेद हैं— जघन्य, उत्कृष्ट और न जघन्य न उत्कृष्ट अर्थात् मध्यम ।

असंख्येय के नौ भेद हैं । (क) जघन्य परीत असंख्येयक (ख) मध्यम परीत असंख्येयक (ग) उत्कृष्ट परीत असंख्येयक (घ) जघन्य युक्त असंख्येयक (ङ) मध्यम युक्त असंख्येयक (च) उत्कृष्ट युक्त असंख्येयक (छ) जघन्य असंख्येय असंख्येयक (ज) मध्यम असंख्येय असंख्येयक (झ) उत्कृष्ट असंख्येय असंख्येयक ।

अनन्त के आठ भेद हैं वे अगले बोल में लिखे जाएंगे ।

दो मंज्या को जघन्य मंज्येयक कहते हैं। तीन में लेकर उन्कृष्ट में एक कम तरु की मंज्या को मध्यम मंज्येयक कहते हैं। उन्कृष्ट मंज्येयक का स्वरूप नीचे दिया जाता है - तीन पत्त अर्थात् कृष्ण जम्बूद्वीप की परिधि जितने कल्पित किए जायें। अर्थात् प्रत्येक पत्त की परिधि तीन लाव, सोलह हजार, दो सौ सत्ताईस योजन, तीन कोम, १२८ धनुष और साढ़े नव अंगुल में कुछ अधिक हो। एक लाव योजन लम्बाई तथा एक लाव योजन चौड़ाई हो। एक हजार योजन गहराई तथा जम्बूद्वीप की वेदिका जितनी (आठ योजन) ऊँचाई हो। पत्तों का नाम क्रमशः गुलाका, प्रतिगुलाका और महागुलाका हो। पहले गुलाका पत्त को मग्गों में भरा जाय। उसमें जितने दाने आएँ उन सब को निकाल कर एक द्वीप तथा एक समुद्र में डाल दिया जाय। इस प्रकार जितने द्वीप समुद्रों में वे दाने पड़े उतनी लम्बाई तथा चौड़ाई वाला एक अनवस्थित पत्त बनाया जाय। इसके बाद अनवस्थित पत्त को मग्गों में भरे। अनवस्थित पत्त की मग्गों निकाल कर एक दाना द्वीप तथा एक दाना समुद्र में डालना जाय। उन सब के गणन हो जाने पर मग्गों का एक दाना गुलाका पत्त में डाल दे। जितने द्वीप और समुद्रों में पहले अनवस्थित पत्त के दाने पड़े हैं उन सब को तथा प्रथम अनवस्थित पत्त को मिला कर जितना दिखाय हो उतने बड़े एक और मग्गों में भरे अनवस्थित पत्त की कल्पना करें। उसके दाने भी निकाल कर एक द्वीप तथा एक समुद्र में डालें और गुलाका पत्त में नामग दाना डाल दें। उतने द्वीप समुद्र तथा द्वितीय अनवस्थित पत्त जितने प मिमास दाने तीसरे अनवस्थित पत्त की कल्पना करें। इस प्रकार उत्तरीय बड़े अनवस्थित पत्तों की कल्पना करना हुआ गुलाका पत्त

में एक एक दाना डालता जाय । जब शलाका पत्थर इतना भर जाय कि उसमें एक भी दाना और न पड़ सके और अनवस्थित पत्थर भी पूरा भरा हो तो शलाका पत्थर के दानों को एक द्वीप तथा एक समुद्र में डालता हुआ फिर खाली करे । उसके खाली हो जाने के बाद एक दाना प्रतिशलाका पत्थर में डाल दे । शलाका पत्थर को फिर पहले की तरह नए नए अनवस्थित पत्थरों की कल्पना करता हुआ भरे । जब फिर भर जाय तो उसे द्वीप समुद्रों में डालता हुआ फिर खाली करे और एक दाना प्रतिशलाका पत्थर में डाल दे । इस प्रकार प्रतिशलाका पत्थर को भर दे । उसे भरने के बाद फिर उसी तरह खाली करे और एक दाना महाशलाका पत्थर में डाल दे । प्रतिशलाका पत्थर को फिर पहले की तरह शलाका पत्थरों से भरे । इस प्रकार जब शलाका, प्रतिशलाका, महाशलाका और अनवस्थित पत्थर सरसों से इतने भर जायँ कि एक भी दाना और न आ सके तो उन सब पत्थरों तथा द्वीप समुद्रों में जितने दाने पड़ें उतना उत्कृष्ट संख्यात होता है ।

असंख्येयक के भेदों का स्वरूप इस प्रकार है—

(क) जघन्यपरीतासंख्येयक—उत्कृष्ट संख्येयक से एक अधिक हो जाने पर जघन्य परीतासंख्येयक होता है ।

(ख) मध्यम परीतासंख्येयक—जघन्य की अपेक्षा एक अधिक से लगाकर उत्कृष्ट से एक कम तक मध्यम परीतासंख्येयक होता है ।

(ग) उत्कृष्ट परीतासंख्येयक—जघन्य परीतासंख्येयक की संख्या जितनी जघन्य संख्याएं रखे । फिर पहले से गुणन करते हुए जितनी संख्या प्राप्त हो उससे एक कम को उत्कृष्ट परीतासंख्येयक कहते हैं । जैसे—मान लिया जाय जघन्य परीतासंख्येयक '५' है, तो उतने ही अर्थात् पाँच पाँचों को स्थापित करे (५, ५, ५, ५, ५) । अब इनको गुणा करता जाय । पहले पाँच को दूसरे

पाँच से गुणा किया तो २५ हुए। फिर पाँच से गुणा करने पर १२५। फिर गुणा करने पर ६२५। अन्तिम दफा गुणा करने पर ३१२५।

(घ) जघन्य युक्तार्मस्येयक—उत्कृष्ट परीतार्मस्येयक में एक अधिक को जघन्य युक्तार्मस्येयक कहते हैं।

(ङ) मध्यम युक्तार्मस्येयक—जघन्य और उत्कृष्ट के बीच की संख्या को मध्यम युक्तार्मस्येयक कहते हैं।

(च) उत्कृष्ट युक्तार्मस्येयक—जघन्य युक्तार्मस्येयक को उमी संख्या से गुणा करने पर जो संख्या प्राप्त हो उसमें एक नून संख्या को उत्कृष्ट युक्तार्मस्येयक कहते हैं।

(छ) जघन्यार्मस्येयार्मस्येयक—उत्कृष्ट युक्तार्मस्येयक में एक और मिला देने पर जघन्यार्मस्येयार्मस्येयक हो जाता है।

(ज) मध्यमार्मस्येयार्मस्येयक—जघन्य और उत्कृष्ट के बीच की संख्या को मध्यमार्मस्येयार्मस्येयक कहते हैं।

(झ) उत्कृष्टार्मस्येयार्मस्येयक—उत्कृष्ट परीतार्मस्येयक की तरह यहाँ भी जघन्यार्मस्येयार्मस्येयक की उतनी ही गणितों व्यापित करें। फिर उनमें से प्रत्येक के साथ गुणा करने हुए बढ़ाता जाय। अन्त में जो संख्या प्राप्त हो उसमें एक कम तक को उत्कृष्टार्मस्येयार्मस्येयक कहते हैं।

किमी आचार्य का मत है कि जघन्यार्मस्येयार्मस्येयक को उमी से गुणा करना चाहिए। जो गणि प्राप्त हो उसे फिर उतनी ही से गुणा करें। जो गणि प्राप्त हो उसे फिर गुणन करें। इस तरह तीन बर्ग करके उसमें दस अर्मस्येयक गणि मिला दें। वे निम्नलिखित हैं—(१) लोकाकाश के प्रदेश (२) धर्म द्रव्य के प्रदेश (३) अयमं द्रव्य के प्रदेश (४) एक जीव द्रव्य के प्रदेश (५) द्रव्यार्थिक निगोद अर्थात् मूलम मायात्मक बनगति

के शरीर (६) अनन्तकाय को छोड़कर शेष पाँचों कार्यों के जीव (७) ज्ञानावरणीय आदि कर्म बन्धन के असंख्यात अध्य-
वसाय स्थान (८) अध्यवसाय विशेष उत्पन्न करने वाला असं-
ख्यात लोकाकाश की राशि जितना अनुभाग (९) योगप्रतिभाग
और (१०) दोनों कालों के समय । इस प्रकार जो राशि प्राप्त
हो उसे फिर तीन बार गुणा करे । अन्त में जो राशि प्राप्त हो
उससे एक कम राशि को उत्कृष्टासंख्येयासंख्येयक कहते हैं ।
(८) भाव संख्या—शंख योनि वाले द्वीन्द्रिय तिर्यश्च जीवों को
भाव शंख कहते हैं ।

नोट—प्राकृत में 'संखा' शब्द के दो अर्थ होते हैं, संख्या
और शंख । इसलिए सूत्र में इन दोनों को लेकर आठ भेद बताए
गए हैं ।

(अनुयोगद्वार, सूत्र १४६)

६२०—अनन्त आठ

उत्कृष्टासंख्येया संख्येयक से अधिक संख्या को अनन्त कहते
हैं । इसके आठ भेद हैं ।

(१) जघन्य परीतानन्तक—उत्कृष्टा संख्येयासंख्येयक से एक
अधिक संख्या ।

(२) मध्यम परीतानन्तक—जघन्य और उत्कृष्ट के बीच की संख्या ।

(३) उत्कृष्ट परीतानन्तक—जघन्य परीतानन्तक की संख्या को
उसी से गुणा करने पर जो संख्या प्राप्त हो, उससे एक कम को
उत्कृष्ट परीतानन्तक कहते हैं ।

(४) जघन्य युक्तानन्तक—जघन्य परीतानन्तक को उसी से गुणा
करने पर जो संख्या प्राप्त हो अथवा उत्कृष्ट परीतानन्तक से एक
अधिक संख्या को जघन्य युक्तानन्तक कहते हैं । इतने ही अभाव-
सिद्धिक जीव होते हैं ।

(५) मध्यम युक्तानन्तक—जघन्य और उत्कृष्ट के बीच की संख्या ।

लगाकर ऊपर को मुख खोल दिया जाय और उमकी - निकाल दी जाय। ऊपर के खाली भाग में पानी भरकर वापिस मुँह बंद दिया जाय और बीच की गाँठ खोल दी जाय। अब आकाश के नीचे के भाग में हवा और हवा पर पानी रहा हुआ है अथवा जमे से फूली हुई मशक को कमर पर बाँध कर कोई पुरुष अथवा में प्रवेश करे तो वह पानी की मलह पर ही रहता है। इसी प्रकार आकाश और वायु आदि भी आधाराधेय भाव में अवस्थित हैं।

(भग० श० १ उ० ६) (टाण्णंग = ३० ३ म० ६००)

६२२-अहिंसा भगवती की आठ उपमाएँ

हिंसा में विपरीत अहिंसा कहलाती है, अर्थात्— 'प्राणव्यपरोपणं हिंसा' मन, वचन, काया रूप तीन प्राणियों के दश प्राणों में से किसी प्राण का विनाश हिंसा है। इसके विपरीत अहिंसा है। उसका लक्षण इस है— 'अप्रमत्ततया शुभयोगपूर्वकं प्राणव्यपरोपणमहिंसा' अप्रमत्तता (सावधानता) में शुभयोग पूर्वक प्राणियों के प्राणों को किसी प्रकार कष्ट न पहुँचाना एवं कष्टापन्न प्राणी का कष्ट में उद्धार कर रक्षा करना अहिंसा कहलाती है। अगाध जल में डूबते हुए हिंसक जलजीवों में प्रभु एवं मत्त तटों में इतन्मत्तः उद्यन्तः हुए प्राणियों के लिए जिम तट दीप आधार होता है उसी प्रकार संसार रूपी मागर में डूबे हुए, मैरुहों दुःखों में पीड़ित, इष्ट वियोग अनिष्ट संयोग तटों में आन्तर्निष्ठ एवं पीड़ित प्राणियों के लिए अहिंसा दीप के समान आधारभूत होती है अथवा जिम तट अन्यथा में पड़े हुए प्राणी को दीपक अन्धकार का नाश कर इष्ट पदार्थ को ग्रहण करने आदि में प्रवृत्ति करवाने में कारणभूत होता है। इसी प्रकार जानारणीयादि अन्धकार को नष्ट कर विमुक्ति

और प्रभा का प्रदान कर हेयोपादेय पदार्थों में तिरस्कार स्वीकार (अग्रहण और ग्रहण) रूप प्रवृत्ति कराने में कारण होने से अहिंसा दीपक के समान है तथा आपत्तियों से प्राणियों की रक्षा करने वाली होने से हिंसा त्राण तथा शरणरूप है और कल्याणार्थियों के द्वारा आश्रित होने से गति, सब गुणों का आधार एवं सब सुखों का स्थान होने से प्रतिष्ठा आदि नामों से कही जाती है। इस अहिंसा भगवती (दया माता) के ६० नाम कहे गए हैं। वे इस प्रकार हैं—

(१) निव्वाण (निर्माण)—मोक्ष का कारण होने से अहिंसा निर्वाण कही जाती है।

(२) निव्वुई (निर्वृत्ति)—मन की स्वस्थता (निश्चिन्तता) एवं दुःख की निवृत्ति रूप होने से अहिंसा को निर्वृत्ति कहा जाता है।

(३) समाही (समाधि)—चित्त की एकाग्रता।

(४) सत्ती (शक्ति)—मोक्ष गमन की शक्ति देने वाली अथवा शान्ति देने वाली।

(५) किर्त्ती (कीर्ति)—यश कीर्ति देने वाली।

(६) कंती (कान्ति)—तेज, प्रताप एवं सौंदर्य और शोभा को देने वाली।

(७) रति—आनन्द दायिनी होने से अहिंसा रति कहलाती है।

(८) सुयङ्ग (श्रुताङ्ग)—श्रुत अर्थात् ज्ञान ही जिसका अङ्ग है ऐसी।

(९) विरति—पाप से निवृत्त कराने वाली।

(१०) तिर्त्ती (तृप्ति)—तृप्ति अर्थात् सन्तोष देने वाली।

(११) दया—सब प्राणियों की रक्षा रूप होने से अहिंसा दया अर्थात् अनुकम्पा है। शास्त्रकारों ने दया की बहुत महिमा बतलाई है और कहा है—‘सर्वजगज्जीवरक्खणं दयड्डयाए पावयणं भगवया सुकहियं।’

अर्थान्—सम्पूर्ण जगत् के जीवों की रक्षा रूप दया के लिए ही भगवान् ने प्रवचन कहे हैं अर्थान् सब करमाण हैं ।

(१२) विमुर्त्ता (विमुक्ति)—संसार के सब बन्धनों से मुक्त करने वाली होने में अहिंसा विमुक्ति कही जाती है ।

(१३) गन्ती (चालि)—क्रोध का निग्रह करने वाली ।

(१४) सम्मत्तागदगा (सम्मदन्तागदना)—ममकिन की आगदना करने वाली ।

(१५) महती (महती)—सब धर्मों का अनुष्ठान रूप होने में अहिंसा महती कहलाती है, क्योंकि—

एकं चिप एव धर्मं निदिष्टं विगर्वते मयोहि ।

प्रागादवाधिरमगमदमेमा तस्म रक्त्वद्वा ॥ १ ॥

अर्थान्—वीतिगत देव ने प्रागानिधान विरमग (अहिंसा) रूप एक ही धर्म मुख्य बनलाया है । और धर्म तो उसकी रक्षा के लिए ही बननाए गए हैं ।

(१६) बोधी (बोधि)—सर्वत्र प्रवर्धित धर्म की प्राप्ति करने वाली होने में अहिंसा बोधिरूप है अथवा अहिंसा का अन्त नान अनुकम्पा है । अनुकम्पा बोधि (ममकिन) का कारण है । इसलिए अहिंसा की बोधि कहा गया है ।

(१७) बुद्धी (बुद्धि)—अहिंसा बुद्धिप्रदायिनी होने में बुद्धि कहलाती है, क्योंकि कहा है—

नान्तर्गविना कुमला पंडितपुत्रिमा अर्पयिष्या चर ।

नान् कलागं पदं वे धम्म कर्त्तं न दासति ॥ १ ॥

अर्थान्—सब कलाओं में प्रधान अहिंसा रूप धर्मकला में अर्पयिष्य दुर्य नाम में वर्णित दुर्य की ७० कलाओं में धर्म होने हुए भी अर्पयिष्य ही है ।

(१८) विनी (विनि)—अहिंसा विन की रक्षा देने वाली होने

ने धृति कही जाती है ।

(१६) समिद्धी (समृद्धि), (२०) रिद्धी (ऋद्धि), (२१) विद्धी (वृद्धि)—अहिंसा समृद्धि, ऋद्धि और वृद्धि की देने वाली होने से क्रमशः उपरोक्त नामों से पुकारी जाती है ।

(२२) ठिती (स्थिति)—मोक्ष में स्थिति कराने वाली होने से अहिंसा स्थिति कहलाती है ।

(२३) पुण्य की वृद्धि करने वाली होने से पुट्टी (पुष्टि), (२४) आनन्द की देने वाली होने से नन्दा, (२५) भद्र अर्थात् कल्याण की देने वाली होने से भद्रा, (२६) पाप का क्षय कर जीव को निर्मल करने वाली होने से विशुद्धि (२७) केवलज्ञानादि लब्धि का कारण होने से अहिंसा लब्धि (लब्धि) कहलाती है । (२८) विसिद्धिदिद्धी (विशिष्ट दृष्टि) सब धर्मों में अहिंसा ही विशिष्ट दृष्टि अर्थात् प्रधान धर्म माना गया है । यथा:—

किं तए पठियाए पयकोडीए पलाल भूयाए ।

जत्थेत्तियं न्णायं परस्स पीडा न कायव्वा ॥ १ ॥

अर्थात्—प्राणियों को किसी प्रकार की तकलीफ न पहुँचानी चाहिए, यदि वह तत्त्व न सीखा गया तो करोड़ों पद अर्थात् सैकड़ों शास्त्र पढ़ लेने से भी क्या प्रयोजन ? क्योंकि अहिंसा के बिना वे सब पलालभूत अर्थात् निःसार हैं ।

(२९) कल्लाणं (कल्याण)—अहिंसा कल्याण की प्राप्ति कराने वाली है । (३०) मंगलं—मं (पापं) गालयतीति मङ्गलं अर्थात् जो पापों को नष्ट करे वह मंगल कहलाता है । मंगं श्रेयः कल्याणं लाति ददातीति मङ्गलं अर्थात् कल्याण को देने वाला मङ्गल कहलाता है । पाप विनाशिनी होने से अहिंसा मङ्गल कहलाती है ।

(३१) प्रमोद की देने वाली होने से पमोअ (प्रमोद), (३२) सब विभूतियों की देने वाली होने से विभूति, (३३) सब जीवों की

रत्ना रूप होने में रत्ना, (३४) मोक्ष के अक्षय निधाम को देने वाली होने में निदायाम, (३५) कर्मबन्ध को रोकने का उपाय रूप होने में अहिंसा अणामयो (अनाश्रय) कहलाती है ।

(३६) केवलीग ठाण्—अहिंसा केवली भगवान का ध्यान है अर्थात् केवली प्ररूपित धर्म का मुख्य आधार अहिंसा ही है । इमीलिण् अहिंसा केवलीठाण कहलाती है ।

(३७) शिव अर्थात् मोक्ष का हेतु होने में शिवं (शिवं), (३८) सम्मत् प्रवृत्ति कराने वाली होने में समिति, (३९) चित्त की समधि रूप होने में मील (शील), (४०) हिंसा में निवृत्ति कराने वाली होने में मंजम (मंयम), (४१) चाग्नि का घर (आश्रय) होने में मीलपरिघर, (४२) नवीन कर्मों के बन्ध को रोकने वाली होने में मंवर, (४३) मन की अनुमत् प्रवृत्तियों को रोकने वाली होने में गुप्ति, (४४) त्रिगुण अव्यवमाय रूप होने में व्यवमाय (व्यवमाय), (४५) मन के शुद्ध भावों को उन्नति देने वाली होने में उम्मथो (उच्छ्रय), (४६) भाव में देवराजा रूप होने में जगण् (यज), (४७) गुणों का ध्यान होने में आयतण् (आयतन), (४८) अमय दान की देने वाली होने में यजना अथवा प्राणियों की रक्षा रूप होने में जतना (यतना), (४९) प्रमाद का त्याग रूप होने में अपमाथो (अप्रमाद), (५०) प्राणियों के लिए आन्तरामन रूप होने में अम्मामो (आन्तराम), (५१) विश्वास रूप होने में धीमामो (विश्वास), (५२) जगत् के सब प्राणियों को अमयदान की देने वाली होने में अमथो (अनय), (५३) किसी भी प्राणी को न मारने रूप होने में अमायाथो (अमायान्—अमारि), (५४) परित होने में चोदय (चोद्य), (५५) अग्नि परित होने के दाम्ण अहिंसा पविन (परित) बड़ी जाती है । (५६) गृती (शुचि)—भाय शुचि रूप होने में अहिंसा

शुचि कही जाती है। कहा भी है:-

सत्यं शौचं तपः शौचं, शौचमिन्द्रियनिग्रहः ।

सर्वभूतदया शौचं, जल शौचं च पञ्चमम् ॥

अर्थात्-सत्य, तप, इन्द्रियनिग्रह, सब प्राणियों की दया शुचि हैं और पाँचवीं जल शुचि कही गई है।

उपरोक्त चार भाव शुचि हैं और जलशुचि द्रव्य शुचि हैं।

(५७) पूया (पूता-पूजा) पवित्र होने से पूता और भाव से देव-पूजा रूप होने से अहिंसा पूजा कही जाती है।

(५८) विमला (स्वच्छ) होने से-विमला, (५९) दीप्ति रूप होने से-पभासा (प्रभा), (६०) जीव को अति निर्मल बनाने वाली होने से-णिम्मलतरा (निर्मलतरा) कही जाती है।

यथार्थ के प्रतिपादक होने से उपरोक्त साठ नाम अहिंसा भगवती (दया माता) के पर्यायवाची शब्द कहे जाते हैं।

अहिंसा को आठ उपमाएं दी गई हैं:-

(१) भयभीत प्राणियों के लिए जिस प्रकार शरण का आधार होता है, उसी प्रकार संसार के दुःखों से भयभीत प्राणियों के लिए अहिंसा आधारभूत है।

(२) जिस प्रकार पक्षियों के गमन के लिए आकाश का आधार है उसी प्रकार भव्य जीवों को अहिंसा का आधार है।

(३) प्यासे पुरुष को जैसे जल का आधार है उसी प्रकार भव्य जीव को अहिंसा का आधार है।

(४) भूखे पुरुष को जैसे भोजन का आधार है उसी प्रकार भव्य जीव को अहिंसा का आधार है।

(५) समुद्र में डूबते हुए प्राणी को जिस प्रकार जहाज या नौका का आधार है उसी प्रकार संसार रूपी समुद्र में चकर खाते हुए भव्य प्राणियों को अहिंसा का आधार है।

(६) त्रिम प्रकार चतुस्रद (पञ्च) को मृदे का, (७) गंगी को औषधि का और (८) अटवी (जंगल) में मार्ग भूने हुए पथिक को किन्नी के साथ का आधार होता है, उन्ही प्रकार संसार में कर्मा के वर्गीभूत होकर नाना गतियों में भ्रमण करने हुए मध्य प्राणियों के लिए अहिंसा का आधार है। त्रम आधार आदि मर्मा प्राणियों के लिए अहिंसा चेमंकरी अर्थात् हितकारी है। इमीलिए इसे भगवती कहा गया है। (प्रश्न व्याकरण, प्रथम मंत्र द्वार सू २३)

६२३.— संघ की आठ उपमाएं

माधु, माध्वी, श्रावक, श्राविका, इन चारों तीर्थों के समूह को संघ कहते हैं। नन्दी सूत्र की पीठिका में इनको निम्न निम्न आठ उपमाएं दी गई हैं:—

(१) पहली उपमा नगर की दी गई है।

गुणमयगगदग मुपयगमगिय दंसगविनुदग्न्यागा।

संघनगर ! मर्द ते अगंडचाग्निशागा ॥

अर्थात्—जो पिंडविनुटि, पाँच ममिनियाँ, बाग्द मानार्, आभ्यन्तर और बाह्य रूप, निवृत्त तथा श्रावक की पटिमार् और अमिप्रद इन उत्तमगुण स्त्री भवनों के द्वारा गुम्विन है, जो नाय स्त्री स्त्री में मग हृष्टा है; प्रजम, मरिग, निर्वेद, अनुकम्पा और आम्निदर रूप चिट्ठों के द्वारा ज्ञान इव दारिक, दायोपगुमिक तथा औपगुमिक मन्दस्व ज्ञान मार्ग है। अमंड अर्थात् निर्वोष मूलगुण स्त्री चाग्नि त्रिम का प्रसार है तब है संघ स्त्री नगर ! तेम कन्दगा हो।

(२) दूसरी उपमा चक्र की दी गई है:—

संघनगरनुंदाग्दम्य नमो मन्मनराग्दम्य।

अग्निद्विदम्य ज्ञानो होउ मया संघनगरम्य

अर्थात्—मन्द प्रसार का मंदम त्रिम की दृष्टि है मया

तरह का तप आरे हैं, सम्यक्त्व जिस की परिधि है, जिसके समान दूसरा कोई चक्र नहीं है, ऐसे संघ रूपी चक्र की सदा जय हो ।

(३) तीसरी उपमा रथ से दी गई है:-

भद्रं सीलपडागूसियस्स तवनियम तुरयजुत्तस्स ।

संधरहस्स . भगवओ सज्जायसुनंदिघोसस्स ॥

जिस पर अठारह हजार शील के अङ्ग रूपी पताकाएं फहरा रही हैं, तप और संयम रूपी घोड़े लगे हुए हैं, पाँच तरह का स्वाध्याय जहाँ मंगलनाद है अथवा धुरी का शब्द है ऐसे संघ भगवान् रूपी रथ का कन्याण हो ।

(४) चौथी उपमा कमल से दी गई है:-

कम्मरय जलोहविणिग्गयस्स सुयरयणदीहनालस्स ।

पंच महव्वयथिरकन्नियस्स गुणकेसरालस्स ॥

सावगजणमहुअरिपरिवुडस्स जिणस्सरेयवुद्धस्स ॥

संधपउमस्स भद्रं समणगण सहस्सपत्तस्स ॥

जो ज्ञानावरणादि आठ कर्म रूपी जलाशय से निकला है, जिस तरह कमल जल से उत्पन्न होकर भी उसके ऊपर उठा रहता है उसी तरह संघ रूपी कमल संसार रूपी या कर्म रूपी जल से उत्पन्न होकर भी उनके ऊपर उठा हुआ है अर्थात् उन से बाहर निकल चुका है । यह नियम है कि जो एक बार सम्यक्त्व प्राप्त कर लेता है वह अधिक से अधिक अर्द्धपुद्गल-परावर्तन काल में मोक्ष अवश्य प्राप्त करता है । इसलिए साधु, साध्वी, श्रावक, श्राविका रूप संघ में आया हुआ जीव संसार से निकला हुआ ही समझना चाहिए ।

शास्त्रों के द्वारा ज्ञान प्राप्त करके ही जीव कर्म रूपी जल से ऊपर उठता है और शास्त्रों के द्वारा ही धर्म में स्थिर रहता है । इसलिए शास्त्रों को नाल अर्थात् कमल दण्ड कहा गया है ।

मंघ रूपी पद्म के लिए श्रुतस्व रूपी लम्बी नाल है ।

पाँच महाव्रत रूप कर्णिकाणं अर्थात् शाखाएँ जिन पर का पत्ता टहरा रहता है । उत्तर्गुण केसर अर्थात् कमलस्त्र जिम तरह कमल कारज चारों तरफ बिस्तर कर गुणवत् है उसी तरह उत्तर्गुण भी उन्हें धारण करने वाले की कीर्ति फैलाने हैं । जो सम्पत्कन्व तथा अणुव्रतों को घाग उचरोत्तर विशेष गुणों को प्राप्त करने के लिए ममाचार्य को हैं वे श्रावक कहलाते हैं । मंघ रूपी पद्म के श्रावक ही भ्रमर हैं ।

भ्रमर को तरह श्रावक भी प्रतिदिन थोड़ा थोड़ा प्रहंग करते हैं । जिन्होंने चार घाती कर्मों का चयन कर दिया ऐसे जिन रूपी सूर्य के द्वारा मंघ रूपी कमल मिलता है जिन भगवान् ही घमे के रहस्य की देशना देकर मंघ कमल का विकास करते हैं । छः काया की रक्षा करने नपम्बी, निशुद्धान्मा श्रमणों का समूह ही इसके महस पर हैं ऐसे श्री मंघ रूपी कमल का कल्याण हो ।

(५) पाँचवीं उपमा चन्द्र से दी गई है:-

नयमंजममयलंक्षण अकिरियमद्दु महदुद्धग्गि निणं ।

जय मंघचंद ! निम्मल मम्मचचिशुद्ध जोएडागा ॥

नय और मंयम रूपी मृग लाणछन अर्थात् मृग के चिह्न बने, जिनरचन पर श्रद्धा न करने वाले नास्तिक रूपी गद्दुमों द्वारा दुःप्राप्त, निर्दोष सम्पत्कन्व रूपी विशुद्ध प्रमा बाने हैं मंघचंद्र ! तेरी मदा जय हो । परदर्शनरूपी नारों में तेरी प्रमा मदा अधिक रहे ।

६) छठी उपमा सूर्य से दी गई है:-

परतिन्धियदगदपहनाममम्म तरतंयदिनलमम्म ।

माणुजोयम्म जण महं ठम मंघ सूरम्म ॥

एक एक नय को परद कर चलने वाले, माण्य, दाग न्याय

और चमकीले शिखर हैं। संघमेरु के चित्त रूपी शिखर हैं।
 अशुभ विचारों के हट जाने से वे हमेशा उँचे उठे हुए हैं।
 प्रत्येक समय कर्मरूपी मेल के दूर होने से उज्ज्वल हैं। उत्तरोत्तर
 सूत्रार्थ का स्मरण करने से हमेशा दीप्त अर्थात् चमकीले हैं।
 मेरुपर्वत नन्दन वन की मनोहर सुगन्ध से पूर्ण हैं। संघमेरु
 में सन्तोष ही नन्दन वन है, क्योंकि वह आनन्दन देता है।
 वह नन्दन औषधियों और लब्धियों से भरा होने के कारण
 मनोहर है। शुद्ध चारित्र्य रूप शील ही उसकी गन्ध है। इन
 सब बातों से संघरूपी मेरु सुशोभित है। मेरु की गुफाओं में सिंह
 रहते हैं। संघ रूपी मेरु में दया रूप धर्म ही गुफा है, क्योंकि
 दया अपने और दूसरे सभी को आराम देती है। इस गुफा में
 कर्मरूपी शत्रु को जीतने के लिए उद्दिष्ट अर्थात् वमण्ड वाले
 और परतीर्थिक रूपी मृगों को पराजित करने से मृगेन्द्र रूप
 मुनिवर निवास करते हैं। मेरु पर्वत में चन्द्र के प्रकाश से भरने
 वाली चन्द्रकान्त आदि मणियाँ, सोना चाँदी आदि धातुएँ
 तथा बहुत सी चमकीली औषधियाँ होती हैं। संघमेरु में अन्वय
 व्यतिरेक रूप सैकड़ों हेतु धातुएँ हैं, मिथ्या युक्तियों का खण्डन
 करने से वे स्वभावतः चमक रहे हैं। शास्त्र रूपी रत्न हैं जो
 हमेशा चाक्षोपशमिक आदि भाव तथा चारित्र्य को भरते (वताते)
 रहते हैं। अमरौषधि वगैरह औषधियाँ उनकी व्याख्यानशाला
 रूप गुफाओं में पाई जाती हैं। मेरु पर्वत में शुद्ध जल के भरने
 हुए भरने हार की तरह मालूम पड़ते हैं। संघमेरु में प्राणा-
 तिपात आदि पाँच आश्रवों के त्याग स्वरूप संवर रूपी श्रेष्ठ
 जल के भरने भरते हुए हार हैं। कर्म मल को धोने वाला,
 सांसारिक तृष्णा को दूर करने वाला तथा परिणाम में लाभकारी
 होने से संवर को श्रेष्ठ जल कहा है। मेरु पर्वत पर सोर नाचने

मंथवर्जलपगलिय उज्झ्वपविरायमाणहाग्मम् ।
 माधवजगपउग्मन्तमोरनचन्त कुहग्मम् ॥
 विगुपनपपवग्मगिवर फुरन्तविज्जुज्जन्तमिहग्मम् ।
 विविह गुग्ग कप्पकग्गग फलमर कुमुमाउलवग्मम् ॥
 नागवग्गगदिप्पन्त कन्तवेरुलिय विमलचुलम् ॥
 वंढामि विगुपपग्गथो मंथमद्दामंद्गगिरिम् ॥

इन गाथाओं में मंथ की उपमा मेरु पर्वत में दी गई है। मेरु पर्वत के नीचे वज्रमय पीठ है, उसी के ऊपर माग पर्वत है। मंथ रूपा मेरु के नीचे मम्भन्दर्शन रूपा वज्र पीठ है। मम्भन्दर्शन की नींव पर ही मंथ गढ़ा होता है। मंथ में प्रविष्ट होने के लिए मथ में पहली बात है मम्भन्व व प्राप्ति। मेरु के वज्रपीठ की तरह मंथ का मम्भन्दर्शन रूपा पीठ भी दृढ़, मृद अर्थात् चिरकाल में स्थिर, गाढ़ अर्थात् शीत तथा अवगाढ़ अर्थात् गहरा रस होता है। गूँहा, शंका आदि दोषों से रहित होने के कारण परतीक्षिक रूप जल का प्रतीक नहीं होने में मम्भन्दर्शन रूपा पीठ दृढ़ है अर्थात् स्थिर नहीं हो सकता। चिन्तन, आलोचन, प्रत्यालोचन आदि प्रणिममय अधिकाधिक सिद्ध होने के कारण चिरकाल तक रहने में मृद है। तत्त्वविषयक भीष्ट रसि वाला होने में गाढ़। जीवादि पदार्थों के मम्भग्गान पृक्त होने में दृढ में रस होता है अर्थात् अवगाढ़ है।

मेरु पर्वत के चारों तरफ सब जहाँ हुई मोने की समता है। मंथरूपा मेरु के चारों तरफ उज्ज्वगुण रूपा रसों में उज्ज्व। मूलगुण रूपा मेमला है। मूलगुण उज्ज्वगुणों के रस में नहीं देने। इसलिए मूलगुणों को मेमला और उज्ज्व की उपमा जड़े हुए सब कहा है। मेरु गिरि के उज्ज्व

नवां बोलसंग्रह

६२४—भगवान् महावीर के शासन में तीर्थंकर गोत्र बाँधने वाले जीव नौ

जिस नाम कर्म के उदय से जीव तीर्थंकर रूप में उत्पन्न हो उसे तीर्थंकर गोत्र नामकर्म कहते हैं ।

भगवान् महावीर के समय में नौ व्यक्तियों ने तीर्थंकर गोत्र बाँधा था । उनके नाम इस प्रकार हैं—

(१) श्रेणिक राजा ।

(२) नुपार्श्व—भगवान् महावीर के चाचा ।

(३) उदायी—कोणिक का पुत्र । कोणिक के बाद उसने पाटलि-पुत्र में प्रवेश किया । वह शास्त्रज्ञ और चारित्रवान् गुरु की सेवा किया करता था । आठम चौदस वगैरह पर्वों पर पोसा वगैरह किया करता था । धर्मारामन में लीन रहता और श्रावक के व्रतों को उत्कृष्ट रूप से पालता था । किसी शत्रुराजा ने उदायी का सिर काट कर लाने वाले के लिए बहुत पारितोषिक देने की घोषणा कर रखी थी । साधु के नेश में इस दुष्कर्म को सुसाध्य समझ कर एक अभव्य जीव ने दीक्षा ली । बारह वर्ष तक द्रव्य संयम का पालन किया । दिखावटी विनय आदि से सब लोगों में अपना विश्वास जमा लिया ।

एक दिन उदायी राजा ने पोसा किया । रात को उस धूर्त साधु ने छुरी से राजा का सिर काट लिया । उदायी ने शुभ

के पास जाकर वन्दना नमस्कार करके प्रश्न पूछे । इसके बाद परम आनन्दित होते हुए भगवान् को फिर वन्दना की । कोष्ठक नामक चैत्य से निकल कर श्रावस्ती की ओर प्रस्थान किया ।

मार्ग में शंख ने दूसरे श्रावकों से कहा—देवानुग्रियो ! घर जाकर आहार आदि सामग्री तैयार करो । हम लोग पाक्षिक पौषध (दया) अङ्गीकार करके धर्म की आराधना करेंगे । सब श्रावकों ने शंख की यह बात मान ली ।

इसके बाद शंख ने मन में सोचा—‘अशनादि का आहार करने हुए पाक्षिक पौषध का आराधन करना मेरे लिए श्रेयस्कर नहीं है । मुझे तो अपनी पौषधशाला में मणि और सुवर्ण का त्याग करके, माला, उद्धर्तन (गसी आदि लगाना) और विलेपन आदि छोड़कर, शस्त्र और मूसल आदि का त्याग कर, दर्भ का संधारा (विस्तर) बिछाकर, अकेले बिना किसी दूसरे की सहायता के पौषध की आराधना करनी चाहिए ।’ यह सोच कर वह घर आया और अपनी स्त्री के सामने अपने विचार प्रकट किये । फिर पौषधशाला में जाकर विधिपूर्वक पौषध ग्रहण करके बैठ गया ।

दूसरे श्रावकों ने अपने अपने घर जाकर अशन आदि तैयार कराए । एक दूसरे को बुलाकर कहने लगे—हे देवानुग्रियो ! हमने पर्याप्त अशनादि तैयार करवा लिये हैं, किन्तु शंखजी अभी तक नहीं आए । इसलिए उन्हें बुला लेना चाहिये ।

इस पर पोखली श्रमणोपासक बोला — ‘देवानुग्रियो ! आप

* शाटस चौदस या पन्धरी आदि वर्ष पौषध कहलाते हैं । उन तिथियों पर पन्द्रह पन्द्रह दिन से जो पोसा किया जाय वह पाक्षिक पौषध है । इसी को दया कहते हैं । छः कार्यों की दया पातते हुए सब प्रकार के सावद्य व्यापार का एक करण एक योग या दो करण तीन योग से त्याग करना दया है ।

लोग चिन्ता मन कीजिए । मैं स्वयं जाकर शंखजी को बुला लाता हूँ' यह कह कर वह वहाँ से निकला और श्रावस्ती के बीच में होता हुआ शंख श्रमणोपामक के घर पहुँचा ।

घर में प्रवेश करते ही उत्पला श्रमणोपामिका ने पोंगली श्रमणोपामक को देखा । देख कर वह बहुत प्रसन्न हुई । अपने आसन में उठकर मान आठ कदम उनके सामने गई । पोंगली श्रावक को वन्दना नमस्कार किया । उन्हें आसन पर बैठने के लिये उपनिमन्त्रित किया । श्रावक के बैठ जाने पर उमने फिर पूर्वक कहा—हे देवानुप्रिय ! कहिए ! आपके पद्माग्ने का क्या प्रयोजन है ? पोंगली श्रावक ने पृच्छा—देवानुप्रिये ! शंख श्रमणोपामक कहाँ हैं ? उत्पला ने उत्तर दिया—शंख श्रमणोपामक तो पौष्यशाला में पोमा करके ब्रह्मचर्य आदि व्रत ले कर धर्म का आराधन कर रहे हैं ।

पोंगली श्रमणोपामक पौष्यशाला में शंख के पास आए । वहाँ आकर गमनागमन (ईर्यावहि) का प्रतिक्रमण किया । इसके बाद शंख श्रमणोपामक को वन्दना नमस्कार करके बोला, हे देवानुप्रिय ! आपने जैसा कहा था, पर्याप्त अशन आदि तैयार करवा लिये गए हैं । हे देवानुप्रिय ! आइये वहाँ चले और आहार करके पात्रिक पौष्य की आराधना तथा धर्म जागृति करें । इसके बाद शंख ने पोंगली से कहा—हे देवानुप्रिय ! मैंने पौष्यशाला में पोमा ले लिया है । अतः मुझे अशनादि का मेहनत करना नहीं कल्पता । मुझे तो विधिवत्क पोमे का पालन करना चर्चते हैं । आप लोग अपनी इच्छानुसार उम विट्ठल अशन, पान, स्वादिम और स्वादिम चारों प्रकार के आहार का मेहनत करने हुए धर्म की जागरणा कीजिए ।

इसके बाद पोंगली पौष्यशाला में चार निवृत्ता । नगरी

तत्त्वों के जानकार श्रमणोपासक सुदृष्टि (सुदर्शन) जागरिका किया करते हैं।

इसके बाद शंख श्रमणोपासक ने भगवान् महावीर से क्रोध आदि चारों कपायों के फल पूछे। भगवान् ने फरमाया— क्रोध करने से जीव लम्बे काल के लिए अशुभ गति का बन्ध करता है। कठोर तथा चिकने कर्म बांधता है। इसी प्रकार मान, माया और लोभ से भी भयङ्कर दुर्गति का बन्ध होता है। भगवान् से क्रोध के तीव्र तथा कटुफल को जानकर सभी श्रावक कर्मबन्ध से डरते हुए संसार से उद्विग्न होते हुए शंखजी के पास आए। बार बार उनसे क्षमा मांगी। इस प्रकार खमत खामणा करके वे सब अपने अपने घर चले गए।

श्री गौतम स्वामी के पूछने पर भगवान् ने फरमाया— शंख श्रावक मेरे पास चारित्र्य अङ्गीकार नहीं करेगा। वह बहुत वर्षों तक श्रावक के व्रतों का पालन करेगा। शीलव्रत, गुणव्रत, विरमणव्रत, पाँपघ, उपवास वगैरह विविध तपस्याओं को करता हुआ अपनी आत्मा को निर्मल बनाएगा। अन्त में एक मास का संथारा करके सौधर्म कल्प में चार पत्न्योपम की स्थिति वाला देव होगा।

इसके बाद यथासमय तीर्थङ्कर के रूप में जन्म लेकर जगत्कल्याण करता हुआ सिद्ध होगा। (भगवती श० १२ उ० १)

(८.) सुलसा— प्रसेनजित् राजा के नाग नामक सारथि की पत्नी। इसका चारित्र्य नीचे लिखे अनुसार है— एक दिन सुलसा का पति पुत्रप्राप्ति के लिए इन्द्र की आराधना कर रहा था।

सुलसा ने यह देखकर कि पति इन्द्र की आराधना कर रहा है, उसे विवाह करलो। सारथि ने कहा कि वह कह कर उसकी बात कर दी।

करके धर में धावट निकले । मय एक जगह इकट्ठे हुए । 'नगर के बीच में होते हुए कोष्टक नामक चैत्य में भगवान के मर्माप पहुँचे वन्दना नमस्कार करके पयुषामना करने लगे । भगवान ने धर्म का उपदेश दिया । वे मय आचर्य धर्मकथा सुन कर बहुत प्रसन्न हुए । वहाँ से उठकर भगवान को वन्दना की । फिर गंग के पान आकर कटने लगे—हे देवानुप्रिय ! वन आपने हमें कहा था, पृथ्वी आदर आदि नैवार कगधो । फिर हम लोग पाचिक पाँषध का आगवन करेंगे । इसके बाद आप पाँषधगाला में पोसा लेकर बैठ गए । इस प्रकार आपने हमारी अच्छी ढीलना (हाँसी) की ।

इस पर श्रमग भगवान महावीर ने श्रवकों को कहा—हे-आशों ! आप लोग गंग की ढीलना, निन्दा, निमना, गदना या अधमानना मत करो, क्योंकि गंग श्रमलोपामक प्रियदर्शन और इक्षुमर्मा है । हमने प्रमाद और निद्रा का त्याग करके ज्ञानी की तरह मुदकपुत्रागमिया (मुदोष्टि ज्ञागमिया) का आगवन किया है ।

मानम स्वामी के पढ़ने पर भगवान ने वना रा ज्ञागमियाएँ नीति हैं । उनका स्वरूप नीचे लिखे अनुसार है—

१. वृद्धज्ञागमिका—कैवलज्ञान और कैवलदर्शन के धारक प्रसन्न भगवान वृद्ध कहलाते हैं । उनकी प्रमाद गति अदम्या ही वृद्धज्ञागमिका कहने हैं ।

२. अवृद्धज्ञागमिका—जो अनगार हेमोष्टि पांच मार्मात्र नीति गृहि तथा पाँच महाव्रतों का पालन करते हैं, वे मार्ग न हान कर ज्ञान अवृद्ध कहलाते हैं । उनकी ज्ञागम्या का अर्थ ज्ञागमिका कहने हैं ।

३. मुदकपुत्रागमिका, मुदोष्टिज्ञागमिका—जो, अर्थात् अ-

तत्त्वों के जानकार श्रमणोपासक सुदृष्टि (सुदर्शन) जागरिका किया करते हैं।

इसके बाद शंख श्रमणोपासक ने भगवान् महावीर से क्रोध आदि चारों कपायों के फल पूछे। भगवान् ने फरमाया— क्रोध करने से जीव लम्बे काल के लिए अशुभ गति का बन्ध करता है। कठोर तथा चिकने कर्म बांधता है। इसी प्रकार मान, माया और लोभ से भी भयङ्कर दुर्गति का बन्ध होता है। भगवान् से क्रोध के तीव्र तथा कड़ुफल को जानकर सभी श्रावक कर्मबन्ध से छुटते हुए संसार से उद्धिग्न होते हुए शंखजी के पास आए। बार बार उनसे क्षमा मांगी। इस प्रकार खमत खामणा करके वे सब अपने अपने घर चले गए।

श्री गौतम स्वामी के पूछने पर भगवान् ने फरमाया— शंख श्रावक मेरे पास चारित्र्य अङ्गीकार नहीं करेगा। वह बहुत वर्षों तक श्रावक के व्रतों का पालन करेगा। शीलव्रत, गुणव्रत, विरमणव्रत, पौषध, उपवास वगैरह विविध तपस्याओं को करता हुआ अपनी आत्मा को निर्मल बनाएगा। अन्त में एक मास का संथारा करके सौधर्म कल्प में चार पत्न्योपम की स्थिति वाला देव होगा।

इसके बाद यथासमय तीर्थङ्कर के रूप में जन्म लेकर जगत्कल्याण करता हुआ सिद्ध होगा। (भगवती श० १२ उ० १)
(=) सुलसा— प्रसेनजित् राजा के नाग नामक सारथि की पत्नी। इसका चारित्र्य नीचे लिखे अनुसार है— एक दिन सुलसा का पति पुत्रप्राप्ति के लिए इन्द्र की आराधना कर रहा था। सुलसा ने यह देख कर कहा— दूसरा विवाह करलो। सारथि ने, 'मुझे तुम्हारा पुत्र ही चाहिए' यह कह कर उसकी बात अस्वीकार कर दी।

एक दिन स्वर्ग में इन्द्र द्वारा मुलमा के दूढ़ सम्बन्ध की प्रशंसा सुन कर एक देव ने पर्वाचा लेने की ठानी। मायु का रूप बना कर मुलमा के घर आया। मुलमा ने कहा—यथागिरे महाराज ! क्या आत्रा है ? देव बोला—तुम्हारे घर में लवपाक तेल है। मुझे किसी वस्त्र ने बताया है, उसे दे दो। 'लानी हूँ' यह कह कर वह कोठार में गई। जैसे ही वह तेल को उतारने लगी देव ने अपने प्रभाव से बोनल (माजन) फोड़ डाली। इन्हीं प्रकार दूसरी और तीसरी बोनल भी फोड़ डाली। मुलमा वैसे ही शान्तचित्त खड़ी रही। देव उसकी दृढ़ता को देख कर प्रसन्न हुआ। उसने मुलमा को बर्नीम गोलियाँ दीं और कहा—एक एक गाने से तुम्हारे बर्नीम पुत्र होंगे। कोई दुसरा काम पड़े तो मुझे अवश्य याद करना। मैं उपस्थित हो जाऊँगा। यह कह कर वह चला गया।

‘इन सभी में मुझे एक ही पुत्र हो’ यह सोच कर उसने सभी गोलियाँ एक साथ खा लीं। उसके पेट में बर्नीम पुत्र आगरे और कष्ट होने लगा। देव का ध्यान किया। देव ने उन पुरों को लवग के रूप में बदल दिया। यथामय मुलमा के बर्नीम लवगों वाला पुत्र उत्पन्न हुआ।

किर्मी आचार्य का मन है कि ३२ पुत्र उत्पन्न हुए थे।
(८) बर्नी—मगवान मशर्वीर को आपस देने वाली।

विहार करने हुए मगवान मशर्वीर एक बार मेढिह नाम के गाँव में आए। वहाँ उन्हें पिनज्यर हाँगया। माग गुरीर जनने लगा। आम पड़ने लगे। लोह कड़ने लगे, गोगलह ने अपने नय के नेत्र में मशर्वीर का गुरीर जला डाला। छः महीने के अन्दर इनका देहान्त हो जायगा। वही पर मिह नाम का मुनि रहता था। आतापना के बाद वह मोचने लगा, न

होने वाला शुभ वन्ध ।

(६) नमस्कारपुण्य— नमस्कार से होने वाला पुण्य ।

(ठाणांग ६ उ. ३ सूत्र ६७६)

६२८— ब्रह्मचर्यगुप्ति नौ

ब्रह्म अर्थात् आत्मा में चर्या अर्थात् लीन होने को ब्रह्मचर्य कहते हैं । सांसारिक विषयवासनाएं जीव को आत्मचिन्तन से हटा कर बाह्य विषयों की ओर खींचती हैं । उनसे बचने का नाम ब्रह्मचर्यगुप्ति है, अथवा वीर्य के धारण और रक्षण को ब्रह्मचर्य कहते हैं । शारीरिक और आध्यात्मिक सभी शक्तियों का आधार वीर्य है । वीर्य रहित पुरुष लौकिक या आध्यात्मिक किसी भी तरह की सफलता प्राप्त नहीं कर सकता । ब्रह्मचर्य की रक्षा के लिए नौ बातें आवश्यक हैं । इनके बिना ब्रह्मचर्य का पालन नहीं हो सकता । वे इस प्रकार हैं:—

(१) ब्रह्मचारी को स्त्री, पशु और नपुंसकों से अलग स्थान में रहना चाहिए । जिस स्थान में देवी, मानुषी या तिर्यश्च का वास हो, वहाँ न रहे । उनके पास रहने से विकार होने का डर है ।

(२) स्त्रियों की कथा वार्ता न करे । अर्थात् अमुक स्त्री सुन्दर है या अमुक देशवाली ऐसी होती हैं, इत्यादि बातें न करें ।

(३) स्त्री के साथ एक आसन पर न बैठे, उनके उठ जाने पर भी एक मुहूर्त तक उस आसन पर न बैठे अथवा स्त्रियों में अधिक न आवे जावे । उनसे सम्पर्क न रखे ।

(४) स्त्रियों के मनोहर और मनोरम अङ्गों को न देखे । यदि अकस्मात् दृष्टि पड़ जाय तो उनका ध्यान न करे और शीघ्र ही उन्हें भूल जाय ।

(५) जिसमें घी वगैरह टपक रहा हो ऐसा पक्वान्न या गरिष्ठ भोजन न करे, क्योंकि गरिष्ठ भोजन विकार उत्पन्न करता है ।

वानिन गण (७) कामडिह गण (८) मानव गण (९) कौटिह .
(टागांग ६ ३० ३ मृ ६०

६२६-मनः पर्ययज्ञान के लिए आवश्यक नौ वाने
मनःपर्ययज्ञान उत्पन्न होने के लिए नौ वाने निर्मा नौ
जम्मी हैं—

(१) मनुष्यमव (२) गर्भज (३) कर्मभूमिज (४) मन्द
वर्ष की आयु (५) पर्याप्त (६) मन्दग्राहि (७) मंथम (८) क
मन (९) अद्विप्राम आर्य ।
(नन्दी. मृ १.

६२७-पुण्य के नौ भेद

शुभ कर्मों के बन्ध को पुण्य कहते हैं । पुण्य के नौ भेद हैं
अन्नं पानं च द्रव्यं च, आलयः शुचनाननम् ।

शुश्रूषा वन्दनं तुष्टिः, पुण्यं नवविधं स्मृतम् ॥

(१) अन्नपुण्य-पात्र को अन्न देने से तीर्थङ्कर नाम वर्ण
शुभ प्रकृतियों का बंधना ।

(२) पानपुण्य-दूध, पानी वर्गगृह पीने की वस्तुओं को दे
ने होने वाला शुभ बन्ध ।

(३) द्रव्यपुण्य-कपड़े देने से होने वाला शुभ बन्ध ।

(४) लयनपुण्य-टहनने के लिए म्यान देने से होने वाला
शुभ कर्मों का बन्ध ।

(५) शुचनपुण्य-विद्याने के लिए पात्र विम्बर और म्हा
आदि देने से होने वाला पुण्य ।

(६) मन्त्रपुण्य-गुणियों को देगुजर घन में प्रनय होने से
शुभ कर्मों का बंधना ।

(७) वचनपुण्य-वागों के द्वारा दूसरे की प्रशंसा करने से
होने वाला शुभ बन्ध ।

(८) कार्यपुण्य-शरीर में दूसरे की सेवा भक्ति आदि करने से

Figure 1. Schematic representation of the experimental design. The subjects were divided into two groups: the control group and the experimental group. The control group received a standard diet, while the experimental group received a diet supplemented with 10% of the total energy from fat. The subjects were then divided into two subgroups: the control subgroup and the experimental subgroup. The control subgroup received a standard diet, while the experimental subgroup received a diet supplemented with 10% of the total energy from fat. The subjects were then divided into two subgroups: the control subgroup and the experimental subgroup. The control subgroup received a standard diet, while the experimental subgroup received a diet supplemented with 10% of the total energy from fat.

SECRET

$\frac{1}{2} \times \frac{1}{2} = \frac{1}{4}$

ॐ नमो भगवते वासुदेवाय

इस प्रकार आपका मैं अपने अपने ही होने को महसूस करता हूँ। भौतिक विचारधारा में ही को आपसिकता से इस का नाम दिया है और इसे कहते हैं। अपने अपने का नाम महसूस करने है, अपने अपने के साथ ही रहने को महसूस करते हैं। भौतिक और आध्यात्मिक रूपों में किसी का आवास नहीं है। अपने गहरे हृदय में ही या आध्यात्मिक किसी भी रूप को महसूस कर सकते हैं। महसूस और अपने को महसूस करने के लिए ही अपने आध्यात्मिक हैं। अपने ही महसूस का महसूस नहीं हो सकता। मैं इस प्रकार हूँ—

[illegible]

१. २. ३. ४. ५. ६. ७. ८. ९. १०. ११. १२. १३. १४. १५. १६. १७. १८. १९. २०. २१. २२. २३. २४. २५. २६. २७. २८. २९. ३०. ३१. ३२. ३३. ३४. ३५. ३६. ३७. ३८. ३९. ४०. ४१. ४२. ४३. ४४. ४५. ४६. ४७. ४८. ४९. ५०. ५१. ५२. ५३. ५४. ५५. ५६. ५७. ५८. ५९. ६०. ६१. ६२. ६३. ६४. ६५. ६६. ६७. ६८. ६९. ७०. ७१. ७२. ७३. ७४. ७५. ७६. ७७. ७८. ७९. ८०. ८१. ८२. ८३. ८४. ८५. ८६. ८७. ८८. ८९. ९०. ९१. ९२. ९३. ९४. ९५. ९६. ९७. ९८. ९९. १००.

॥ श्रीगणेशाय नमः ॥
ॐ नमो भगवते वासुदेवाय ॥
श्रीकृष्णार्चनम् ॥

॥ श्रीगणेशाय नमः ॥
 ॥ श्रीगणेशाय नमः ॥
 ॥ श्रीगणेशाय नमः ॥

1. 2. 3. 4. 5. 6. 7. 8. 9. 10. 11. 12. 13. 14. 15. 16. 17. 18. 19. 20. 21. 22. 23. 24. 25. 26. 27. 28. 29. 30. 31. 32. 33. 34. 35. 36. 37. 38. 39. 40. 41. 42. 43. 44. 45. 46. 47. 48. 49. 50. 51. 52. 53. 54. 55. 56. 57. 58. 59. 60. 61. 62. 63. 64. 65. 66. 67. 68. 69. 70. 71. 72. 73. 74. 75. 76. 77. 78. 79. 80. 81. 82. 83. 84. 85. 86. 87. 88. 89. 90. 91. 92. 93. 94. 95. 96. 97. 98. 99. 100. 101. 102. 103. 104. 105. 106. 107. 108. 109. 110. 111. 112. 113. 114. 115. 116. 117. 118. 119. 120. 121. 122. 123. 124. 125. 126. 127. 128. 129. 130. 131. 132. 133. 134. 135. 136. 137. 138. 139. 140. 141. 142. 143. 144. 145. 146. 147. 148. 149. 150. 151. 152. 153. 154. 155. 156. 157. 158. 159. 160. 161. 162. 163. 164. 165. 166. 167. 168. 169. 170. 171. 172. 173. 174. 175. 176. 177. 178. 179. 180. 181. 182. 183. 184. 185. 186. 187. 188. 189. 190. 191. 192. 193. 194. 195. 196. 197. 198. 199. 200. 201. 202. 203. 204. 205. 206. 207. 208. 209. 210. 211. 212. 213. 214. 215. 216. 217. 218. 219. 220. 221. 222. 223. 224. 225. 226. 227. 228. 229. 230. 231. 232. 233. 234. 235. 236. 237. 238. 239. 240. 241. 242. 243. 244. 245. 246. 247. 248. 249. 250. 251. 252. 253. 254. 255. 256. 257. 258. 259. 260. 261. 262. 263. 264. 265. 266. 267. 268. 269. 270. 271. 272. 273. 274. 275. 276. 277. 278. 279. 280. 281. 282. 283. 284. 285. 286. 287. 288. 289. 290. 291. 292. 293. 294. 295. 296. 297. 298. 299. 300. 301. 302. 303. 304. 305. 306. 307. 308. 309. 310. 311. 312. 313. 314. 315. 316. 317. 318. 319. 320. 321. 322. 323. 324. 325. 326. 327. 328. 329. 330. 331. 332. 333. 334. 335. 336. 337. 338. 339. 340. 341. 342. 343. 344. 345. 346. 347. 348. 349. 350. 351. 352. 353. 354. 355. 356. 357. 358. 359. 360. 361. 362. 363. 364. 365. 366. 367. 368. 369. 370. 371. 372. 373. 374. 375. 376. 377. 378. 379. 380. 381. 382. 383. 384. 385. 386. 387. 388. 389. 390. 391. 392. 393. 394. 395. 396. 397. 398. 399. 400. 401. 402. 403. 404. 405. 406. 407. 408. 409. 410. 411. 412. 413. 414. 415. 416. 417. 418. 419. 420. 421. 422. 423. 424. 425. 426. 427. 428. 429. 430. 431. 432. 433. 434. 435. 436. 437. 438. 439. 440. 441. 442. 443. 444. 445. 446. 447. 448. 449. 450. 451. 452. 453. 454. 455. 456. 457. 458. 459. 460. 461. 462. 463. 464. 465. 466. 467. 468. 469. 470. 471. 472. 473. 474. 475. 476. 477. 478. 479. 480. 481. 482. 483. 484. 485. 486. 487. 488. 489. 490. 491. 492. 493. 494. 495. 496. 497. 498. 499. 500. 501. 502. 503. 504. 505. 506. 507. 508. 509. 510. 511. 512. 513. 514. 515. 516. 517. 518. 519. 520. 521. 522. 523. 524. 525. 526. 527. 528. 529. 530. 531. 532. 533. 534. 535. 536. 537. 538. 539. 540. 541. 542. 543. 544. 545. 546. 547. 548. 549. 550. 551. 552. 553. 554. 555. 556. 557. 558. 559. 560. 561. 562. 563. 564. 565. 566. 567. 568. 569. 570. 571. 572. 573. 574. 575. 576. 577. 578. 579. 580. 581. 582. 583. 584. 585. 586. 587. 588. 589. 590. 591. 592. 593. 594. 595. 596. 597. 598. 599. 600. 601. 602. 603. 604. 605. 606. 607. 608. 609. 610. 611. 612. 613. 614. 615. 616. 617. 618. 619. 620. 621. 622. 623. 624. 625. 626. 627. 628. 629. 630. 631. 632. 633. 634. 635. 636. 637. 638. 639. 640. 641. 642. 643. 644. 645. 646. 647. 648. 649. 650. 651. 652. 653. 654. 655. 656. 657. 658. 659. 660. 661. 662. 663. 664. 665. 666. 667. 668. 669. 670. 671. 672. 673. 674. 675. 676. 677. 678. 679. 680. 681. 682. 683. 684. 685. 686. 687. 688. 689. 690. 691. 692. 693. 694. 695. 696. 697. 698. 699. 700. 701. 702. 703. 704. 705. 706. 707. 708. 709. 710. 711. 712. 713. 714. 715. 716. 717. 718. 719. 720. 721. 722. 723. 724. 725. 726. 727. 728. 729. 730. 731. 732. 733. 734. 735. 736. 737. 738. 739. 740. 741. 742. 743. 744. 745. 746. 747. 748. 749. 750. 751. 752. 753. 754. 755. 756. 757. 758. 759. 760. 761. 762. 763. 764. 765. 766. 767. 768. 769. 770. 771. 772. 773. 774. 775. 776. 777. 778. 779. 780. 781. 782. 783. 784. 785. 786. 787. 788. 789. 790. 791. 792. 793. 794. 795. 796. 797. 798. 799. 800. 801. 802. 803. 804. 805. 806. 807. 808. 809. 810. 811. 812. 813. 814. 815. 816. 817. 818. 819. 820. 821. 822. 823. 824. 825. 826. 827. 828. 829. 830. 831. 832. 833. 834. 835. 836. 837. 838. 839. 840.

(६) रुखा सूया भोजन भी अधिक न करें । आधा पेट भर मे भर, आधे में से दो हिस्से पानी मे तथा एक हिस्सा दवा के लिए छोड़ दे । इसमे मन स्वस्थ रहता है ।

(७) पहिले भोगे हुए भोगों का स्मरण न करें ।

(८) स्त्रियों के शब्द, रूप या ख्याति (वर्णन) वर्गस्थ पर ध्यान न दे, क्योंकि इन से चित्त में चञ्चलता पैदा होती है ।

(९) पुण्योदय के कारण प्राप्त हुए अनुकूल वर्ग, गन्ध, रस, स्पर्श वर्गस्थ के सुगों में आत्मक न हो ।

इन बातों का पालन करने से ब्रह्मचर्य की रक्षा की जा सकती है । इनके विपरीत ब्रह्मचर्य की नौ अगुणियाँ हैं ।

(आर्गांग ६ उ. ३ सूत्र ६६३) (मन्वायंग ६)

नोट—उत्तराध्यायनसूत्र के १६वें अ० में ब्रह्मचर्य के दस मन्वायि स्थान कहे गए हैं । वे दृष्टान्तों के माध्य १०वें बोल संग्रह में दिए जायेंगे । उन में और यहाँ दी हुई नौ गुणियों के क्रम में अन्तर है ।

६२९.—निच्यिगई पञ्चकषाण के नौ आगार

विकार उत्पन्न करने वाली वस्तुओं को 'विकृति' कहते हैं । विकृतियाँ भक्ष्य और अभक्ष्य दो प्रकार की हैं । दूध, दही, पी, तेन, गुड़ और पक्वान्न ये भक्ष्य विकृतियाँ हैं । मांसादि अभक्ष्य विकृतियाँ हैं । अभक्ष्य का नौ आयरक को न्याग होना ही है । भक्ष्य विकृतियाँ छोड़ने को निच्यिगई पञ्चकषाण कहते हैं । इसमें नौ आगार होते हैं—

(१) अग्गावेगिगं (२) महमागारिगं (३) लखन्नेगं (४) गिहन्थममद्वगं (५) उन्निमवाविवेगं (६) पटुणमकिमन्ने (७) पम्पिठविगियगारिगं (८) महजगगारिगं (९) मन्वमन्नि विवन्निगारिगं ।

इनमें से आठ आगारों का स्वरूप आठवें बोल संग्रह शान न०

५८८ में दे दिया गया है। पडुचमक्खिएणं का स्वरूप इस प्रकार है — भोजन बनाते समय जिन चीजों पर सिर्फ अंगुली से घी तेल आदि लगा हो ऐसी चीजों को लेना।

ये सब आगार मुख्य रूप से साधु के लिए कहे गए हैं। श्रावक को अपनी मर्यादानुसार स्वयं समझ लेने चाहिए।

(हरिभट्टीयावश्यक अ० ६ पृष्ठ = ५४) (प्रव. सा. द्वार ४)

६३०—विगय नौ

शरीरपुष्टि के द्वारा इन्द्रियों को उत्तेजित करने वाले अथवा मन में विकार उत्पन्न करने वाले पदार्थों को विगय कहते हैं। संयमी को यथाशक्ति इनका त्याग करना चाहिए ये नौ हैं—

(१) दूध—बकरी, भेड़, गाय, भैंस और ऊँटनी (साँढ) के भेद से यह पाँच प्रकार का है।

(२) दही—यह चार प्रकार का है। ऊँटनी के दूध का दही, मक्खन और घी नहीं होता।

(३) मक्खन—यह भी चार प्रकार का होता है।

(४) घी—यह भी चार प्रकार का होता है।

(५) तेल—तिल, अलसी, कुसुम्भ और सरसों के भेद से यह चार प्रकार का है। बाकी तेल लेप हैं, विगय नहीं हैं।

(६) गुड़—यह दो तरह का होता है। ढीला और पिण्ड अर्थात् बंधा हुआ। यहाँ गुड़ शब्द से खांड, चीनी, मिश्री आदि सभी मीठी वस्तुएं ली जाती हैं।

(७) मधु—यह तीन प्रकार का होता है। मक्खियों द्वारा इकट्ठा किया हुआ, कुन्ती फूलों का तथा भ्रमरों द्वारा फूलों से इकट्ठा किया हुआ।

(८) मद्य—शराब। यह कई तरह की होती है।

(९) मांस।

इन में मद्य और मांस तो सर्वथा वर्जित हैं। श्रावक इनका सेवन नहीं करता। बाकी का भी यथाशक्ति न्याग करना चाहिए।
(टाकांग ६ ३०३ सूत्र ६५४) (हरिभट्टीयावश्यसू अ. ६ गा. १६०१ टीका)

६३१ भिक्षा की नौ कोटियां

निर्ग्रन्थ माधु को नौ कोटियों में विशुद्ध आहार लेना चाहिए।

- (१) माधु आहार के लिए म्वयं जीवों की हिंसा न करे।
- (२) दूधरे द्वारा हिंसा न करावे।
- (३) हिंसा करने हुए का अनुमोदन न करे, अर्थात् उसे मना न समझे।
- (४) आहार आदि म्वयं न पकावे।
- (५) दूधरे में न परावावे।
- (६) पकाने हुए का अनुमोदन न करे।
- (७) म्वयं न गरीदे।
- (८) दूधरे को गरीदने के लिए न कटे।
- (९) गरीदने हुए किसी व्यक्ति का अनुमोदन न करे।

ऊपर लिखी हुई सभी कोटियां मन, वचन और काया ११ नीतियों योगों में हैं।

(अ. १ ३. ३ सू. ६०१) (आचार्य अ. ७ १ अ. ० : १ ४ सूत्र २२, २३)

६३२—मंभोगी को विमंभोगी करने के नौ म्यान

नौ कारणों से किसी माधु को मंभोग से अलग करने वाला माधु जिन शामन की आज्ञा का उल्लंघन नहीं करता

- (१) आचार्य से विरुद्ध चलने वाले माधु को।
- (२) उपाध्याय से विरुद्ध चलने वाले को।
- (३) स्थविर से विरुद्ध चलने वाले को।
- (४) माधुल्ल के विरुद्ध चलने वाले को।
- (५) गण के प्रतिउल्ल चलने वाले को।

- (६) संघ से प्रतिकूल चलने वाले को ।
 (७) ज्ञान से विपरीत चलने वाले को ।
 (८) दर्शन से विपरीत चलने वाले को ।
 (९) चारित्र्य से विपरीत चलने वाले को ।
 इन्हीं कारणों का सेवन करने वाले प्रत्यनीक कहलाते हैं ।
 (ठाण्णंग ६ उ. ३. सूत्र ६६१.)

६३३- तत्त्व नौ

वस्तु के यथार्थ स्वरूप को तत्त्व कहते हैं । इन्हें सद्भाव पदार्थ भी कहा जाता है । तत्त्व नौ हैं—

जीवाऽजीवा पुण्यं पापाऽसव संवरो य निज्जरणा ।

बंधो मुखो य तहा, नव तत्ता हुंति नायव्वा ॥

(नवतत्त्व, गाथा १)

(१) जीव—जिसे सुख दुःख का ज्ञान होता है तथा जिसका उपयोग लक्षण है, उसे जीव कहते हैं ।

(२) अजीव—जड़ पदार्थों को या सुख दुःख के ज्ञान तथा उपयोग से रहित पदार्थों को अजीव कहते हैं ।

(३) पुण्य—कर्मों की शुभ प्रकृतियाँ पुण्य कहलाती हैं ।

(४) पाप—कर्मों की अशुभ प्रकृतियाँ पाप कहलाती हैं ।

(५) आसव—शुभ तथा अशुभ कर्मों के आने का कारण आसव कहलाता है ।

(६) संवर—समिति गुप्ति वगैरह से कर्मों के आगमन को रोकना संवर है ।

(७) निर्जरा—फलभोग या तपस्या के द्वारा कर्मों को धीरे धीरे खपाना निर्जरा है ।

(८) बन्ध—आसव के द्वारा आए हुए कर्मों का आत्मा के साथ सम्बन्ध होना बन्ध है ।

(६) मोक्ष — सम्पूर्ण कर्मों का नाश हो जाने पर आत्मा का अपने स्वस्व में लीन हो जाना मोक्ष है। (अष्टांगः ३ अमृत ६५)

तत्त्वों के अवान्तर भेद

उपरोक्त नव तत्त्वों में जीव तत्त्व के ७६३ भेद हैं। वे इस प्रकार हैं— नार्की के १४, निर्यश्च के ४२, मनुष्य के ३०३ और देवता के १६२ भेद हैं।

नार्की जीवों के १४ भेद

रत्नप्रमा, गुर्कुराप्रमा, बालुकाप्रमा, पंकप्रमा, धूमप्रमा, तन्मप्रमा और तमस्तमःप्रमा ये सात नार्कों के मोक्ष तथा चम्पा, वंसा, शीला, अज्जना, अग्निष्टा, मया और मायवर्ती ये सात नार्कों के नाम हैं। इन सात में रहने वाले जीवों के पर्याप्त और अपर्याप्त के भेद में नार्की जीवों के १४ भेद होते हैं। इनका विवरण द्वितीय भाग सातवें बोल संग्रह के बोल नं० ७६० में दिया है।

निर्यश्च के ४२ भेद

पृथ्वीकाय, अक्काय, नेट्टकाय और वायुकाय के सूक्ष्म, माध्यम और अपर्याप्त के भेद में प्रत्येक के चार चार भेद होते हैं इस प्रकार १६ भेद हुए। वनस्पतिकाय के सूक्ष्म, प्रत्येक के साधारण तीन भेद होते हैं। इन तीनों के पर्याप्त और अपर्याप्त में छः भेद होते हैं। कुल मिला कर एकेन्द्रिय के २० भेद हुए।

द्वौन्द्रिय, त्रीन्द्रिय और चतुर्गिन्द्रिय के पर्याप्त और अपर्याप्त के भेद में ६ भेद होते हैं।

निर्यश्च पञ्चेन्द्रिय के बीस भेद— जननर, स्थानर, उपगमिण और भुजगमिण इनके मंत्री अमन्त्री ४ भेद में २० भेद होते हैं। इन दस के पर्याप्त और अपर्याप्त के भेद में १० भेद हो जाते हैं। एकेन्द्रिय के २०, द्वौन्द्रिय के ६ और त्रीन्द्रिय के २०, कुल मिलाकर निर्यश्च के ४६ भेद होते हैं।

मनुष्य के ३०३ भेद

कर्मभूमिज मनुष्य के १५ अर्थात् ५ भरत, ५ ऐरावत और ५ महाविदेह में उत्पन्न मनुष्यों के १५ भेद । अकर्मभूमिज (भोग-भूमिज) मनुष्य के ३० भेद अर्थात् ५ देवकुरु, ५ उत्तरकुरु, ५ हरिवास, ५ रम्यकवास, ५ हैमवत, और ५ हैरण्यवत क्षेत्रों में उत्पन्न मनुष्यों के ३० भेद । ५६ अन्तरद्वीपों में उत्पन्न होने वाले मनुष्यों के ५६ भेद । ये सब मिलाकर गर्भज मनुष्य के १०१ भेद होते हैं । इनके पर्याप्त और अपर्याप्त के भेद से २०२ भेद होते हैं और सम्पूर्च्छिम मनुष्य के १०१ भेद । कुल मिलाकर मनुष्य के ३०३ भेद होते हैं । कर्मभूमिज आदि का स्वरूप इसके प्रथम भाग बोल नं० ७२ में दे दिया गया है ।

देवता के १८८ भेद

भवनपति के १० अर्थात् असुर कुमार, नाग कुमार, सुवर्ण कुमार, विद्युत् कुमार, अग्नि कुमार, उदधि कुमार, द्वीप कुमार, दिशा कुमार, पवन कुमार और स्तनित कुमार ।

परमाधार्मिक देवों के १५ भेद—अम्ब, अम्बरीष, श्याम, शवल, रौद्र, महारौद्र, काल, महाकाल, असिपत्र, धनुष, कुम्भ, बालुका, वैतरणी, खरस्वर और महाघोष ।

वाणव्यन्तर के २६ भेद अर्थात् पिशाचादि = (पिशाच, भूत, यक्ष, राक्षस, किन्नर, किम्पुरुष, महोरग, गन्धर्व) । आणपन्ने आदि आठ (आणपन्ने, पाणपन्ने, इसिवाई, भूयवाई, कन्दे, महाकन्दे, कृष्णण्डे, पर्यंगदेवे) । जृम्भक दस (अन्न जृम्भक, पान जृम्भक, लयन जृम्भक, शयन जृम्भक, वस्त्र जृम्भक, फल जृम्भक, पुष्प जृम्भक, फलपुष्प जृम्भक, विद्या जृम्भक, अग्नि जृम्भक) ।

ज्योतिषी देवों के ५ भेद—चन्द्र, सूर्य, ग्रह, नक्षत्र, तारा । इनके चर (अस्थिर) अचर (स्थिर) के भेद से दस भेद हो ।

हैं। इनका विरोध स्वरूप हमके प्रथम भाग पाँचवाँ बोल संप्रद बोल नं० ३६६ में दे दिया गया है।

वैमानिक देवों के कल्पोपपन्न और कल्पार्जीत दो भेद हैं। इनमें कल्पोपपन्न के माधमे, ईशान आदि १२ भेद होते हैं।

कल्पार्जीत के दो भेद—प्रवेयक और अनुत्तर वैमानिक। मद्र, सुमद्र, सुज्ञान, सुमनस, सुदर्शन, प्रियदर्शन, आमोद, सुप्रति-बद्ध, यशोधर ये प्रवेयक के नौ भेद हैं और विजय, वैजयन्त आदि के भेद से अनुत्तर वैमानिक के ५ भेद हैं।

तीन किन्चिपिक देव—(१) त्रैपल्योपमिक (२) त्रैमाग्निक और (३) त्रयोदश माग्निक। इनकी स्थिति क्रमशः तीन पल्यो-पम, तीन मागर और तेरह मागर की होती है। इनकी स्थिति के अनुसार ही इनके नाम हैं। समानाकार में स्थित प्रथम और दूसरे देवलोक के नीचे त्रैपल्योपमिक, तीसरे और चौथे देव-लोक के नीचे त्रैमाग्निक और छठे देवलोक के नीचे त्रयोदश माग्निक किन्चिपिक देव रहते हैं।

लौकान्तिक देवों के नौ भेद—मागध्वज, आदिन्य, बद्धि, वस्त्रा, गर्दनोपर, नृपित, अज्यावाच, आग्नेय और अग्नि।

इस प्रकार १० भवनपति, १५ परमाधार्मिक, १६ बाणन्दन, १० जृम्भक, १० ज्योतिषी, १२ वैमानिक, ३ किन्चिपिक, ६ लौकान्तिक, ६ प्रवेयक, ५ अनुत्तर वैमानिक, कुल मिलकर ६६ भेद हुए। इनके पर्याप्त और अपर्याप्त के भेद से देवता के १६८ भेद होते हैं।

नारदी के १४, निर्यत्र के ४८, मनुष्य के ३०३ और देवता के १६८ भेद, कुल मिलकर जीव के ५६३ भेद हुए।

(५४कल्प पद १) (श्रीकामिगम) (१५५-५५८ अ पद २२)

अजीव के ५६० भेद—

अजीव के दो भेद—रूपी और अरूपी । अरूपी अजीव के ३० भेद । धर्मास्तिकाय अधर्मास्तिकाय और आकाशास्तिकाय । प्रत्येक के स्कन्ध, देश, प्रदेश के भेद से ६ और काल द्रव्य, वे दस भेद । धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय और काल द्रव्य का स्वरूप द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव और गुण द्वारा जाना जाता है । इसलिए प्रत्येक के ५-५ भेद होते हैं । इस प्रकार अरूपी अजीव के ३० भेद हुए ।

रूपी अजीव के ५३० भेद

परिमण्डल, वर्त, न्यस, चतुरस्र, आयत इन पाँच संस्थाओं के ५ वर्ण, २ गन्ध, ५ रस और आठ स्पर्श की अपेक्षा प्रत्येक के २०-२० भेद हो जाते हैं । अतः संस्थान के १०० भेद हुए ।

काला, नीला, लाल, पीला, और सफेद इन पाँच वर्णों के भी उपरोक्त प्रकार से १०० भेद होते हैं । तिक्त, कड़, कपाय, खट्टा और मीठा इन पाँच रसों के भी १०० भेद हैं ।

सुगन्ध और दुर्गन्ध प्रत्येक के २३-२३ भेद = ४६ ।

स्पर्श के आठ भेद खर, कोमिल, हल्का, भारी, शीत, उष्ण स्निग्ध, रूक्ष । प्रत्येक के ५ संस्थान, ५ वर्ण ५ रस, २ गन्ध और ६ स्पर्श की अपेक्षा २३ भेद हो जाते हैं । $२३ \times ८ = १८४$ ।

इस प्रकार अरूपी के ३० और रूपी के ५३० सब मिला कर अजीव के ५६० भेद हुए ।

(पञ्चवर्णा पद १) (उत्तराध्ययन अ० ३६) (जीवाभिगम)

पुण्य तत्त्व—

पुण्य नौ प्रकार से बाँधा जाता है — अन्नपुण्य, पानपुण्य, लयनपुण्य, शयनपुण्य, वस्त्रपुण्य, मनपुण्य, वचनपुण्य, काय-पुण्य और नमस्कारपुण्य ।

बंधे हुए पुण्य का फल ४२ प्रकार में बांटा जाता है—

(१) मातानंदनीय (२) उद्योगोत्र (३) मनुष्यगति (४) मनु-
प्यानुपूर्वी (५) मनुष्यायु (६) देवगति (७) देवानुपूर्वी (८) देवायु
(९) पञ्चेन्द्रिय जाति (१०) आहारिक शरीर (११) वैश्व
शरीर (१२) आहारक शरीर (१३) तैजस शरीर (१४) कामस
शरीर (१५) आहारिक अहोपाह्न (१६) वैक्रिय अहोपाह्न (१७)
आहारिक अहोपाह्न (१८) वज्ररूपम नागच मंडनन (१९)
ममचतुरस्र संस्थान (२०) शुभ वर्ण (२१) शुभ गन्ध (२२)
शुभ रस (२३) शुभ स्पर्श (२४) अगुरुलघु (२५) पगरात
(२६) स्वामोच्छ्वास (२७) आनय (२८) उद्योत (२९) शुभ-
विद्यायोगति (३०) निर्माण नाम (३१) तीर्थङ्कर नाम (३२)
नियेत्रायु (३३) व्रम नाम (३४) वाटर नाम (३५) पपांस नाम
(३६) ग्रन्थेक नाम (३७) स्थिर नाम (३८) शुभ नाम (३९)
गुमग नाम (४०) मुम्बर नाम (४१) आदेय नाम (४२)
यशःकीर्ति नाम ।

पाप तत्त्व—

पाप १८ प्रकार में बांटा जाता है । उनके नाम—

(१) प्रणानिपात (२) मृषावाद (३) अदनादान (४) मधुन (५)
परिग्रह (६) क्रोध (७) मान (८) माया (९) लोभ (१०) मग
(११) द्वेष (१२) कलह (१३) अस्याग्यान (१४) पैशुन्य (१५)
परमस्वाद (१६) रति अरति (१७) माया मृषा १८। मिथ्या-
द्वन्द्वेन अन्य ।

इस प्रकार बंधे हुए पाप का फल ८० प्रकार में बांटा जाता है।

ज्ञानावर्गीय की ५ प्रकृतियाँ। मति ज्ञानावर्गीय, धृत ज्ञान
वर्गीय, अरधि ज्ञानावर्गीय, मनःपर्यय ज्ञानावर्गीय, सत्य
ज्ञानावर्गीय। दर्शनावर्गीय की नौ - चार दर्शनावर्गीय, चर

प्रमाद, कषाय, अशुभ योग) तीनों योग (मन, वचन और काया की अशुभ प्रवृत्ति)। मंड, उपकरण आदि उपधि, अयतना में लेना और रगना, सूर्वाकुशाग्रमात्र अयतना सेन्तेना और रगना।

आश्रव के दूम्मी अपेक्षा में ४२ मेट्र होने हैं— ५ इन्द्रिय, ४ कषाय, ५ अग्रत, ३ योग और २५ क्रियाएं (काइया, आदि-गरमिया आदि क्रियाएं)। पाँच पाँच करके इनका स्वरूप प्रथम भाग बोलत नं० २६२ से २६६ तक में दे दिया गया है।

संवर तत्त्व

संवर के सामान्यतः २० मेट्र हैं— ५ व्रतों का पालन करना (प्राणानिषान, मृषावाट, अदत्तादान, मैथुन और पण्डित में निवृत्ति रूप व्रतों का पालन करना) श्रोत्रेन्द्रियादि पाँच इन्द्रियों को वश में करना, ५ आश्रव का सेवन न करना (ममकिन, द्रव प्रत्यान्यास, कषाय का न्यास, शुभ योग की प्रवृत्ति, प्रमाद का न्यास) तीन योग अर्थात् मन वचन और काया को वश में करना। मंड, उपकरण और सूर्वाकुशाग्रमात्र को यतना में लेना और रगना।

संवर के दूम्मी अपेक्षा में ५७ मेट्र हैं— ५ ममिति (पाँच ममिति, भाषा ममिति आदि) तीन गुमि (मनगुमि, वचनगुमि, कायगुमि)। २२ पण्डित (वृथा, नृषा आदि पण्डित) १० धर्मरत्न (धर्मा, माद्वेय आर्जवेय आदि)। १० भावना (अनिन्य मारना, अशुभ भावना आदि) ५ चाग्रि (सामादिक, छंदोपस्थापना आदि) ये सब ५७ मेट्र हूए।

निजोग तत्त्व

निजोग के सामान्यतः बाण्ड मेट्र हैं— अनगल, उन्मोदी, मिदाचर्या, रम पण्डियाग, काय क्लेश, प्रतिमर्मानता ये छः बाण्ड तप के मेट्र हैं। प्रायश्चित्त, विनय, वेदाभ्यास, स्वाध्याय, ध्यान और स्युन्मो ये छः आन्यन्तर तप के मेट्र हैं।

अनशन के २० भेद

अनशन के दो मुख्य भेद हैं— इत्वरिक और यावत्कथिक ।
इत्वरिक के १४ भेद— चतुर्थभक्त, पष्ठभक्त, अष्टमभक्त, दशमभक्त,
द्वादशभक्त, चतुर्दशभक्त, षोडशभक्त, अर्द्ध मासिक, मासिक,
द्वैमासिक, त्रैमासिक, चातुर्मासिक, पञ्चमासिक, पाण्मासिक ।

यावत्कथिक के छः भेद— पादपोषगमन, भक्त प्रत्याख्यान,
इंगित मरण । इन तीनों के निहारी और अनिहारी के भेद से
छः भेद हो जाते हैं ।

आहार का त्याग करके अपने शरीर के किसी अङ्ग को
किञ्चिन्मात्र भी न हिलाते हुए निश्चल रूप से संथारा करना
पादपोषगमन कहलाता है । पादपोषगमन के दो भेद हैं—व्याघा-
तिम और निर्व्याघातिम । सिंह, व्याघ्र तथा दावानल (वनाग्नि)
आदि का उपद्रव होने पर जो संथारा (अनशन) किया जाता है वह
व्याघातिम पादपोषगमन संथारा कहलाता है । जो किसी भी उपद्रव
के बिना स्वेच्छा से संथारा किया जाता है वह निर्व्याघातिम
पादपोषगमन संथारा कहलाता है । चारों प्रकार के आहार का
अथवा तीन आहार का त्याग करना भक्तप्रत्याख्यान कहलाता
है । इसको भक्तपरिज्ञा मरण भी कहते हैं ।

दूसरे साधुओं से वैयावच न करवाते हुए नियमित प्रदेश
की हद्द में रह कर संथारा करना इंगित मरण कहलाता है । ये
तीनों निहारी और अनिहारी के भेद से दो तरह के होते हैं ।
निहारी संथारा ग्राम के अन्दर किया जाता है और अनिहारी
ग्राम से बाहर किया जाता है अर्थात् जिस मुनि का मरण
ग्राम में हुआ हो और उसके मृत शरीर को ग्राम से बाहर लेजाना
पड़े तो उसे निहारी मरण कहते हैं । ग्राम के बाहर किसी पर्वत
की गुफा आदि में जो मरण हो उसको अनिहारी मरण कहते हैं ।

अनशन के दूसरी तरह में और भी भेद किये जाते हैं—द्रव्य-
गिक तप के छः भेद—श्रेणी तप, प्रतर तप, धन तप, वर्ग तप,
वर्गवर्ग तप, प्रकीर्णक तप । श्रेणी तप आदि तपश्रयार्णं भिन्न
भिन्न प्रकार में उपवामादि करने में होती हैं । इनका विंगो
स्वरूप इसके दूसरे भाग छठे बोल मंग्रह के बोल नं० ४७६
में दिया गया है । यावत्कथिक अनशन के कायचेष्टा की अपेक्षा
दो भेद हैं । मविचार (काया की क्रिया मुहिन अवस्था) अवि-
चार (निष्क्रिय) । अथवा दूसरी तरह में दो भेद—मपरिकर्म (मंथां
की अवस्था में दूसरे मुनियों में सेवा लेना) और अपरिकर्म (मंथा
की अपेक्षा रहित) अथवा निहारी और अनिहारी ये दो भेद
भी हैं जो ऊपर बना दिये गये हैं ।

उलोदरी तप के १४ भेद—

उलोदरी तप के दो भेद—द्रव्य उलोदरी और भाव उलोदरी ।
द्रव्य उलोदरी के दो भेद—उपकरण द्रव्य उलोदरी और मक्त-
वान द्रव्य उलोदरी । उपकरण द्रव्य उलोदरी के तीन भेद—गृह
पात्र, एक वस्त्र और जर्ण उपधि । मक्तवान द्रव्य उलोदरी के
सामान्यतः ७ भेद हैं— आठ कवल प्रमाण आहार करना
अन्वाहार उलोदरी । बारह कवल प्रमाण आहार करना आदि
उलोदरी । १६ कवल प्रमाण आहार करना अर्द्ध उलोदरी । २४
कवल प्रमाण आहार करना प्राम (पान) उलोदरी । ३२ कवल
प्रमाण आहार करना किञ्चित् उलोदरी और पर ३० कवल
प्रमाण आहार करना प्रमाणोपेत आहार कहलाता है । भाव
उलोदरी के सामान्यतः ६ भेद हैं— अन्व श्रोत्र, अन्व ज्ञान,
अन्व माया, अन्व लोभ, अन्व गन्ध, अन्व भद्रम् कन्ध

मित्राचार्या के ३० भेद—

(१) द्रव्य-द्रव्य विंगोप का अमिश्रित लेकर मित्राचार्या द्वारा

- (२) क्षेत्र-स्वग्राम और परग्राम से भिक्षा लेने का अभिग्रह करना ।
- (३) काल-प्रातःकाल या मध्याह्न में भिक्षाचर्या करना ।
- (४) भाव-गाना, हँसना आदि क्रियाओं में प्रवृत्त पुरुषों में भिक्षा लेने का अभिग्रह करना ।
- (५) उत्तम चरक-अपने प्रयोजन के लिए गृहस्थी के द्वारा भोजन के पात्र से बाहर निकाले हुए आहार की गवेपणा करना ।
- (६) निक्षिप्त चरक-भोजन के पात्र से बाहर न निकाले हुए आहार की गवेपणा करना ।
- (७) उत्तमनिक्षिप्त चरक-भोजन के पात्र से उद्धृत और अनुद्धृत दोनों प्रकार के आहार की गवेपणा करना ।
- (८) निक्षिप्त उत्तम चरक-पहले भोजन पात्र में डाले हुए और फिर अपने लिए बाहर निकाले हुए आहार आदि की गवेपणा करना ।
- (९) वट्टिजमाण चरण (वर्त्यमान चरक)-गृहस्थी के लिए थाली में परोसे हुए आहार की गवेपणा करना ।
- (१०) साहरिजमाण चरण-कूरा (एक तरह का धान्य) आदि जो टंडा करने के लिए थाली आदि में डाल कर वापिस भोजन पात्र में डाल दिया गया हो, ऐसे आहार की गवेपणा करना ।
- (११) उवणीअ चरण (उपनीत चरक)-दूसरे साधु द्वारा अन्य साधु के लिए लाये गये आहार की गवेपणा करना ।
- (१२) अवणीअ चरण (अपनीत चरक)-पकाने के पात्र में से निकाल कर दूसरी जगह रखे हुए पदार्थ की गवेपणा करना ।
- (१३) उवणीयावणीअ चरण (उपनीतापनीत चरक)-उपरोक्त दोनों प्रकार के आहार की गवेपणा करना, अथवा दाता द्वारा उस पदार्थ के गुण और अवगुण सुन कर फिर ग्रहण करना अर्थात् एक ही पदार्थ की एक गुण से तो प्रशंसा और दूसरे

गुण की अपेक्षा दूगुण मुन कर फिर लेना। जैसे—यह ठंडा तो है परन्तु गारा है, इत्यादि।

(१४) अवलीयोवलीय चरण (अपनीतोपनीत चरक) — रूप से अवगुण और सामान्य रूप में गुण को मुन कर पदार्थ को लेना। जैसे यह जल गारा है किन्तु ठंडा है।

(१५) संसृष्टचरण (संसृष्टचरक) — उमी पदार्थ में मरदे हाथ से दिये जाने वाले आहार की गवेषणा करना।

(१६) अमंसृष्टचरण (अमंसृष्ट चरक) — बिना मरदे हुए से दिये जाने वाले आहार की गवेषणा करना।

(१७) तज्जाय संसृष्टचरण (तज्जातसंसृष्ट चरक) — भिचा में जाने वाले पदार्थ के समान (अविरोधी) पदार्थ में मरदे हाथ से दिये जाने वाले पदार्थ की गवेषणा करना।

(१८) अएणायचरण (अज्जात चरक) — अपना परित्यज बिना आहार की गवेषणा करना।

(१९) मोण चरण (मीन चरक) — मीन पारण करके आह की गवेषणा करना।

(२०) दिट्ठलाभिण (दृष्टलाभिक) — दृष्टिगोचर होने वाले आह की ही गवेषणा करना अथवा मव में प्रथम दृष्टिगोचर होने वाला में ही भिचा लेना।

(२१) अदिट्ठलाभिण (अदृष्टलाभिक) — अदृष्ट अर्थात् वहाँ के भीतर रहे हुए आहार की गवेषणा करना अथवा पाने देने हुए दाना में आहार लेना।

(२२) पृट्ठलाभिण (पृष्टलाभिक) — हे मुनि ! तुम्हें किस चीज ज्ञान है? इस प्रकार प्रश्न पृष्टने वाले दाना में आहार की गवेषणा करना।

(२३) अपृट्ठलाभिण (अपृष्टलाभिक) — किसी प्रकार का :

न पृच्छने वाले दाता से ही आहारादि की गवेपणा करना ।

(२४) भिक्षलाभिए (भिक्षालाभिक)—रुखे, सखे तुच्छ आहार की गवेपणा करना ।

(२५) अभिक्षलाभिए (अभिक्षा लाभिक)—सामान्य आहार की गवेपणा करना ।

(२६) अण्ण गिलायए (अन्नग्लायक)—अन्न के बिना ग्लानि पाना अर्थात् अभिग्रह विशेष के कारण प्रातःकाल ही आहार की गवेपणा करना ।

(२७) ओवण्हियए (ओपनिहितक)—किसी तरह पास में रहने वाले दाता से आहारादि की गवेपणा करना ।

(२८) परिमिय पिण्डवाइए (परिमितपिण्डपातिक)—परिमित आहार की गवेपणा करना ।

(२९) सुद्धेसणिए—(शुद्धेपणिक)—शङ्कादि दोष रहित शुद्ध एषणा पूर्वक कूरा आदि तुच्छ अन्नादि की गवेपणा करना ।

(३०) संखादत्तिए (संख्यादत्तिक)—बीच में धार न टूटते हुए एक बार में जितना आहार या पानी साधु के पात्र में गिरें उसे एक दत्ति कहते हैं । ऐसी दत्तियों की संख्या का नियम करके भिक्षा की गवेपणा करना ।

रस परित्याग के ६ भेद

जिह्वा के स्वाद को छोड़ना रस परित्याग है । इसके अनेक भेद हैं । किन्तु सामान्यतः नौ हैं ।

(१) मणीतरस परित्याग—जिसमें घी दूध आदि की बुंदें टपक रही हों ऐसे आहार का त्याग करना ।

(२) आयंविण्ण—भात, उड़द आदि से आयम्विल करना ।

(३) आयामसिक्खभोजी—चावल आदि के पानी में पड़े हुए धान्य आदि का आहार करना ।

- (४) अश्माहार—नमक मिर्च आदि ममालों के बिना रहित आहार करना ।
- (५) विरमाहार—जिनका रस चला गया हो ऐसे या भान आदि का आहार करना ।
- (६) अन्नाहार—जवन्य अर्थात् जो आहार बहुत गरिब करने हैं ऐसे चने चर्चने आदि खाना ।
- (७) प्रान्नाहार—यथा हृद्या आहार करना ।
- (८) मूत्राहार—बहुत मूत्रा मूत्रा आहार करना । वहीं तुच्छाहार पाट है उसका अर्थ है तुच्छ मन्त्र रहित निमोजन करना ।
- (९) निर्विणय—नेल, गुड़, घी आदि विणयों में रहित करना ।

स्वपरिण्याग के और भी अनेक भेद हो सकते हैं । यहाँ नहीं दिये गए हैं । (उ. म. १६) (मग ग. २७ उ. ३ म -

कायकर्म के १३ भेद

- (१) टाण्डित्तिण (स्थानस्थितिक) — कायोन्मग करना ।
- (२) टाण्डये (स्थानानिग) — आमन विगेष में बैठ कायोन्मग करना ।
- (३) उक्कट्टुयामणिण (उक्कट्टुकामनिक) — उक्कट्टु आमन में बैठ
- (४) पटिमट्टाई (प्रतिमास्थायी) — एक मामिकी पटिमा, दो पटिमा आदि स्वीकार करके विचरना ।
- (५) धीगमणिण (धीगमनिक) — मिहामन अर्थात् कुर्मी बैठे हुए पुरुष के नीचे में कुर्मी निकाल लाने परजो रहती है वह धीगमन कहलाता है । ऐसे आमन में बैठना ।
- (६) नेमत्तिण (नेमदिक) — निषद्या । आमन विगेष में बैठ कर बैठना ।

(७) दण्डायण—लम्बे डण्ड की तरह भूमि पर लेट कर तप आदि करना ।

(८) लगण्डशायी—जिस आसन में पैरों की दोनों एडियाँ और सिर पृथ्वी पर लगे, बाकी का शरीर पृथ्वी से ऊपर उठा रहे वह लगण्ड आसन कहलाता है, अथवा सिर्फ पीठ का भाग पृथ्वी पर रहे बाकी सारा शरीर (सिर और पैर आदि) जमीन से ऊपर रहे उसे लगण्ड आसन कहते हैं । इस प्रकार के आसन से तप आदि करना ।

(९) आयाचण (आतापक)—शीतकाल में शीत में बैठ कर और उष्ण काल में सूर्य की प्रचण्ड गर्मी में बैठ कर आतापना लेना ।

आतापना के तीन भेद हैं—निष्पन्न, अनिष्पन्न, ऊर्ध्वस्थित ।

निष्पन्न अर्थात् लेट कर ली जाने वाली आतापना निष्पन्न आतापना कहलाती है । इसके तीन भेद हैं—

अधोमुखशायिता—नीचे की ओर मुख करके सोना ।

पार्श्वशायिता—पार्श्वभाग (पसवाड़े) से सोना ।

उत्तानशायिता—समचित्त ऊपर की तरफ मुख करके सोना ।

अनिष्पन्न अर्थात् बैठ कर आसन विशेष से आतापना लेना । इसके तीन भेद हैं—

गोदोहिका—गाय दुहते हुए पुरुष का जो आसन होता है वह गोदोहिका आसन कहलाता है । इस प्रकार के आसन से बैठ कर आतापना लेना ।

उत्कुडकासनता—उकड़ु आसन से बैठ कर आतापना लेना ।

पर्यङ्कासनता—पलाठी मार कर बैठना ।

ऊर्ध्वस्थित अर्थात् खड़े रह कर आतापना लेना । इसके भी तीन भेद हैं—

हस्ति शौण्डिका—हार्थी की सूंड की तरह दोनों हाथों को नीचे

- (४) अरसाहार— नमक मिर्च आदि मसालों के बिना रस-
 रहित आहार करना ।
 (५) विरसाहार—जिनका रस चला गया हो ऐसे पुराने धान्य
 या भात आदि का आहार करना ।
 (६) अन्ताहार—जघन्य अर्थात् जो आहार बहुत गरीब लोग
 करते हैं ऐसे चने चर्वणि आदि भाना ।
 (७) प्रान्ताहार—बचा हुआ आहार करना ।
 (८) रुचाहार—बहुत रुखा सूखा आहार करना । कहीं कहीं
 तुच्छाहार पाठ है उसका अर्थ है तुच्छ सत्त्व रहित निर्मल
 भोजन करना ।
 (९) निर्विगय—तेल, गुड़, घी आदि विगयों से रहित आहार
 करना ।

रसपरिन्त्याग के और भी अनेक भेद हो सकते हैं । यहाँ
 नौ ही दिए गए हैं । (उ. सू. १६) (भग. श. २४ उ. ७ सू ८०)

कायक्रेश के १३ भेद

- (१) टाणद्वितिष्ठ (स्थानस्थितिक)—कायोत्सर्ग करना ।
 (२) टाणाइये (स्थानातिग)—आसन विशेष में बैठ कर
 कायोन्मर्ग करना ।
 (३) उक्कुडुयासणिण् (उत्कुडुकामनिक)—उक्कु आमन में बैठना ।
 (४) पडिमट्टाई (प्रतिमास्थायी)—एक मासिकी पडिमा, दो मासिकी
 पडिमा आदि स्वीकार करके विचरना ।
 (५) धीरासणिण् (धीरामनिक)—सिद्धामन अर्थात् कुर्मी पर
 बैठे हुए पुरुष के नीचे से कुर्मी निकाल लेने परजो अवस्था
 रहती है यह धीरासन कहलाता है । ऐसे आमन में बैठना ।
 (६) नेमजिण् (नैपथिक)—निषद्या (आमन विशेष) में धूर्ति
 पर बैठना ।

(७) दण्डायण-लम्बे डण्डे की तरह भूमि पर लेट कर तप आदि करना ।

(८) लगण्डशायी-जिस आसन में पैरों की दोनों एडियाँ और सिर पृथ्वी पर लगे, बाकी का शरीर पृथ्वी से ऊपर उठा रहे वह लगण्ड आसन कहलाता है, अथवा सिर्फ पीठ का भाग पृथ्वी पर रहे बाकी सारा शरीर (सिर और पैर आदि) जमीन से ऊपर रहे उसे लगण्ड आसन कहते हैं । इस प्रकार के आसन से तप आदि करना ।

(९) आयाचण (आतापक)-शीतकाल में शीत में बैठ कर और उष्ण काल में सूर्य की प्रचण्ड गरमी में बैठ कर आतापना लेना ।

आतापना के तीन भेद हैं-निष्पन्न, अनिष्पन्न, ऊर्ध्वस्थित ।

निष्पन्न अर्थात् लेट कर ली जाने वाली आतापना निष्पन्न आतापना कहलाती है । इसके तीन भेद हैं-

अधोमुखशायिता-नीचे की ओर मुख करके सोना ।

पार्श्वशायिता-पार्श्वभाग (पसवाड़े) से सोना ।

उत्तानशायिता-समचित्त ऊपर की तरफ मुख करके सोना ।

अनिष्पन्न अर्थात् बैठ कर आसन विशेष से आतापना लेना । इसके तीन भेद हैं-

गोदोहिका-गाय दुहते हुए पुरुष का जो आसन होता है वह गोदोहिका आसन कहलाता है । इस प्रकार के आसन से बैठ कर आतापना लेना ।

उत्कुण्डकासनता-उकड़ु आसन से बैठ कर आतापना लेना ।

पर्यङ्कासनता-पलाठी मार कर बैठना ।

ऊर्ध्वस्थित अर्थात् खड़े रह कर आतापना लेना । इसके भी तीन भेद हैं-

हस्ति शौण्डिका-हार्थी की सूंड की तरह दोनों हाथों को नीचे

शुश्रूषा विनय के दस भेद—अच्छुद्धाणे [अभ्युत्थान] आमणा-
भिगगहे [आमनाभिग्रह], आमणपदाणे [आमनप्रदान], मकारं
[मन्कार], मम्माणे [मन्मान], कीडकम्म [कीर्तिकर्म], अंजलिपग्गहे
[अंजलिप्रग्रह], अनुगच्छणया [अनुगमनता], पज्जुवामणया
[पयुपामनता] पडिमंमाहणा [प्रतिमंमाचनता] ।

अनाशातना विनय के ४५ भेद—

अरिहन्त भगवान्, अरिहन्त प्रस्थापित धर्म, आचार्य, उपाध्याय,
स्थविर, कुन, गण, मंथ, मांभोगिक, क्रियावान्, मतिज्ञानवान्,
श्रुतज्ञानवान्, अवधिज्ञानवान्, 'मेतःपर्यय ज्ञानवान्, केवलज्ञान-
वान्, इन १५ की आशातना न करना अर्थात् विनय करना,
भक्ति करना और गुणग्राम करना । इन तीन कार्यों के करने
में ४५ भेद हो जाते हैं । चारित्र विनय के ५ भेद—मामायिक,
छेदोपस्थापनीय, पग्गिहार विशुद्धि, सूक्ष्ममम्पराय, यथाग्यात
चारित्र, इन पाँचों चारित्रधारियों का विनय करना । मन
विनय के दो भेद—प्रगम्भ मन विनय और अप्रगम्भ मन विनय ।
अप्रगम्भ मन विनय के १० भेद—मारय, मक्रिय, मरुक्केश,
कडक, निष्ठुर, फल्ल [कठोर], आश्रवकारी, छेदकारी, भेदकारी,
पग्गितापनाकारी, उपद्रवकारी, भृतापचानकारी । उपरोक्त १०
भेदों में विपरीत प्रगम्भ मन विनय के भी १० भेद होते हैं ।
वचन विनय के दो भेद—प्रगम्भ और अप्रगम्भ । इन दोनों के भी
मन विनय की तरह २५ भेद होते हैं । काय विनय के दो भेद—
प्रगम्भ और अप्रगम्भ । प्रगम्भ काय विनय के सात भेद—मायचानी
में गमन करना, टट्टरना, बैठना, मोना, उल्लंघन करना, बार बार
उल्लंघन करना और मर्मा इन्द्रिय तथा योगों की प्रवृत्ति करना
प्रगम्भ काय विनय कहलाता है । अप्रगम्भ काय विनय के सात
भेद—उपरोक्त सात स्थानों में अनावधानता गमना ।

लोकोपचार विनय के सात भेद— अभ्यासवृत्तिता (गुरु आदि के पास रहना), परच्छन्दानुवर्तिता (गुरु आदि की इच्छा के अनुकूल कार्य करना), कार्यहेतु [गुरु से ज्ञान लेने के लिए उन्हें आहारादि लाकर देना], कृत प्रतिक्रिया [अपने लिए किये गये उपकार का बदला चुकाना], आर्चगवेपणा [बीमार साधुओं की साल सम्भाल करना], देशकालानुज्ञता [अवसर देख कर कार्य करना], सर्वार्थाप्रतिलोमता [सब कार्यों में अनुकूल प्रवृत्ति करना] ।

प्रशस्त, अप्रशस्त काय विनय और लोकोपचार विनय के भेदों का विशेष स्वरूप और वर्णन इसको. द्वितीय भाग सातवें कोल संग्रह कोल नं० ५०३, ५०४, ५०५ में दे दिया गया है ।

विनय के सात भेदों के अनुक्रम से ५, ५५ [१०+४५] ५, २४ [१२+१२], २४ [१२+१२), १४, ७= १३४ भेद हुए ।

वैयावृत्य के दस भेद

आचार्य, उपाध्याय, स्थविर, तपस्वी, ग्लान, शौच, [नवदीक्षित साधु], कुल, गण, संघ और साधर्मिक इन दस की वैयावृत्य करना ।

स्वाध्याय के ५ भेद

वाचना, पृच्छना, परिवर्तना, अनुप्रेक्षा और धर्मकथा ।

ध्यान के ४८ भेद

आर्चध्यान, रौद्रध्यान, धर्मध्यान और शुक्रध्यान ।

आर्चध्यान के ४ भेद—अमनोज्ञ वियोग चिन्ता, रोग चिन्ता, मनोज्ञ संयोग चिन्ता और निदान । आर्चध्यान के चार लिङ्ग [लक्षण]—आक्रन्दन, शोचन, परिदेवना, तेपनता ।

रौद्रध्यान के चार भेद—हिंसानुबन्धी, मृपानुबन्धी, चौर्यानुबन्धी, संरक्षणानुबन्धी । रौद्रध्यान के चार लिङ्ग [लक्षण]—

पाङ्ग, आहारक अङ्गोपाङ्ग] धन्वन ५ [आहारिक, वैक्रियक, आहारक, तैजस, कामेण धन्वन] मंधान ५ [आहारिक, वैक्रियक, आहारक, तैजस, कामेण मंधान] मंस्थान ६ [समचतुरस्र, न्यग्रोध-परिमण्डल, मादि [म्याति], कुञ्जक, वामन, हुण्डक] मंहनन ६ [वज्रशृङ्गमनाराच, शृङ्गम नागच, नागच, शृङ्गनाराच, कीलक, मेघार्च] वर्ण ५ [कृष्ण, नील, पीत, रक्त, श्वेत] गन्ध ५ [सुगन्ध, दुर्गन्ध] रस ५ [मिठा, मीठा, कडुवा, कपायला, तीखा] स्पर्श ८ [हल्का, भारी, शीत, उष्ण, स्निग्ध, रुक्ष, मृदु [कोमल], कठोर] । आनुपूर्वी ४ [नरकाणुपूर्वी, तिर्यश्चाणुपूर्वी, मनुष्याणुपूर्वी, देवाणुपूर्वी] । उपरोक्त ६३ प्रकृतियाँ और नीचे लिगी ३० प्रकृतियाँ कुल ९३ होती हैं । अगुरुलघु, उपधात, पगधात, आतप, उद्योत, शुभविहायोगति, अशुभविहायोगति, उच्छ्वास, वम, स्थावर, वातर, सूक्ष्म, पर्याप्त, अपर्याप्त, ग्रन्थेक, मायाग्म, स्थिर अस्थिर, शुभ, अशुभ, सुमग, दुर्मग, सुस्वर, दुःस्वर, आदेय, अनादेय, यशःकीर्ति, अयशःकीर्ति, निर्माण, तीर्थद्वार नाप्रकर्म ।

गोत्र कर्म की दो प्रकृतियाँ— उद्य गोत्र और नीच गोत्र ।

अन्तराय कर्म की पाँच प्रकृतियाँ—दानान्तराय, लापान्तराय, भोगान्तराय, उपभोगान्तराय, धीर्यान्तराय । आठों कर्मों की कुल मिला कर १४८ प्रकृतियाँ हुई ।

(पञ्चवङ्गा ५८ २३, सूत्र २६३) (समवायंग ५०)

मोक्ष तत्त्व के भेद

ज्ञान, दर्शन, चारित्र्य और तप ये चारों मोक्ष का मार्ग हैं । मोक्ष तत्त्व का विचार नौ द्वारों में भी किया जाना है । ये द्वार ये हैं ।

मंतपथ परमपरा, दत्त परमार्थ च मित्त कृमगाय ।

कालो अ अंतर भाग, मोक्ष अया बहु चंद ॥

संतं सुद्रपयत्ता, विजंतं खकुसुमन्व न असंतं ।

मुक्खत्ति पयं नस्म उ, परुवणा मग्गणाइहिं ॥

(नव तत्त्व गा. ३२, ३३)

सत्पद प्ररूपणा—मोक्ष सत्स्वरूप है क्योंकि मोक्ष शुद्ध एवं एक पद है । संसार में जितने भी एक पद वाले पदार्थ हैं वे सब सत्स्वरूप हैं, यथा घट पट आदि । दो पद वाले पदार्थ सत् एवं असत् दोनों तरह के हो सकते हैं, यथा खरभृङ्ग [गदह के सींग] और वन्ध्यापुत्र आदि पदार्थ असत् हैं किन्तु गोभृङ्ग, मैत्रतनय, राजपुत्र आदि पदार्थ सत् स्वरूप हैं । मोक्ष एक पद वाच्य होने से सत्स्वरूप है किन्तु आकाशकुसुम [आकाश के फूल] की तरह अधिद्यमान नहीं है ।

सत्पद प्ररूपणा द्वार का निम्न लिखित चौदह मार्गणाओं के द्वारा भी वर्णन किया जा सकता है । यथा—

गइ इंदिय काए, जोए वेए कसाय नाणे य ।

संजम दंसण लेस्सा, भव सम्मे सन्नि आहारे ॥

(नव तत्त्व परिशिष्ट गा० १२)

गति, इन्द्रिय, काय, योग, वेद, कपाय, ज्ञान, संयम, लेश्या, भव्य, सम्यक्त्व, संज्ञी, और आहार । इन चौदह मार्गणाओं के अवान्तर भेद ६२ होते हैं । यथा—गति ४, इन्द्रिय ५, काया ६, योग ३, वेद ३, कपाय ४, ज्ञान = [५ ज्ञान, ३ अज्ञान], संयम ७ [५ सामायिकादि चारित्र, देशविरति और अविरति] दर्शन ४, लेश्या ६, भव्य २ [भवसिद्धिक, अभव सिद्धिक], सम्यक्त्व के ६ [औपशमिक, सास्वादान, लायोपशमिक, लायिक, मिश्र और मिथ्यात्व], संज्ञी २ [संज्ञी, असंज्ञी] आहारी २ [आहारी, अनाहारी] ।

इन १४ मार्गणाओं में से अर्थात् ६२ भेदों में से जिन जिन मार्गणाओं से जीव मोक्ष जा सकता है, उनके नाम—

मनुष्य गति, पंचेन्द्रिय जाति, त्रसकाय, भवसिद्धिक, संज्ञी,

यथाभ्यास चारित्र, दायिक मम्यत्त्व, अनाहारिक, केवल ज्ञान और केवल दर्शन इन मार्गगाथों में युक्त जीव मोक्ष जा सकते हैं। इनके अनिरिक्त चार मार्गगाथों [कषाय, वेद, योग, स्वेदग] में युक्त जीव मोक्ष नहीं जा सकता।

द्रव्य द्वार—सिद्ध जीव अनन्त हैं।

धैर्य द्वार—लोककाग के अनेक्यात्रों भाग में सब सिद्ध अवस्थित हैं।

स्वर्गन द्वार—लोक के अग्रभाग में सिद्ध रहें हुए हैं।

काल द्वार—एक सिद्ध की अपेक्षा में सिद्ध जीव यदि अनन्त हैं और सब सिद्धों की अपेक्षा में सिद्ध जीव अनादि अनन्त हैं।

अन्तर द्वार—सिद्धजीवों में अन्तर नहीं है अर्थात् सिद्ध अवस्था को प्राप्त करने के बाद फिर वे संसार में आकर जन्म नहीं लेते, इसलिए उनमें अन्तर [व्यवधान] नहीं पड़ता, अर्थात् सब सिद्ध केवल ज्ञान और केवल दर्शन की अपेक्षा एक समान हैं।

भाग द्वार—सिद्ध जीव संसारी जीवों के अनन्तों भाग हैं अर्थात् पृथ्वी, पानी, वनस्पति आदि के जीव सिद्ध जीवों में अनन्तगुण अधिक हैं।

भाव द्वार—आपन्नानिक, दायिक, दायोपग्नानिक, अर्थात् और पारिग्नानिक, इन पाँच भावों में से सिद्ध जीवों में दो भाव पाये जाते हैं अर्थात् केवल ज्ञान केवल दर्शन रूप दायिक भाव और जीवित्व रूप पारिग्नानिक भाव होते हैं।

अन्त बहुत्व द्वार—सब से छोटे ननु'सक सिद्ध, सर्वान्तर उनमें संख्यातगुण अधिक और पुण्य सिद्ध उनमें संख्यातगुण हैं। इसका कारण यह है कि ननु'सक एक समय में उत्कृष्ट इन में जा सकते हैं। यों एक समय में उत्कृष्ट बौद्ध और पुण्य एक समय में उत्कृष्ट १०० मोक्ष जा सकते हैं।

नव तत्त्वों का यह संक्षिप्त विवरण है। इन नव तत्त्वों के जानने के फल का निर्देश करते हुए बतलाया गया है कि—
जीवाइ नव पयन्थे जो जाणइ तस्स होइ सम्मतम् ।
भावेण सदहंतो अयाणमाणे वि सम्मत्तम् ॥

अर्थात्—जो जीवादि नव तत्त्वों को भली प्रकार जानता है तथा सम्यक् श्रद्धान करता है, उसे सम्यक्त्व की प्राप्ति होती है।

(नव तत्त्व गाथा ३६)

नव तत्त्वों में जीव, अजीव और पुण्य ये तीन ज्ञेय हैं अर्थात् जानने योग्य हैं। संवर, निर्जरा और मोक्ष ये तीन उपादेय (ग्रहण करने योग्य) हैं। पाप, आश्रव और बन्ध ये तीन हेय (छोड़ने योग्य) हैं।

पुण्य की तीन अवस्थाएं हैं—उपादेय, ज्ञेय और हेय। प्रथम अवस्था में जब तक मनुष्य भव, आर्य क्षेत्र आदि पुण्य प्रकृतियाँ नहीं प्राप्त हुई हैं तब तक के लिए पुण्य उपादेय है, क्योंकि इन प्रकृतियों के बिना चारित्र की प्राप्ति नहीं होती। चारित्र प्राप्त हो जाने के बाद अर्थात् साधकावस्था में पुण्य ज्ञेय है अर्थात् उस समय न तो मनुष्यत्वादि पुण्य प्रकृतियों को प्राप्त करने की इच्छा की जाती है और न छोड़ने की, क्योंकि वे मोक्ष तक पहुँचाने में सहायक हैं। चारित्र की पूर्णता होने पर अर्थात् चौदहवें गुणस्थान में वे हेय हो जाती हैं, क्योंकि शरीर को छोड़े बिना मोक्ष की प्राप्ति नहीं हो सकती। सब कर्म प्रकृतियों का सर्वथा क्षय होने पर ही मोक्ष की प्राप्ति होती है। जैसे समुद्र को पार करने के लिए समुद्र के किनारे पर खड़े व्यक्ति के लिए नौका उपादेय है। नौका में बैठे हुए व्यक्ति के लिए ज्ञेय है अर्थात् न हेय और न उपादेय। दूसरे किनारे पर पहुँच जाने के बाद नौका हेय है, क्योंकि नौका को छोड़े बिना दूसरे

किनारे पर स्थित अभीष्ट नगर की प्राप्ति नहीं होती। इसी तरह संसार रूपी समुद्र में पार होने के लिए पुण्य रूपी नाका की आवश्यकता है। किन्तु चौदहवें गुणस्थान में पहुँचने के पश्चात् मोक्ष रूपी नगर की प्राप्ति के समय पुण्य हँस हो जाता है।

६३४—काल के नौ भेद (नव तन्त्र के आधार में)

जो द्रव्यों को नई नई पर्यायों में बदलें उन्हें काल कहते हैं। इसके नौ भेद हैं—

(१) द्रव्यकाल—वर्तना अर्थात् नये को पुराना करने वाला काल द्रव्यकाल कहा जाता है।

(२) अद्वाकाल—अद्वाई द्वीप में सूर्य और चन्द्र का गति में निश्चित होने वाला काल अद्वाकाल है।

(३) यथायुक्त काल—देव आदि की आयुष्य के काल को यथायुक्त काल कहते हैं।

(४) उपक्रमकाल—इच्छित वस्तु को दूर में समीप लाने में लगने वाला समय उपक्रम काल है।

(५) देशकाल—इष्ट वस्तु की प्राप्ति होना रूप अवसर रूपी काल देशकाल है।

(६) मरणकाल—मृत्यु होना रूप काल मरणकाल है अर्थात् मृत्यु अर्थ वाले काल को मरण काल कहते हैं।

(७) प्रमाणकाल—दिन, रात्रि, सुहर्ष वर्गैक किमी प्रमाण में निश्चित होने वाला काल प्रमाणकाल है।

(८) वर्गकाल—काल रंग को वर्गकाल कहते हैं अर्थात् वर्ग की अपेक्षा काल है।

(९) भावकाल—आदित्यक, धातियक, धायापशमिक, आपशमिक और पाणिगामिक भावों के मादि मान्ति आदि भेदों वाले काल को भावकाल कहते हैं। (विरोधावश्यक भाष्य गाथा २०३०)

६३५—नोकपाय वेदनीय नौ

क्रोध आदि प्रधान कपायों के साथ ही जो मानसिक विकार उत्पन्न होते हैं, तथा उन्हीं के साथ फल देते हैं, उन्हें नोकपाय कहते हैं। ये स्वयं प्रधान नहीं होते। जैसे बुध का ग्रह दूसरे के साथ ही रहता है, साथ ही फल देता है, इसी तरह नोकपाय भी कपायों के साथ रहते तथा उन्हीं के साथ फल देते हैं। जो कर्म नोकपाय के रूप में वेदा जाता है उसे नोकपाय वेदनीय कहते हैं। इसके नौ भेद हैं—

(१) स्त्रीवेद—जिसके उदय से स्त्री को पुरुष की इच्छा होती है। जैसे—पित्त के उदय से मीठा खाने की इच्छा होती है। स्त्रीवेद छाणों की आग के समान होता है। अर्थात् अन्दर ही अन्दर हमेशा बना रहता है।

(२) पुरुषवेद—जिस के उदय से पुरुष को स्त्री की इच्छा होती है। जैसे श्लेष्म (कफ) के प्रकोप से खट्टी चीज खाने की इच्छा होती है। पुरुषवेद दावाग्रि के समान होता है। यह एक दम भड़क उठता है और फिर शान्त हो जाता है।

(३) नपुंसकवेद—जिसके उदय से स्त्री और पुरुष दोनों की इच्छा हो। जैसे पित्त और श्लेष्म के उदय से स्नान की अभिलाषा होती है। यह बड़े भारी नगर के दाह के समान होता है अर्थात् तेज और स्थायी दोनों तरह का होता है।

पुरुषवेद, स्त्रीवेद और नपुंसकवेद में उत्तरोत्तर वेदना की अधिकता रहती है।

(४) हास्य—जिस के उदय से मनुष्य सकारण या विना कारण हँसने लगे उसे हास्य कहते हैं।

(५) रति—जिस के उदय से जीव की सचित्त या अचित्त वाय पदार्थों में रुचि हो, उसे रति कहते हैं।

- (६) अग्नि-जिमके उदय में वायु पदार्थों में अरुचि हो ।
 (७) मय-जीव को वास्तव में किमी प्रकार का मय न होने पर भी जिस कर्म के उदय में इहलोक परल्लोकादि मान प्रकाश का मय उत्पन्न हो ।
 (८) शोक-जिमके उदय में शोक और म्लान आदि हों ।
 (९) जुगुप्सा-जिमके उदय में घृणा उत्पन्न हो ।

(टात्पर्य २ उ. ३ सूत्र १००)

६३६-आयुपरिणाम नो

आयुष्य कर्म की स्वाभाविक शक्ति को आयुपरिणाम कहते हैं अर्थात् आयुष्य कर्म जिस जिस रूप में परिणत होकर फल देता है वह आयुपरिणाम है । इसके नीचे मेरे हैं-

- (१) गति परिणाम-आयुष्य कर्म जिस स्वभाव में जीव को देव आदि निश्चित गतिवाँ प्राप्त कराना है उसे गतिपरिणाम कहते हैं ।
 (२) गतिबन्ध परिणाम-आयु के जिस स्वभाव में निश्चित गति का कर्मबन्ध होता है उसे गतिबन्ध परिणाम कहते हैं । जैसे नागक जीव मनुष्य या तिर्यञ्चगति की आयु ही बाँध सकता है, देवगति और नरकगति की नहीं ।
 (३) स्थिति परिणाम-आयुष्य कर्म की जिस शक्ति में जीव गतिविशेष में अन्तर्मुहूर्त में लेकर तेरास मासगणन तक रहता है ।
 (४) स्थितिबन्ध परिणाम-आयुष्य कर्म की जिस शक्ति में जीव आगामी मर के लिये नियत स्थिति की आयु बाँधता है उसे स्थितिबन्ध परिणाम कहते हैं । जैसे तिर्यञ्च आयु में जीव देवगति की आयु बाँधने पर उन्मृष्ट अग्राह्य मासगणन की ही बाँध सकता है ।
 (५) ऊर्ध्वर्गाव परिणाम-आयु कर्म के जिस स्वभाव में जीव में ऊपर जाने की शक्ति आती है । जैसे पक्षी आदि में

- (६) अधोगौरव परिणाम—जिससे नीचे जाने की शक्ति प्राप्त हो ।
 (७) तिर्यग्गौरव परिणाम—जिससे तिर्छे जाने की शक्ति प्राप्त हो ।
 (८) दीर्घगौरव परिणाम—जिससे जीव को बहुत दूर तक जाने की शक्ति प्राप्त हो । इस परिणाम के उत्कृष्ट होने से जीव लोक के एक कोने से दूसरे कोने तक जा सकता है ।
 (९) ह्रस्वगौरव परिणाम—जिससे थोड़ी दूर चलने की शक्ति हो ।

(ठाण्णंग ६ उ० ३ सूत्र ६=६)

६३७—रोग उत्पन्न होने के नौ स्थान

शरीर में किसी तरह के विकार होने को रोग कहते हैं । रोगोत्पत्ति के नौ कारण हैं—

(१) अच्चासन—अधिक बैठे रहने से । इससे अर्श (मसा) आदि रोग उत्पन्न हो जाते हैं । अथवा ज्यादा खाने से अजीर्ण आदि रोग उत्पन्न हो जाते हैं ।

(२) अहितासन—अहित अर्थात् जो आसन अनुकूल न हो उस आसन से बैठने पर । कई आसनों से बैठने पर शरीर अस्वस्थ हो जाता है । अथवा अजीर्ण होने पर भोजन करने से ।

(३) अतिनिद्रा—अधिक नींद लेने से ।

(४) अतिजागरित—बहुत जागने से ।

(५) उच्चारनिरोह—बढ़ीनीति की बाधा रोकने से ।

(६) पासवणनिरोह—लघुनीति (पेशाब) रोकने से ।

(७) अट्टाणगमण—मार्ग में अधिक चलने से ।

(८) भोचण पडिक्कलता—जो भोजन अपनी प्रकृति के अनुकूल न हो ऐसा भोजन करने से ।

(९) इंदियत्थविकोचण—इन्द्रियों के शब्दादि विषयों का विपाक अर्थात् काम विकार । स्त्री आदि में अन्यधिक मेहनत तथा आसक्ति रखने से उन्माद वगैरह रोग उत्पन्न हो जाते हैं । विषयभोगों

में पहले अभिलाष अर्थात् प्राप्त करने की इच्छा उत्पन्न होती है। इसके बाद कैसे प्राप्त किया जाय यह चिन्ता। फिर स्मरण। इसके बाद उस वस्तु के गुणों का बार बार कीर्तन। फिर उद्वेग अर्थात् प्राप्त न होने पर आत्मा में अशान्ति तथा ग्लानि। फिर प्रलाप, उन्माद, रोग, मूर्छा और अन्त में मरण तक हो जाता है। विषयों के प्राप्त न होने पर रोग उत्पन्न होते हैं। बहुत अधिक आसक्ति से राजयन्त्रा आदि रोग हो जाते हैं।

(टाण्णंग ६ ३० ३ मू० ६६३)

६३८—स्वप्न के नाँ निमित्त

अद्वैतिदितावस्था में कान्यनिक हाथी, गध, घोड़े आदि का दिग्गार्ह देना स्वप्न है। नीचे लिखे नाँ निमित्तों में में किसी निमित्त यात्री वस्तु ही स्वप्न में दिग्गार्ह देती है। वे निमित्त ये हैं—
(१) अनुभव—जो वस्तु पहले कभी अनुभव की जा चुकी है उसका स्वप्न आता है। जैसे—पहले अनुभव किए हुए स्नान, भोजन, विलसन आदि का स्वप्न में दिग्गार्ह देना।

(२) दृष्ट—पहले देखा हुआ पदार्थ भी स्वप्न में दिग्गार्ह देता है। जैसे—पहले कभी देखे हुए हाथी, घोड़े आदि स्वप्न में दिग्गार्ह देते हैं।

(३) चिन्तित—पहले सोचे हुए विषय का स्वप्न आता है ; जैसे—मन में सोची हुई स्त्री आदि का स्वप्न में प्राप्ति।

(४) श्रुत—किसी सुनी हुई वस्तु का स्वप्न आता है। जैसे—स्वप्न में स्वर्ग, नरक आदि का दिग्गार्ह देना।

(५) प्रकृति विकार—वात, पित्त आदि किसी घातु की न्यूनाधिकता में होने वाला रोग का विकार प्रकृति विकार कहा जाता है। प्रकृति विकार होने पर भी स्वप्न आता है।

(६) देवता—किसी देवता के अनुहन् या प्रतिहन् होने पर

स्वप्न दिखाई देने लगते हैं ।

(७) अनूप—पानी वाला प्रदेश भी स्वप्न आने का निमित्त है ।

(८) पुण्य—पुण्योदय से अच्छे स्वप्न आते हैं ।

(९) पाप—पाप के उदय से बुरे स्वप्न आते हैं ।

(विशेषावश्यक भाष्य गाथा १३०३)

६३९—काव्य के रस नौ

कवि के अभिप्राय विशेष को काव्य कहते हैं । इस का लक्षण काव्य प्रकाश में इस प्रकार है—निर्दोष गुण वाले और अलङ्कार सहित शब्द और अर्थ को काव्य कहते हैं । कहीं कहीं बिना अलङ्कार के भी वे काव्य माने जाते हैं साहित्यदर्पण-कार विश्वनाथ ने तथा रसगङ्गाधर में जगन्नाथ पण्डितराज ने रसात्मक वाक्य को काव्य माना है । रीतिकार रीति को ही काव्य की आत्मा मानते हैं और ध्वनिकार ध्वनि को ।

काव्य में रस का प्रधान स्थान है । नीरस वाक्य को काव्य नहीं कहा जा सकता ।

विभावानुभावादि सहकारी कारणों के इकट्ठे होने से चित्त में जो खास तरह के विकार होते हैं उन्हें रस कहते हैं । इनका अनुभव अन्तरात्मा के द्वारा किया जाता है ।

वाक्यार्थालम्बनो यस्तु, विकारो मानसो भवेत् ।

स भावः कथ्यते सद्भिस्तस्योत्कर्षो रसः स्मृतः ॥

अर्थात्—वाक्य वस्तुओं के सहारों से जो मन में विकार उत्पन्न होते हैं उन्हें भाव कहते हैं । भाव जब उत्कर्ष को प्राप्त कर लेते हैं तो वे रस कहे जाते हैं ।

रस नौ हैं—(१) वीर (२) शृङ्गार (३) अद्भुत (४) रौद्र (५) व्रीडा (६) वीभत्स (७) हास्य (८) करुण और (९) प्रशान्त ।

(१) वीर रस—दान देने पर घमण्ड या पश्चात्ताप नहीं करना,

तपस्या करके धैर्य रखना, आर्गोघ्यान न करना तथा शत्रु के विनाश में पराक्रम दिखाना आदि चिह्नों में वीर रम जाना जाना है अर्थात् वीर पुरुष दान देने के बाद घमण्ड या पश्चाना न नहीं करता, तपस्या करके धैर्य रखता है, आर्गोघ्यान नहीं करता तथा युद्ध में शत्रु का नाश करने के लिए पराक्रम दिखाता है। वीर पुरुष के इन गुणों का वर्णन काव्य में वीर रम है।
जैसे—सो नाम महार्वागो जो रज्ज पयहिउण पञ्चइथो ।

कामकोटमहामन्पकग्वनिग्यायणं कुण्ढे ॥

अर्थात्—यही महार्वाग है जिसने राज्य छोड़ कर दीक्षा लेनी। जो काम, कोट रूपा महा शत्रुओं की सेना का संहार कर रहा है।
(२) शृङ्गार रम — जिस में कामधिकार उत्पन्न हो उसे शृङ्गार रम कहते हैं। स्त्रियों के शृङ्गार, उनके हावभाव, हास्य, विविध चेष्टाओं आदि का वर्णन काव्य में शृङ्गार रम है। जैसे—

महृग्विनाममलिलथं, हियउम्मादगकरं सुवाणामं ।

मामा मददामं, दाण्ती मंदलादामं ॥

अर्थात्—मनोहर विलास और चेष्टाओं के साथ, जवानों के हृदय में उन्माद करने वाले, किंकिणी शब्द करने हुए मन्थना-सत्र को श्यामा स्त्री दिखानी है।

(३) अद्भुत रम—किमी विचित्र वस्तु के देखने पर हृदय में जो आश्चर्य उत्पन्न होता है उसे अद्भुत रम कहते हैं। यह पढ़ने बिना अनुभव की हुई वस्तु में अथवा अनुभव की हुई वस्तु में होता है। उस वस्तु के शृंग होने में हरे होता है, अनुभव होने दुःख होता है। जैसे—

अन्नुअनगमिह एणो अन्नं किं अण्णि जीवणोर्गम्म ।

जं जिनवयणे अन्धा निकालजुणा मृगिज्जंति ॥

अर्थात्—संसार में जिनवचन में बदकर कीतमी विचित्र वस्तु

हैं, जिससे भूत, भविष्य और वर्तमान काल के सूक्ष्म, व्यवहित, छिपे हुए, अतान्द्रिय तथा अमूर्त पदार्थ स्पष्ट जाने जाते हैं।

(४) रौद्र रस—भय को उत्पन्न करने वाले, शत्रु और पिशान आदि के रूप, उनके शब्द, घोर अन्धकार तथा भयङ्कर अटवी आदि की चिन्ता, वर्णन तथा दर्शन से मन में रौद्र रस की उत्पत्ति होती है। सम्मोह अर्थात् किंकर्तव्यमूढ़ हो जाना, व्याकुलता, दुःख, निराशा तथा राजसुकुमाल को मारने वाले सोमिल ब्राह्मण की तरह मृत्यु, इसके खास चिह्न हैं। जैसे—

भिडडीविडंविममुहो संदट्टोड्ड इअ रुहिरमाकिण्णो ।

इणमि पसुं असुरणिभो भीमरसिअ अइरोद ॥

अर्थात्—तुमने भृकुटी तान रखी है। मुँह टेढ़ा कर रक्खा है। थोड़ा काट रहे हो, रुधिर बिखरा हुआ है, पशुओं को मार रहे हो, भयङ्कर शब्द कर रहे हो, भयङ्कर आकृति है, इससे मालूम पड़ता है कि तुम रौद्र परिणाम वाले हो।

(५) व्रीडा रस—विनय के योग्य गुरु आदि की विनय न करने में, किसी छिपाने योग्य बात को दूसरे पर प्रकट करने से तथा किसी तरह का दुष्कर्म हो जाने से लजा या व्रीडा उत्पन्न होती है। लजित तथा शङ्कित रहना इसके लक्षण हैं। सिर नीचा करके अङ्गों को संकुचित कर लेने का नाम लजा है। कोई मुँह कुछ कह न दे, इस प्रकार हमेशा शङ्कित रहना शङ्का है।

(६) बीभत्स रस—अशुचि अर्थात् विष्टा और पेशाव आदि, शव तथा जिस शरीर से लाला आदि टपक रही हो इस प्रकार की घृणित वस्तुओं के देखने तथा उनकी दुर्गन्ध में बीभत्स रस उत्पन्न होता है। निर्वेद तथा हिंसा आदि पापों से निवृत्ति इसके लक्षण हैं। इस प्रकार की घृणित वस्तुओं को देखकर संसार से विरक्ति हो जाती है तथा मनुष्य पापों से निवृत्त होता है।

अमुष्मन्परिव निष्कृम भाव दुर्गन्धि मज्जकार्त्तं त्रि ।

धण्णा उ मरीरकलिं बहुमलकलुप्तं विमृचंति ॥

अर्थान्-शरीर आदि के अमर स्वरूप को जानने वाला कोई कहता है-हमेशा अपवित्र मलादि पदार्थों को निकालने वाले, स्वभाविक दुर्गन्ध में भरे हुए, तरह तरह की विह्वल वस्तुओं में अपवित्र ऐसे शरीर स्पर्श कलि अर्थान् पाप को जो ओढ़ते हैं वे धन्य हैं । सब अनिष्टों का कारण तथा नव कलहों का मूल होने में शरीर को कलि कहा गया है ।

(७) दाम्प्य रस-रूप, वय, वंश तथा भाषा आदि के वर्णान्वयी की विदम्बना आदि कारणों में दाम्प्य रस की उत्पत्ति होती है । पुरुष होकर स्त्री का रूप धारण करना, वैसे कपड़े पहिन कर उर्मी तरह की चेष्टाएं करना रूपवर्णान्वयी है । जवान होकर बृद्ध का अनुकरण करना वयवर्णान्वयी है । गजपुत्र होकर बनिर् आदि का वंश पहिन लेना वंशवर्णान्वयी है । गुजराती होकर मध्य प्रदेश आदि की बोली बोलना भाषावर्णान्वयी है । मन के प्रसन्न होने पर नेत्र, मुख, आदि का विकार अथवा प्रकाशित रूप से पैट कंपाना तथा अड्डहान करना दाम्प्य रस के निद्व है । जैसे-

पागुनमर्माभिर्द्विभ्रतिवृद्धं देवं वल्लभांती ।

ही जट थग मर कंषण पगामिश्च मज्जा हमत मामा ॥

अर्थान्-किमी बड़ ने अपने मोर् हुण् देवर को मर्मी में रंग दिया । जर बट जगा नो बट हैमने लगी । उमे हंमती देमरर किमी ने अपने पाम गढ़े हुण् दमरे में कहा-देमो बट ज्यामा हंम रही है । मर्मी में रंगे हुण् अपने देवर को देम कर हैमने हैमने नम गई है । उनकापेट दोहरा होगया है ।

(८) कस्य रस-प्रिय के विदोष, गिन्तवारी, प्राग्गत्य गेय

पुत्र आदि का मरण, शत्रुओं से भय आदि कारणों से कर्तव्य रस उत्पन्न होता है। शोक करना, विलाप करना, उदासी तथा रोना इसके चिह्न हैं। जैसे—

पञ्चमाय किलामिअ यं वाहागयवप्पु अच्छिअं बहुसो ।

तस्स विओगे पुत्तिय ! दुब्बलयं ते मुहं जायं ॥

अर्थात् बेटी ! प्रियतम के वियोग में तेरा मुँह दुर्बल हो गया है। हमेशा उसका ध्यान करते हुए उदासी छा गई है। हमेशा आँखें टपकते रहने से आँखें सूज गई हैं, इत्यादि।

(६) प्रशान्तरस—हिंसा आदि दोषों से रहित मन जब विषयों से निवृत्त हो जाता है और चित्त विन्मुल स्वस्थ होता है तो शान्त रस की उत्पत्ति होती है। क्रोधादि न रहने से उस समय चित्त विन्मुल शान्त होता है। किसी तरह का विकार नहीं रहता। जैसे—

सन्भावनिव्विगारं उवसंतपसंत सोमदिट्ठीअं ।

ही जह मुणिणो सोहइ मुहकमलं पीवरसिरीअं ॥

अर्थात्—शान्तमूर्ति साधु को देख कर कोई अपने समीप खड़े हुए व्यक्ति को कहता है—देखो ! मुनि का मुख रूपा कमल केसी शोभा दे रहा है। जो अच्छे भावों के कारण विकार रहित है। सजावट तथा अविवेच आदि विकारों से रहित है। रूपादि देखने की इच्छा न होने से शान्त तथा क्रोधादि न होने से सौम्यदृष्टि वाला है। इन्हीं कारणों से इसकी शोभा बढ़ी हुई है। (अनुयोगशर गाथा ६३ से = १. सूत्र १२६)

६४०—परिग्रह नौ

ममत्व पूर्वक ग्रहण किए हुए धन धान्य आदि को परिग्रह कहते हैं। इसके नौ भेद हैं—

(१) क्षेत्र—धान्य उत्पन्न करने की भूमि को क्षेत्र कहते हैं।

यह दो प्रकार का है—मेतु और केतु । अरघट, नहर, कृशा वगैरह कृत्रिम उपायों से सींची जाने वाली भूमि को मेतु और सिर्फ बरसात से सींची जाने वाली को केतु कहते हैं ।

(२) वाम्तु— घर । बड़ तीन प्रकार का होता है । ग्वात अर्थात् भूमिगृह । उन्सुत अर्थात् जमीन के ऊपर बनाया हुआ महल वगैरह । खानोच्छ्रित—भूमिगृह के ऊपर बनाया हुआ महल ।

(३) हिरण्य— चांदी, मिल या आभूषण के रूप में अर्थात् बड़ी हुई और बिना बड़ी हुई ।

(४) सुवर्ण— बड़ा हुआ तथा बिना बड़ा हुआ मोना । डींग, माणिक, मोती आदि जवाहरात भी इसी में आजाते हैं ।

(५) धन— गुड़, शकर आदि ।

(६) धान्य— चावल, मूँग, गेहूँ, चने, मोठ, बाजरा आदि ।

(७) द्विपद— दास दासी और मोर, हंस वगैरह ।

(८) चतुष्पद— हाथी, घोड़े, गाय, भैंस वगैरह ।

(९) कृत्य— मोने, बैठने, खाने, पीने, वगैरह के काम में आने वाली धातु की बनी हुई तथा दूसरी वस्तुएं अर्थात् घर बिरोंगे की वस्तुएं ।

हरिभट्टीयाशयक छटा. सूत्र ४ वा)

६४१— ज्ञाता (जाणकार) के नौ भेद

समय तथा अपनी शक्ति वगैरह के अनुसार काम करने वाला व्यक्ति ही सफल होता है और समझदार माना जाता है । उनके नौ भेद हैं—

(१) कालत्र— काम करने के अवसर को जानने वाला ।

(२) बलत्र— अपने बल को जानने वाला और शक्ति के अनुसार ही आचरण करने वाला ।

(३) मारत्र— कौनसी वस्तु कितनी चाहिए, इस प्रकार अपनी आवश्यकता के लिए वस्तु के परिमाण को जानने वाला ।

- (४) खेदज्ञ अथवा क्षेत्रज्ञ—अभ्यास के द्वारा प्रत्येक कार्य के अनुभव वाला, अथवा संसारचक्र में घूमने से होने वाले खेद (कष्ट) को जानने वाला । जैसे—

जरामरणादौर्गत्यव्याधयस्तावदासनाम् ।

मन्यं जन्मैव धीरस्य, भूयो भूयस्त्रपाकरम् ॥

अर्थात्—जरा, मरण, नरक, निर्यश्च आदि दुर्गतियों तथा व्याधियों को न गिना जाय तो भी धीर पुरुष के लिए बार बार जन्म होना ही लज्जा की बात है ।

अथवा क्षेत्र अर्थात् संसक्त आदि द्रव्य तथा भिन्ना के लिए छोड़ने योग्य कुलों को जानने वाला साधु ।

- (५) क्षणज्ञ—क्षण अर्थात् भिन्ना के लिये उचित समय को जानने वाला क्षणज्ञ कहलाता है ।

- (६) विनयज्ञ—ज्ञान, दर्शन आदि की भक्ति रूप विनय को जानने वाला विनयज्ञ कहलाता है ।

- (७) स्वसमयज्ञ—अपने सिद्धान्त तथा आचार को जानने वाला अथवा उद्गम आदि भिन्ना के दोषों को समझने वाला साधु ।

- (८) परसमयज्ञ—दूसरे के सिद्धान्त को समझने वाला । जो आवश्यकता पड़ने पर दूसरे सिद्धान्तों की अपेक्षा अपने सिद्धान्त की विशेषताओं को बता सके ।

- (९) भावज्ञ—दाता और श्रोता के अभिप्राय को समझने वाला ।

इस प्रकार नौ बातों का जानकर साधु संयम के लिए अतिरिक्त उपकरणादि को नहीं लेता हुआ तथा जिस काल में जो करने योग्य हो उसे करता हुआ विचरे ।

(आचारगोत्रं श्रुतशब्द १ प्रथम २ उद्देश २ सूत्र २२)

६४२—नैपुणिक नौ

निपुण अर्थात् सूक्ष्म ज्ञान को धारण करने वाले नैपुणिक

कदलाने हैं । अनुप्रवाद नाम के नवम पूर्व में नैपुणिक वस्तुओं के नीचे अध्ययन है । वे नीचे लिखे जाते हैं—

- (१) संख्यान—गणित शास्त्र में निपुण व्यक्ति ।
- (२) निमित्त—बृहामणि वर्गगृह निमित्तों का जानकर ।
- (३) कायिक—शरीर की इडा, दिग्गजा वर्गगृह नाडियों को जानने वाला अर्थात् प्राणतन्त्र का विद्वान् ।
- (४) पुराण—बृद्ध व्यक्ति, जिसने दुनियाँ को देखकर तथा स्वयं अनुभव करके बहुत ज्ञान प्राप्त किया है, अथवा पुराण नाम के शास्त्र को जानने वाला ।
- (५) पाण्डित्यिक—ज्ञा व्यक्ति स्वभाव में निपुण अर्थात् होशियार हो । अपने सब प्रयोजन समय पर पूरे कर लेता हो ।
- (६) परपण्डित—उत्कृष्ट पण्डित अर्थात् बहुत शास्त्रों को जानने वाला, अथवा जिसका मित्र वर्गगृह कोई पण्डित हो और उसके पास बैठने उठने में बहुत कुछ सीखा गया हो और अनुभव कर लिया हो ।
- (७) वार्ता—शास्त्रार्थ में निपुण, जिसे दूसरा न जीत सके हो, अथवा मन्त्रवार्ता या वातुवार्ता ।
- (८) भूतिकर्म—ज्वरादि उबारने के लिए मभूत वर्गगृह मन्त्रित करके देन में निपुण ।
- (९) चैकिन्मिक—वैद्य, चिकित्सा में निपुण । (शास्त्र १३३.२५.२६)

६४३—पाप श्रुत नौ

जिस शास्त्र के पठन पाठन और विम्लान आदि में पाप होता है उसे पाप श्रुत कहते हैं । पाप श्रुत नौ हैं—

- १ । उन्वात—प्रकृति के विकार अर्थात् रुक्ल वृष्टि आदि पाप के उन्वात आदि को बनाने वाला शास्त्र ।
- (२) निमित्त—भूत, भविष्य की बात को बनाने वाला शास्त्र

(३) मन्त्र— दूसरे को मारना, वश में कर लेना आदि मन्त्रों को बताने वाला शास्त्र ।

(४) मातङ्गविद्या— जिस के उपदेश से भौषा आदि के द्वारा भूत तथा भविष्यत् की बातें बताई जाती हैं ।

(५) चैकित्सिक— आयुर्वेद ।

(६) कला— लेख आदि जिन में गणित प्रधान है । अथवा पक्षियों के शब्द का ज्ञान आदि । पुरुष की बहुरार तथा स्त्री को चौंमठ कलाएँ ।

(७) आवरण—मकान वगैरह बनाने की वास्तु विद्या ।

(८) अज्ञान—लौकिक ग्रन्थ भरत नाट्य शास्त्र और काव्य वगैरह ।

(९) मिथ्या प्रवचन— चार्वाक आदि दर्शन ।

ये सभी पाप श्रुत हैं, किन्तु ये ही धर्म पर दृढ व्यक्ति के द्वारा यदि लोकहित की भावना से जाने जावें या काम में लाये जावें तो पाप श्रुत नहीं हैं । जब इनके द्वारा वासनापूर्ति या दूसरे को दुःखान पहुँचाया जाता है तभी पाप श्रुत हैं । (ठाण्णग २३.३ सू ६:८)

६४४ निदान (नियाणा) नौ

मोहनीय कर्म के उदय से काम भोगों की इच्छा होने पर साधु, साध्वी, श्रावक या श्राविका का अपने चित्त में संकल्प कर लेना कि मेरी तपस्या से मुझे अमुक फल प्राप्त हो, इसे निदान (नियाणा) कहते हैं ।

एक समय राजगृही नगरी में भगवान् महावीर पधारे । श्रेणिक राजा तथा चेलना रानी बड़े समारोह के साथ भगवान् को वन्दना करने गए । राजा की समृद्धि को देख कर कुछ साधुओं ने मन में सोचा, कौन जानता है देवलोक कैसा है । श्रेणिक राजा सब तरह से सुखी है । देवलोक इससे बड़कर नहीं हो सकता । उन्होंने मन में निश्चय किया कि हमारी तपस्या का

फल यही हो कि श्रेणिक मरीचि राजा बनें । माध्वियों ने चलना को देखा, उन्होंने भी संकल्प किया कि हम अगले जन्म में चलना रानी मरीचि भाग्यशालिनी बनें । उर्मा ममय भगवान ने माधु तथा माध्वियों को बुलाकर नियामों का स्वरूप तथा नौ भेद बताया । माध में कहा— जो व्यक्ति नियामों करके मरता है वह एक बार नियामों के फल को प्राप्त करके फिर बहुत काल के लिए संसार में परिभ्रमण करता है । नौ नियामों इस प्रकार हैं—

- (१) एक पुरुष किसी दूसरे समृद्धि शाली पुरुष को देव का नियामों करता है ।
- (२) स्त्री अच्छा पुरुष प्राप्त होने के लिए नियामों करती है ।
- (३) पुरुष स्त्री के लिए नियामों करता है ।
- (४) स्त्री स्त्री के लिए नियामों करती है अर्थात् किसी सुखी स्त्री को देव कर उस मरीचि होने का नियामों करती है ।
- (५) देवगति में देवरूप में उत्पन्न होकर अपनी तथा दूसरी देवियों को वैक्रिय शरीर द्वारा भोगने का नियामों करता है ।
- (६) देव भव में सिद्ध अपनी देवी को वैक्रिय करके भोगने के लिए नियामों करता है ।
- (७) देव भव में अपनी देवी को बिना वैक्रिय के भोगने का नियामों करता है ।
- (८) अगले भव में श्रावक बनने का नियामों करना है ।
- (९) अगले भव में साधु होने का नियामों करता है ।

इनमें से पहिले चार नियामों करने वाला जीव केवली प्ररूपित धर्म को मुन भी नहीं मरता । पाँचवें नियामों वाला मुन तो लेता है लेकिन दुर्लभसाधि होता है और बहुत काल तक संसार परिभ्रमण करता है । छठे वाला जीव जिनधर्म

वलदेव और वासुदेवों के पूर्वभव के आचार्यों के नाम

सम्भूत (२) सुभद्र (३) सुदर्शन (४) श्रेयांस (५)
(६) गंगदत्त (७) आमागर (८) समुद्र (९) द्रुमसेन ।

व में वलदेव और वासुदेवों के ये आचार्य थे । इन्हीं
उत्तम करणी करके इन्होंने वलदेव या वासुदेव का
बाँधा था । (समवायांग १५८)

नारद नाँ

क. उन्सपिण्णी तथा अवसपिण्णी में नाँ नारद होते हैं ।
मिश्र्यात्त्वी तथा बाद में सम्यवत्त्वी हो जाते हैं । सभी
स्वर्ग में जाते हैं । उनके नाम इस प्रकार हैं—

भीम (२) महाभीम (३) रुद्र (४) महारुद्र (५) काल
काल (७) चतुर्मुख (८) नवमुख (९) उन्मुख ।

(मेनप्रश्न वल्लभा ३ प्रश्न (६६७)

नृद्धिप्राप्त आर्य के नौ भेद

त. चक्रवर्ती, वलदेव, वासुदेव, चारण या विद्याधर
से रहित आर्य को अनृद्धिप्राप्त आर्य कहते हैं । इन
हैं—

१. आर्यचेत्रों में उत्पन्न हुआ व्यक्ति । साढ़े पच्चीस
वर्षों का वर्णन पच्चीसवें बाल संग्रह के अन्त में दिया जायगा।

२. अलिद, विदेह, वेदग, हरित और
३. में उत्पन्न हुआ व्यक्ति ।

जन्म ज्ञात और कौरव्य

रने वाला व्यक्ति ।

वर्तमान अवमर्षिणी के नाँ बासुदेवों के नाम निम्न लिखित हैं।

(१) त्रिष्टुष्ट (२) द्विष्टुष्ट (३) स्वयम्भू (४) पुरुषोत्तम (५) पुरुषमिह (६) पुरुषपृण्डरीक (७) दन् (८) नागयण (गम का भाई लक्ष्मण) (९) कृष्ण ।

वासुदेव, प्रतिवासुदेव पूर्वमत्र में नियाणा करके हों उन्मत्र होते हैं। नियाणा के कारण वे शुभगति को प्राप्त नहीं करते।

(हरि. अ. १ गा. ४० पृ. १४६) (प्रव. वार २१० गा. १८१८)

६४८— प्रतिवासुदेव नाँ

वासुदेव जिसे जीत कर तीन खण्ड का राज्य प्राप्त करता है उसे प्रतिवासुदेव कहते हैं। वे नाँ होते हैं। वर्तमान अवमर्षिणी के प्रतिवासुदेव नीचे लिखे अनुसार हैं—

(१) अश्वघ्रीव (२) तारक (३) मेरक (४) मधुकैटभ (इनका नाम मिक मधु है, कैटभ इनका भाई था। माथ माथ रहने में मधुकैटभ नाम पड़ गया) (५) निशुम्भ (६) बलि (७) प्रमा-
गज अथवा प्रह्लाद (८) रावण (९) जगमन्ध ।

(मम. १४८) (हरि. अ. अ. १ पृ. १४६) (प्रव. वार २११ गा. १८१३)

६४९— बलदेवों के पूर्व भव के नाम

अचल आदि नाँ बलदेवों के पूर्वमत्र में क्रमशः नीचे लिखे नाँ नाम थे—

(१) विषनन्दी (२) सुवन्तु (३) मागरदल (४) अगोक.
(५) ललित (६) वागड (७) धर्ममेन (८) अयगजित (९)
गजललित ।

(ममसायग १४८)

६५०— वासुदेवों के पूर्व भव के नाम

(१) विश्वमति (२) सुवन्तु (३) धनदल (४) समुद्रदल (५)
अविशान (६) प्रियमित्र (७) ललितमित्र (८) पुनर्वसु (९)
गणदल ।

(ममसायग १४८)

६५१- बलदेव और वासुदेवों के पूर्वभव के आचार्यों के नाम

(१) मम्भूत (२) सुमद्र (३) सुदर्शन (४) श्रेयांस (५) कृष्ण (६) गंगदत्त (७) आसागर (८) समुद्र (९) द्रुमसेन ।

पूर्वभव में बलदेव और वासुदेवों के ये आचार्य थे । इन्हीं के पास उत्तम करणी करके इन्होंने बलदेव या वासुदेव का आयुष्य बाँधा था । (समवायांग १५८)

६५२-नारद नौ

प्रत्येक उत्सर्पिणी तथा अवसर्पिणी में नौ नारद होते हैं । वे पहले मिश्र्यात्वी तथा बाद में सम्यवत्वी हो जाते हैं । सभी मोक्ष या स्वर्ग में जाते हैं । उनके नाम इस प्रकार हैं-

(१) भीम (२) महाभीम (३) रुद्र (४) महारुद्र (५) काल (६) महाकाल (७) चतुर्मुख (८) नवमुख (९) उन्मुख ।

(सेनप्रश्न उद्दाम ३ प्रश्न (६६७)

६५३-अनृद्धिप्राप्त आर्य के नौ भेद

अरिहन्त, चक्रवर्ती, बलदेव, वासुदेव, चारण या विद्याधर की अरुद्धि से रहित आर्य को अनृद्धिप्राप्त आर्य कहते हैं । इन के नौ भेद हैं-

(१) क्षेत्रार्य-आर्यक्षेत्रों में उत्पन्न हुआ व्यक्ति । साढ़े पच्चीस आर्यक्षेत्रों का वर्गीन पच्चीसवें बाल संग्रह के अन्त में दिया जायगा ।

(२) जाति आर्य-अंवष्ट, कलिंद, विदेह, वेदग, हरित और लुँलुण इन छः आर्य जातियों में उत्पन्न हुआ व्यक्ति ।

(३) कुलार्य-उग्र, भोग, राजन्य, इक्ष्वाकु, जात और कौरव्य इन छः कुलों में उत्पन्न हुआ व्यक्ति ।

(४) कर्मार्य-हिंसा आदि कुर कर्म नहीं करने वाला व्यक्ति ।

- (५) शिष्यार्थ—जिम शिष्य में हिंसा आदि पाप नहीं लगने ऐसे शिष्य को कहने वाले ।
- (६) मापार्थ—जिनकी अर्थमागधी भाषा तथा ब्राह्मी लिपि हैं वे मापार्थ हैं ।
- (७) ज्ञानार्थ—पाँच ज्ञानों में किसी ज्ञान को धारण करने वाले ज्ञानार्थ हैं ।
- (८) दर्शनार्थ—मरगदर्शनार्थ और बीतरगदर्शनार्थ को दर्शनार्थ कहते हैं । मरगदर्शनार्थ दस प्रकार के हैं, वे दसवें बोल में दिये जायेंगे । बीतरगदर्शनार्थ दो प्रकार के हैं—उपशान्त कषाय बीतरगदर्शनार्थ और क्षणिकषाय बीतरगदर्शनार्थ ।
- (९) चाग्रिथार्थ—पाँच प्रकार के चाग्रि में से किसी चाग्रि को धारण करने वाले चाग्रिथार्थ कहे जाते हैं ।

(५ प्रश्ना ५८ १ सूत्र ३१)

६५४—चक्रवर्ती की महानिधियाँ नौ

चक्रवर्ती के विज्ञान निधान अर्थात् राजाने को महानिधि कहते हैं । प्रत्येक निधान नौ योजन विस्तार वाला होता है । चक्रवर्ती की नौ मण्डलि इन नौ निधानों में विभक्त है । ये सभी निधान देवता के द्वारा अधिष्ठित होते हैं । वे इस प्रकार हैं—

नेमथे षंडुयण पिंगलने मन्व्यरदग मद्रापउमे ।

काले य महाकाले माणवग महानिही मंगे ॥

अर्थात्—(१) नेमर्ष (२) पाण्डुक (३) पिङ्गल (४) मन्व्यर (५) मद्राप (६) काल (७) महाकाल (८) माणवक (९) मंग ये नौ महानिधियाँ हैं ।

(१) नेमर्ष निधि—नए ग्रामों का बसाना, पुराने ग्रामों को व्यवस्थित करना, उहाँ नमरु आदि उन्पन्न होते हैं ऐसे समुद्र तट या दूसरे प्रकार की गानों का प्रबन्ध, नगर, पत्तन अर्थात्

दसवां बोल संग्रह

६५५— केवली के दस अनुत्तर

दूसरी कोई वस्तु जिसमें बढ़ कर न हो अर्थात् जो सब में बढ़ कर हो उसे अनुत्तर कहते हैं। केवली भगवान में दस बातें अनुत्तर होती हैं।

(१) अनुत्तर ज्ञान— ज्ञानावरणीय कर्म के सर्वथा जय में केवल ज्ञान उत्पन्न होता है। केवल ज्ञान से बढ़ कर दूसरा कोई ज्ञान नहीं है। इसलिए केवली भगवान का ज्ञान अनुत्तर कहलाता है।

(२) अनुत्तर दर्शन— दर्शनावरणीय अथवा दर्शनमोहनीय कर्म के सम्पूर्ण जय में केवल दर्शन उत्पन्न होता है।

(३) अनुत्तर चारित्र— चारित्र मोहनीय कर्म के सर्वथा जय में यह उत्पन्न होता है।

(४) अनुत्तर तप— केवली के शुद्ध ध्यानादि रूप अनुत्तर तप होता है।

(५) अनुत्तर वीर्य— वीर्यान्तराय कर्म के जय में अनन्त वीर्य पैदा होता है।

(६) अनुत्तर क्षान्ति (क्षमा)—क्रोध का त्याग।

(७) अनुत्तर मुक्ति—लोभ का त्याग।

(८) अनुत्तर आर्जव (सरलता)—माया का त्याग।

(९) अनुत्तर मार्दव (मृदुता)—मान का त्याग।

(१०) अनुचर लाघव (हलकापन) धार्मी कर्मों का दार हो जाने के कारण उनके ऊपर संसार का बोझ नहीं रहता । ज्ञान्ति आदि पाँच चाग्नि के भेद हैं और चाग्नि मोहनीय वन के क्षय से उत्पन्न होते हैं । (टात्पार्थ १० ३० ३ सूत्र ३६३)

६५६-पुण्यवान को प्राप्त होने वाले दस चीजें

जो मनुष्य अच्छे कर्म करते हैं, वे आशुष्य पूर्ण करके ऊँचे देवलोका में महाशक्ति वाले देव होते हैं । वहाँ मुन्नों को भोगों हुए अपनी आशु पूर्ण करके मनुष्य लोक में उत्पन्न होते हैं । उस समय उन्हें दस चीजों की प्राप्ति होती है—

- (१) धैर्य (ग्रामादि), धाम्नु (घर), सुवर्ग (उत्तम धातुएं) पशु दाम (नौकर चाकर और चौपाए) इन चार पशुओं से भरपूर कुल में पैदा होते हैं ।
- (२) बहुत मित्रों वाले होते हैं ।
- (३) बहुत सगे सम्बन्धियों को प्राप्त करने हैं ।
- (४) ऊँचे गोत्र वाले होते हैं ।
- (५) कान्ति वाले होते हैं ।
- (६) शरीर नर्माण होता है ।
- (७) तीव्र बुद्धि वाले होते हैं ।
- (८) कुलान्ति अर्थात् उदार स्वभाव वाले होते हैं ।
- (९) यशस्वी होते हैं ।
- (१०) बलवान् होते हैं । (उल्पादयन ४० : श्लोक ११-१२)

६५७-भगवान् महावीर स्वामी के दस स्थान

भगवान् भगवान् महावीर स्वामी श्रद्धास्थ अवस्था में (गृहस्थ वाम में) एक वर्ष पश्चन्त वर्षादान देकर देव, मनुष्य और अश्वों में परिहृत हो कृष्णपुर नगर में निकले । मिगमा कृष्ण

दशमी के दिन ज्ञातखण्ड वन के अन्दर अकेले महावीर स्वामी ने दीक्षा ली। तीर्थङ्करों को मति, श्रुत और अवधि ज्ञान तो जन्म से ही होता है। दीक्षा लेते ही भगवान् को मनःपर्यय नामक चौथा ज्ञान उत्पन्न होगया। एक समय अस्थिक ग्राम के बाहर शूलपाणि यज्ञ के देहरे में भगवान् चतुर्मास के लिए ठहरे। एक रात्रि में भगवान् महावीर स्वामी को कष्ट देने के लिए शूलपाणि यज्ञ ने अनेक प्रकार के उपसर्ग दिए। हाथी, पिशाच और सर्प का रूप धारण कर भगवान् को बहुत उपसर्ग दिये और उन्हें ध्यान से विचलित करने के लिए बहुत प्रयत्न किये। किन्तु जब वह अपने प्रयत्न में सफल न हुआ तब डांस, मञ्छर बन कर भगवान् के शिर, नाक, कान, पीठ आदि में तेज डंक मारे किन्तु जिस प्रकार प्रचण्ड वायु के चलने पर भी सुमेरु पर्वत का शिखर विचलित नहीं होता, उसी प्रकार भगवान् वर्द्धमान स्वामी को अविचलित देख कर वह शूलपाणि यज्ञ थक गया। तब भगवान् के चरणों में नमस्कार कर विनय पूर्वक इस तरह कहने लगा कि हे भगवन् ! मेरे अपराधों के लिए मुझे क्षमा प्रदान कीजिये।

उसी समय सिद्धार्थ नाम का व्यन्तर देव उस यज्ञ को दण्ड देने के लिए दौड़ा और इन प्रकार कहने लगा कि अरे शूलपाणि यज्ञ ! जिसकी कोई इच्छा नहीं करता ऐसे मरण की इच्छा करने वाला ! लज्जा, लक्ष्मी और कीर्ति से रहित, होन पुण्य ! तू नहीं जानता है कि ये सम्पूर्ण संसार के प्राणियों तथा सुर, असुर, इन्द्र, नरेन्द्र द्वारा वन्दित, त्रिलोक पूज्य श्रमण भगवान् महावीर स्वामी हैं। तेरे इस दुष्ट कार्य को यदि शकेन्द्र जान लेंगे तो वे तुझे अतिकटोर दण्ड देंगे।

सिद्धार्थ व्यन्तर देव के वचनों को सुन कर वह शूलपाणि

यत्र बहुत समयमति दृष्टा और भगवान् में अनि विनय पूर्वक अपने अपराध की पुनः पुनः क्षमा मांगने लगा ।

उम रात्रि में पाने चार पहर तक भगवान् उम यत्र दाग दिये गये उपसर्गों को समभाव से सहन करने लगे । रात्रि के अन्तिम भाग में अर्थात् प्रातः काल जब एक मुहूर्त मात्र रात्रि शेष रही तब भगवान् को एक मुहूर्त निद्रा आ गई । उम समय श्रद्धा भगवान् महावीर स्वामी ने दस स्वप्न देगे । वे इस प्रकार हैं—

(१) प्रथम स्वप्न में एक मयङ्कर अनि विगाल काय और नेत्रनी रूप वाले नाद शब्द के समान पिग्गाच को पगजित किया ।

(२) दूसरे स्वप्न में महेन्द्र पंख वाले घुँम्कोकिल (घुम्टा ज्ञानि के कोयल) को देगा । साधारणतया कोयल के पंख काने होते हैं, किन्तु भगवान् ने स्वप्न में महेन्द्र पंख वाले कोयल को देगा ।

(३) तीसरे स्वप्न में विचित्र रंगों के पंख वाले कोयल को देगा ।

(४) चौथे स्वप्न में एक महान् सर्वस्वमय मानासुगल (दो मालायों) को देगा ।

(५) पाँचवें स्वप्न में एक विगाल श्वेत गायों के झुण्ड को देगा ।

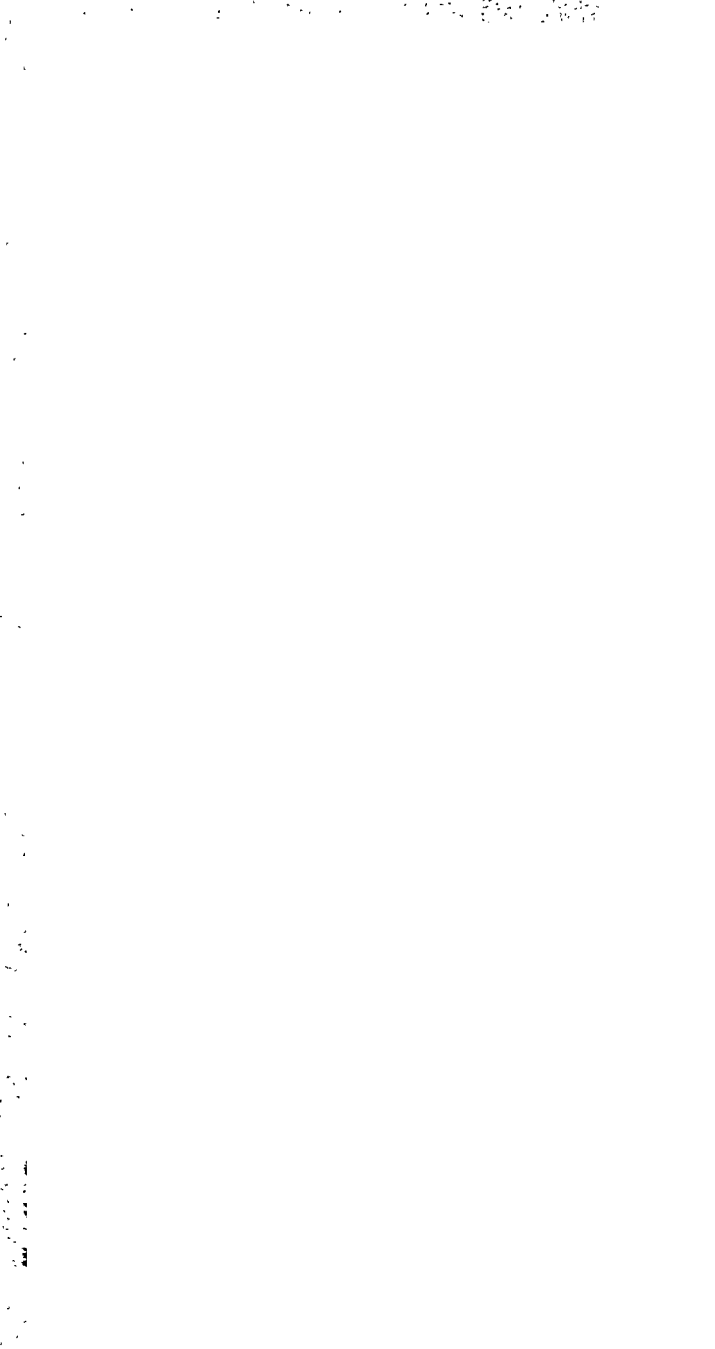
(६) छठे स्वप्न में चागे तर्क में मिले हुए कृन्तों वाले एक विगाल पद्म मण्डप को देगा ।

(७) सातवें स्वप्न में हजारों नरगों (नरगों) और कन्नोंनी में युक्त एक महान् मागर को मृत्ताओं में नैर कर पार पहुँचे ।

(८) आठवें स्वप्न में अनि नेत्र पुन्त्र में युक्त मृत्त को देगा ।

(९) नवें स्वप्न में मानुषोत्तर पर्वत को नील ईदृश्यं मणि के समान अपने अन्तर्भाग (उद्गम मध्य स्थित अवसर विंगे) में चागे तर्क में आरंभित एवं परिश्रित (विग दृष्टा) देगा ।

(१०) सुनेर पर्वत की मंदर वृत्तिका नाम की सोरी पर श्रेष्ठ मिहामन पर बैठे हुए अपने आप को देगा ।



समुदायोपचारात् । सा चार्मा रात्रिका च अन्तिमरात्रिका तस्यां,
रात्रेऽवमाने इत्यर्थः ।

(आगमोदय ममिति द्वारा सं० १६५६ में प्रकाशित टाण्णिंग १०.
मृत् १४० पृष्ठ ४०१)

(५) अन्तिम रात्र्या—अन्तिम रात्रिका, अन्तिमा अन्तिम
भाग रूपा अवयवे समुदायोपचारात् सा चार्मा रात्रिका
चान्तिमरात्रिका । रात्रेऽवमाने इत्यर्थः ।

अर्थात्—अन्तिम भाग रूप जो रात्रि वह अन्तिम रात्रि है ।
यहाँ रात्रि के एक भाग को रात्रि गुच्छ में कहा गया है । इस
प्रकार अन्तिम भाग रूप रात्रि अर्थ निकलता है । अर्थात्
रात्रि के अवमान में ।

(अमिचानरात्रेन्द्र कोष प्रथम भाग पृष्ठ १०१)

(६) अन्तिम रात्रि—रात्रि नो छेड़ो (छेड़ो) भाग, पिछली रात्रि ।

(सं० १०० रत्नचन्द्रजी म० कृत अवमानरात्रि कोष प्रथम भाग पृष्ठ ३४)

(७) अन्तिम रात्र्यामि—श्रमण भगवन्त श्री महावीर छद्मस्था
ए छेड़ो रात्रि ना अन्ते ।

(वि० सं० १००४ में दत्त लिखित महा लम्बो म० गतर १६ पृ० ६)

(८) छे० छद्मस्थ, का० काल में, अं० अन्तिम रात्रि में, १०
ये, द० दम, महा० महास्थान, पा० देम कर, प० जागृत हुए ।

श्री श्रमण भगवन्त महावीर स्वामी छद्मस्थ अवस्था की
अन्तिम रात्रि में दम स्थानों को देम कर जागृत हुए ।

(नगरनी मृत् अमालस्य आरित्री कृत हिन्दी अनुवाद १४
१००४ २४ मंत्र ११००, वीर सं० २४४० में प्रकाशित)

६५.८—तद्वि दम

ज्ञान आदि के प्रतिबन्धक ज्ञानावरणोंय आदि कर्मों के दम,

क्षयोपशम या उपशम से आत्मा में ज्ञान आदि गुणों का प्रकट होना लब्धि है। इसके दस भेद हैं—

(१) ज्ञानलब्धि— ज्ञानावरणीय कर्म के क्षयादि से आत्मा में मतिज्ञानादि का प्रकट होना।

(२) दर्शन लब्धि— सम्यक्, मिथ्या या मिश्र श्रद्धान रूप आत्मा का परिणाम दर्शन लब्धि है।

(३) चारित्र लब्धि— चारित्रमोहनीय कर्म के क्षय, क्षयोपशम या उपशम से होने वाला आत्मा का परिणाम चारित्र लब्धि है।

(४) चारित्राचारित्र लब्धि— अप्रत्याख्यानवरणीय कर्म के क्षयोपशम से होने वाले आत्मा के देशविरति रूप परिणाम को चारित्राचारित्र लब्धि कहते हैं।

(५) दान लब्धि— दानान्तराय के क्षयादि से होने वाली लब्धि को दान लब्धि कहते हैं।

(६) लाभ लब्धि— लाभान्तराय के क्षयोपशम से होने वाली लब्धि।

(७) भोग लब्धि— भोगान्तराय के क्षयोपशम से होने वाली लब्धि भोग लब्धि है।

(८) उपभोग लब्धि— उपभोगान्तराय के क्षयोपशम से होने वाली लब्धि उपभोग लब्धि है।

(९) वीर्य लब्धि— वीर्यान्तराय के क्षयोपशम से होने वाली लब्धि वीर्य लब्धि है।

(१०) इन्द्रिय लब्धि— मतिज्ञानावरणीय के क्षयोपशम से प्राप्त दृष्ट भावेन्द्रियों का तथा जाति नामकर्म और पर्याप्त नामकर्म के उदय से द्रव्येन्द्रियों का होना। (भगवती शतक = उद्देशा २ सू० ३२०)

६५९— मुण्ड दस

जो गुण्डन अर्थात् अपनयन (हटाना) करे, किसी वस्तु को छोड़ उसे मुण्ड कहते हैं। इसके दस भेद हैं—

समृदायोपचारात् । सा चार्मा रात्रिका च अन्तिमरात्रिका तस्यां,
रात्रेस्त्वमाने इत्यर्थः ।

(आगमोदय समिति द्वारा सं० १६३६ में प्रकाशित टाण्णिंग १०.
मूत्र ३१० पृष्ठ ३०१)

(५) अन्तिम रात्र्या-अन्तिम रात्रिका, अन्तिमा अन्तिम
भाग रूपा अवयवे समृदायोपचारात् सा चार्मा रात्रिका
चान्तिमरात्रिका । रात्रेस्त्वमाने इत्यर्थः ।

अर्थात्-अन्तिम भाग रूप जो रात्रि वह अन्तिम रात्रि है ।
यहाँ रात्रि के एक भाग को रात्रि शब्द में कहा गया है । इस
प्रकार अन्तिम भाग रूप रात्रि अर्थ निवृत्तता है । अर्थात्
रात्रि के अवमान में ।

(अभिधानरात्रेन्द्र कोष प्रथम भाग पृष्ठ १०१)

(६) अन्तिम रात्र-रात्रि नो छेदो (छेदो) भाग, पिछली रात्र ।

(ग० पं० रत्नचन्द्रजी म० कृत अर्धभागकोष प्रथम भाग पृष्ठ ३१)

(७) अन्तिम रात्र्यंमि-श्रमण भगवन् श्री महावीर छद्मस्था
ए छेदो रात्रि ना अन्ते ।

(वि० सं० १-२४ में हस्त लिखित महा लघु म० शतक १६ पृ० ६)

(८) छ० छद्मस्थ, का० काल में, अं० अन्तिम रात्रि में, इ०
ये, द० दम, महा० महाम्वान, पा० देव कर, प० जागृत हुए ।
श्री श्रमण भगवन् महावीर स्वामी छद्मस्थ अवस्था की
अन्तिम रात्रि में दम स्वप्नों को देव कर जागृत हुए ।

(भगवता मूत्र अमोन्मय श्रुतिर्जी कृत सिद्धी अनुवाद ११
२००४-०४ मन् १६००, बीर सं० २४४० में प्रकाशित)

६५८-तद्वि दम

ज्ञान आदि के प्रतिबन्धक ज्ञानावरणोंय आदि कर्मों के रूप,

करने वाला और व्यवस्था तोड़ने वाले को दण्ड देने वाला ।

(६) गणस्थविर—गण की व्यवस्था करने वाला ।

(७) संघस्थविर—संघ की व्यवस्था करने वाला ।

(८) जातिस्थविर—जिस व्यक्ति की आयु साठ वर्ष से अधिक हो । इस को वयस्थविर भी कहते हैं ।

(९) श्रुतस्थविर—समवायांग आदि अङ्गों को जानने वाला ।

(१०) पर्यायस्थविर—तीस वर्ष से अधिक दीक्षा पर्याय वाला ।

(आयांग १० उ० ३ सूत्र ७६१)

६६१— श्रमणधर्म दस

मोक्ष की साधन रूप क्रियाओं के पालन करने को चारित्र्य धर्म कहते हैं । इसी का नाम श्रमणधर्म है । यद्यपि इसका नाम श्रमण अर्थात् साधु का धर्म है, फिर भी सभी के लिये जानने योग्य तथा आचरणीय है । धर्म के ये ही दस लक्षण माने जाते हैं । अर्जुन सम्प्रदाय भी धर्म के इन लक्षणों को मानते हैं । वे इस प्रकार हैं—

खंती मद्व अज्व, मुत्ती तवसंजमे अ बोधव्वे ।

सच्चं सोअं अकिंचणं च, वंभं च जइधम्मो ॥

(१) क्षमा— क्रोध पर विजय प्राप्त करना । क्रोध का कारण उपस्थित होने पर भी शान्ति रखना ।

(२) मार्दव— मान का त्याग करना । जाति, कुल, रूप, ऐश्वर्य तप, ज्ञान, लाभ और बल इन आठों में से किसी का मद न करना । मिथ्याभिमान को सर्वथा छोड़ देना ।

(३) आर्जव— कपटरहित होना । माया, दम्भ, ठगी आदि का सर्वथा त्याग करना ।

(४) मुक्ति— लोभ पर विजय प्राप्त करना । पौंड्रलिक वस्तुओं पर चिन्तुल आसक्ति न रखना ।

- (१) श्रोत्रेन्द्रियमुण्ड- श्रोत्रेन्द्रिय के विषयों में आनन्द का न्याग करने वाला ।
 (२) चक्षुर्गिन्द्रियमुण्ड- चक्षुर्गिन्द्रिय के विषयों में आनन्द का न्याग करने वाला ।
 (३) घ्राणेन्द्रियमुण्ड- घ्राणेन्द्रिय के विषयों में आनन्द का न्याग करने वाला ।
 (४) ग्मनेन्द्रियमुण्ड- ग्मनेन्द्रिय के विषयों में आनन्द का न्याग करने वाला ।
 (५) स्पर्शनेन्द्रियमुण्ड- स्पर्शनेन्द्रिय के विषयों में आनन्द का न्याग करने वाला ।
 (६) क्रोधमुण्ड-क्रोध छोड़ने वाला ।
 (७) मानमुण्ड-मान का न्याग करने वाला ।
 (८) मायामुण्ड-माया अर्थात् कपटाई छोड़ने वाला ।
 (९) लोभमुण्ड-लोभ का न्याग करने वाला ।
 (१०) मिर्मुण्ड-मिर् मूर्छाने वाला अर्थात् दीदा लेने वाला ।
 (दासार्ग १० २० ३ सूत्र १४६)

६६०-स्थविर दम

चतुर् माग में प्रवृत्त मनुष्य को जो मन्मार्ग में स्थिर करे उसे स्थविर कहते हैं । स्थविर दम प्रकार के होते हैं-

- (१) ग्रामस्थविर-गांव में व्यवस्था करने वाला वृद्धिमान तथा प्रभावशाली व्यक्ति जिसका चरम मर्मा मानते हों ।
 (२) नगरस्थविर-नगर में व्यवस्था करने वाला, दया का माननीय व्यक्ति ।
 (३) राष्ट्रस्थविर-राष्ट्र का माननीय तथा प्रभावशाली व्यक्ति ।
 (४) प्रजापतिस्थविर-प्रजापति अर्थात् धर्म रक्षण करने वाला ।
 (५) वृक्षस्थविर-वैश्विक अथवा मोक्षदा करने वाला ।

अचेल कल्प का अनुष्ठान प्रथम तथा अन्तिम तीर्थङ्कर के शासन में होता है, क्योंकि प्रथम तीर्थङ्कर के साधु ऋजुजड तथा अन्तिम तीर्थङ्कर के वक्रजड होते हैं अर्थात् पहले तीर्थङ्कर के साधु सरल और भद्रिक होने से दोषादोष का विचार नहीं कर सकते । अन्तिम तीर्थङ्कर के साधु वक्र होने से भगवान् की आज्ञा में गली निकालने की कोशिश करते रहते हैं । इस लिए इन दोनों के लिए स्पष्ट रूप से विधान किया जाता है ।

बीच के अर्थात् द्वितीय से लेकर तेईसवें तीर्थङ्करों के साधु ऋजुप्राज्ञ होते हैं । वे अधिक समझदार भी होते हैं और धर्म का पालन भी पूर्णरूप से करना चाहते हैं । वे दोष आदि का विचार स्वयं कर लेते हैं, इस लिए उनके लिए छूट है । वे अधिक मूल्य वाले तथा रंगीन वस्त्र भी ले सकते हैं, उनके लिए अचेल कल्प नहीं है ।

(२) औद्देशिक कल्प— साधु, साध्वी, याचक आदि को देने के लिए बनाया गया आहार औद्देशिक कहलाता है । औद्देशिक आहार के विषय में बताए गए आचार को औद्देशिक कल्प कहते हैं । औद्देशिक आहार के चार भेद हैं— (क) साधु या साध्वी आदि किसी विशेष का निर्देश बिना किए सामान्य रूप से संघ के लिए बनाया गया आहार । (ख) श्रमण या श्रमणियों के लिए बनाया गया आहार । (ग) उपाश्रय अर्थात् अमुक उपाश्रय में रहने वाले साधु तथा साध्वियों के लिए बनाया गया आहार । (घ) किसी व्यक्ति विशेष के लिए बनाया गया आहार ।

(क) यदि सामान्य रूप से संघ अथवा साधु, साध्वियों को उद्दिष्ट कर आहार बनाया जाता है तो वह प्रथम, मध्यम और अन्तिम किसी भी तीर्थङ्कर के साधु, साध्वियों को नहीं कल्पता ।

यदि प्रथम तीर्थङ्कर के संघ को उद्दिष्ट करके अर्थात् प्रथम

तीर्थंकर के संघ के लिए बनाया जाता है तो वह प्रथम और अन्तिम तीर्थंकर के संघ के लिए अकल्प्य है। बीच के बारह तीर्थंकरों के माधु, माध्वी उमें ले सकते हैं। यदि बीच के बारह तीर्थंकरों के संघ को उद्दिष्ट कर किया जाता है तो वह मर्मा के लिए अकल्प्य है। बीच में भी यदि द्मरं नीमरं आदि किमी खास तीर्थंकर के संघ को उद्दिष्ट किया जाता है तो प्रथम, अन्तिम और उद्दिष्ट अर्थान् जिमके निमित्त में बनाया हो उमें छोड़कर बाकी सब के लिए कल्प्य है। यदि अन्तिम तीर्थंकर के संघ को उद्दिष्ट किया जाय तो प्रथम और अन्तिम को छोड़ बाकी सब के लिए कल्प्य है।

(ख) प्रथम तीर्थंकर के माधु अथवा माध्वियों के लिए बनाया गया आहार प्रथम तथा अन्तिम तीर्थंकर के किमी माधु या माध्वी को नहीं कल्पता। बीच वालों को कल्पता है। मध्यम तीर्थंकर के माधु के लिए बनाया गया आहार मध्यम तीर्थंकरों की माध्वियों को कल्पता है। मध्यम तीर्थंकर के माधु, प्रथम तथा अन्तिम तीर्थंकर के माधु और माध्वियों को नहीं कल्पता। मध्यम में भी जिम तीर्थंकर के माधु या माध्वी को उद्दिष्ट करके बनाया गया है उमें छोड़ कर बाकी सब मध्यम तीर्थंकरों के माधु तथा माध्वियों को कल्पता है। अन्तिम तीर्थंकर के माधु अथवा माध्वियों के लिए बना हुआ आहार प्रथम और अन्तिम तीर्थंकरों के माधु, माध्वियों को नहीं कल्पता। बाकी सब बारह तीर्थंकरों के माधु, माध्वियों को कल्पता है। यदि मामान्य रूप से माधु, माध्वियों के लिए आहार बनाया जाय तो किमी को नहीं कल्पता। यदि मामान्य रूप से सिर्फ माधुओं के लिए बनाया जाय तो प्रथम और अन्तिम तीर्थंकर को छोड़ बाकी मध्यम तीर्थंकरों की माध्वियों को कल्पता है। इसी प्रकार

सामान्य रूप से साध्वियों के लिए बनाया गया प्रथम और अन्तिम को छोड़ कर बाकी साधुओं को कल्पता है ।

(ग) यदि सामान्य रूप से उपाश्रय को निमित्त करके बनाया जाय तो किसी को नहीं कल्पता । प्रथम तीर्थंकर के किसी उपाश्रय को उद्दिष्ट करके बनाया जाय तो प्रथम और अन्तिम को नहीं कल्पता । बीच वालों को कल्पता है । बीच वालों को सामान्य रूप से उद्दिष्ट किया जाय तो किसी को नहीं कल्पता । यदि किसी विशेष को उद्दिष्ट किया जाय तो उसे तथा प्रथम और अन्तिम तीर्थंकर के उपाश्रयों को छोड़ कर बाकी सब को कल्पता है । अन्तिम तीर्थंकर के उपाश्रय को उद्दिष्ट करके बनाया गया आहार प्रथम और अन्तिम तीर्थंकर के उपाश्रयों को नहीं कल्पता । बाकी को कल्पता है ।

(घ) प्रथम तीर्थंकर के किसी एक साधु को उद्दिष्ट करके बनाया गया आहार प्रथम और अन्तिम के किसी साधु को नहीं कल्पता । मध्यम तीर्थंकरों में सामान्य रूप से किसी एक साधु के लिए बनाया गया आहार किसी एक साधु के ले लेने पर दूसरे साधुओं को कल्पता है । नाम खोल कर किसी विशेष साधु के लिए बनाया गया मध्यम तीर्थंकरों के दूसरे साधुओं को कल्पता है ।

(३) शय्यातरपिण्ड कल्प— साधु, साध्वी जिस के सकान में उतरें उसे शय्यातर कहते हैं । शय्यातर से आहार आदि लेने के विषय में बताए गए आचार को शय्यातरपिण्ड कल्प कहते हैं । शय्यातर से आहार आदि न लेने चाहिए । यह कल्प प्रथम, मध्यम तथा अन्तिम सभी तीर्थंकरों के साधुओं के लिए है । शय्यातर का घर समीप होने से उसका आहारादि लेने में बहुत से दोषों की सम्भावना है ।

(४) राजपिण्ड कल्प— राजा या बड़े ठाकुर आदि का आहार

दीक्षा लें और एक माथ ही अव्ययनादि ममास करनें तो लोक यदि के अनुसार पहले पिता या गजा आदि को उपस्थापना दी जाती है । यदि पिता वर्गगृह में दो चार दिन का विलम्ब हो तो पुत्रादि को उपस्थापना देने में उनसे दिन टहर जाना चाहिए । यदि अधिक विलम्ब हो तो पिता से पूछ कर पुत्र को उपस्थापना दे देने की चाहिए । यदि पिता न माने तो कुछ दिन टहर जाना ही उचित है ।

जिमकी पहले उपस्थापना होगी वही ज्येष्ठ माना जायगा और बाद वालों का वन्दनीय होगा । पिता को पुत्र की वन्दना करने में चोम या मंकोच होने की सम्भावना है । यदि पिता पुत्र को ज्येष्ठ समझने में प्रसन्न हो तो पुत्र को पहले उपस्थापना दी जा सकती है ।

१. २) प्रतिक्रमण कल्प— किण्ण, हुण्ण, पापों की आलोचना प्रतिक्रमण कहलाता है । प्रथम तथा अन्तिम तीर्थङ्कर के मातृ के लिए यह स्थित कल्प है अर्थात् उन्हें प्रति दिन प्रातःकाल और मायंकाल प्रतिक्रमण अवश्य करना चाहिए । मध्यम तीर्थङ्करों के मातृओं के लिए कारण उपस्थित होने पर ही करने का विधान है । प्रति दिन बिना कारण के करने की आवश्यकता नहीं । प्रथम तथा अन्तिम तीर्थङ्कर के मातृओं को प्रमादवश अप्रान-पण में दोष लगने की सम्भावना है, इस लिए उन के लिए प्रतिक्रमण आवश्यक है । मध्यम तीर्थङ्करों के मातृ अप्रमादी होते हैं, इसलिए उन्हें बिना दोष लगे प्रतिक्रमण की आवश्यकता नहीं ।

३) मास कल्प— चतुर्मास या किमी दूसरे कारण के बिना एक मास में अधिक एक स्थान पर न टहरना मास कल्प है । एक स्थान पर अधिक दिन टहरने में नीचे लिखे दोष हैं—

एक घर में अधिक टहरने में स्थान में आमक्ति हो जाती

है। 'यह इस घर को छोड़ कर कहीं नहीं जाता' इस प्रकार लोग कहने लगते हैं, जिससे लघुता आती है। साधु के सब जगह विचरते रहने से सभी लोगों का उपकार होता है, सभी जगह धर्म का प्रचार होता है। एक जगह रहने से सब जगह धर्मप्रचार नहीं होता है। साधु के एक जगह रहने से उसे व्यवहार का ज्ञान नहीं हो सकता, इत्यादि। नीचे लिखे कारणों से साधु एक स्थान पर एक मास से अधिक ठहर सकता है।

(क) कालदोष— दुर्भिक्ष आदि का पड़े जाना। जिसमें दूसरी जगह जाने में आहार मिलना असंभव हो जाय।

(ख) क्षेत्रदोष— विहार करने पर ऐसे क्षेत्र में जाना पड़े जो मंत्र्य के लिए अनुकूल न हो।

(ग) द्रव्यदोष— दूसरे क्षेत्र के आहारादि शरीर के प्रतिकूल हों।

(घ) भावदोष— अशक्ति, अम्बास्थ, ज्ञानहानि आदि कारण उपस्थित होने पर।

मासकल्प प्रथम और अन्तिम तीर्थङ्कर के साधुओं के लिए ही है। बीच वालों के लिए नहीं है।

(१०) पर्युपणा कल्प— श्रावण के प्रारम्भ से कार्तिक शुक्ल पूर्णिमा तक चार महीने एक स्थान पर रहना पर्युपणा कल्प है। यह कल्प प्रथम और अन्तिम तीर्थङ्कर के साधुओं के लिए ही है। मध्यम तीर्थङ्करों के साधुओं के लिए नहीं है। किसी दोष के न लगने पर वे करोड़ पूर्व भी एक स्थान पर ठहर सकते हैं। दोष होने पर एक महीने में भी विहार कर सकते हैं।

महाविदेह क्षेत्र के साधुओं का कल्प भी बीच वाले तीर्थङ्कर के साधुओं मरीखा है।

उपर लिखे दस कल्प प्रथम तथा अन्तिम तीर्थङ्कर के साधुओं के लिए स्थित कल्प हैं अर्थात् अवश्य कर्तव्य हैं।

मध्यम तीर्थङ्कर के माधुओं के लिए नीचे लिखे छः अन-
वस्थित हैं अर्थात् आवश्यकता पड़ने पर ही किए जाते हैं। जैसे
(१) अचेलकल्प (२) आदेशिक कल्प (३) प्रतिक्रमण (४) राज-
पिण्ड (५) मास कल्प (६) पर्युषणा कल्प ।

इनके सिवाय नीचे लिखे चार स्थित कल्प अर्थात् अवश्य
कर्तव्य हैं ! जैसे— (१) शय्यांतरपिण्ड (२) कृतिकर्म (३) व्रत-
कल्प (४) ज्येष्ठ कल्प । (पंचांगक १७ गा० १ में ४०)

६६३— ग्रहणैषणा के दस दोष

भोजन आदि ग्रहण करने को ग्रहणैषणा कहते हैं । इसके
दस दोष हैं । माधु को उन्हें जान कर वर्जना चाहिए ।

मंकिय मक्खिय निक्खित्त ।

पिहिय साहरिय दायगुम्मीमि ॥

अपरिणय लित्त छड्ठिय ।

एमणदोमा दस हयंति ॥

(१) मंकिय (शंकित)— आहार में आवाकर्म आदि दोषों के
शङ्का होने पर भी उसे लेना शङ्कित दोष है ।

(२) मक्खिय (अचित्त)— देते समय आहार, चम्मच आदि
या हाथ आदि किसी अङ्ग का मचिन वस्तु में छू जाना (संयत्त
होना) अचित्त दोष है ।

इसके दो भेद हैं— मचित्त अचित्त और अनित्त अचित्त ।
मचित्त अचित्त तीन प्रकार का है— पृथ्वीकाय अचित्त, अन्धकाय
अचित्त और वनस्पतिकाय अचित्त । यदि देय वस्तु या हाथ
आदि मचित्त पृथ्वी में छू जायें तो पृथ्वीकाय अचित्त है ।
अन्धकाय अचित्त के चार भेद हैं— पुरःकर्म, पश्चात्कर्म, मिन्य
और उदकाट । दान देने में पड़ने माधु के निमित्त हाथ आदि
मचिन पानी में धोना पुरःकर्म है । दान देने के बाद धोना

पश्चात्कर्म है। देने समय हाथ या वर्तन थोड़े से गीले हों तो स्निग्ध दोष है। जल का सम्बन्ध स्पष्ट मालूम पड़ने पर उदकार दोष है। देने समय अगर हाथ आदि में थोड़ी देर पहले काटे हुए फलों का अंश लगा हो तो वनस्पतिकाय अचित्त दोष है।

अचित्त अचित्त दो तरह का है। गृहित और अगृहित। हाथ आदि या दी जाने वाली वस्तु में कोई घृणित वस्तु लगी हो तो वह गृहित है। घी आदि लगा हुआ हो तो वह अगृहित है। इनमें सचित्त अचित्त साधु के लिए सर्वथा अकल्प्य है। घृतादि वाला अगृहित अचित्त अचित्त कल्प्य है। घृणित वस्तु वाला गृहित अकल्प्य है।

(३) निष्पिक्त (निचित्त)— दी जाने वाली वस्तु सचित्त के ऊपर रखी हो तो उसे लेना निचित्त दोष है। इसके पृथ्वीकाय आदि छह भेद हैं।

(४) पिहित (पिहित)— देय वस्तु सचित्त के द्वारा ढकी हुई हो। इसके भी पृथ्वीकाय आदि छः भेद हैं।

(५) साहरिय— जिस वर्तन में अमृजती वस्तु पड़ी हो उस में से अमृजती वस्तु निकाल कर उसी वर्तन से आहार आदि देना।

(६) दायक— बालक आदि दान देने के अनधिकारी ने आहार आदि लेना दायक दोष है। अगर अधिकारी स्वयं बालक के हाथ से आहार आदि चहराना चाहे तो उसमें दोष नहीं है। पिंडनिर्युक्ति में ४० प्रकार के दायक दोष बताए हैं। वे इस प्रकार हैं—

बाले बुड्ढे मने उम्मने थेदिरे व जरिए य।

अंधिन्नए पगरिए आरुडे पाउयाहिं च ॥

हत्थिदुनियलपदे विवजिए चैव हत्थपाएहिं।

तेरासि गुच्चिणी बालपच्छ भुजंती भुसुत्तिती ॥

मज्जन्ती य दलन्ती कंडन्ती चैव तण् पीमन्ती ।
 पीजन्ती रुचन्ती कर्णन्ती पमदमार्णी य ॥
 झृक्कायवग्गइन्था ममण्डा निक्खिच्चिनु ने चैव ।
 ने चैवोगाहन्ती मंघट्टन्ती र्मन्ती य ॥
 मंमणेण य दब्बेण निनइन्था य निनमत्ता य ।
 उच्चरन्ती माहाग्गं व दिती य चोग्गियं ॥
 पाट्टुडियं च ट्ठवंती मपच्चवाया परं च उडिम्म ।
 आमोममत्तामोणेण दलन्ती वज्जगिज्जा ए ॥

(१) बाल— बालक के नाममङ्क और घर में अकेले होने पर उममें आहार लेना वर्जित है ।

(२) वृद्ध— जिसके मुँह में लाना आदि पड़ रही हो ।

(३) मन्त्र— गगन आदि पीया हुआ ।

(४) उन्मन्त्र— घमण्डा या पागल जो बाल या और किसी बीमारी में अपनी विचारशक्ति खो चुका हो ।

(५) वेपमान— जिसका शरीर कांप रहा हो ।

(६) ज्वग्नि— ज्वर रोग में पीड़ित ।

(७) अन्य— जिसकी नजर खली गई हो ।

(८) प्रगलित— गलित कृष्ट बाला ।

(९) आम्ह— गड़ाऊ या जूने आदि पहिना हुआ ।

(१०-११) वृद्ध— दृढकर्दी या बेहियों में धंसा हुआ । वैया इष्ट दायक जब मित्रा देना है तो देने और लेने बाने दोनों के दुःख होता है, इस कारण में आहार लेने की वर्जना है । दात की अगर देने में प्रसन्नता हो या मायु का ऐसा अभिप्रेत हो तो लेने में दोष नहीं है ।

हाथ आदि सुविधापूर्वक नहीं था मकने के कारण उन्मन्त्र अशुचि होने की भी आशङ्का है । अशुचिता में होने वाले

लोकनिन्दा से बचना भी ऐसे आहार को वर्जने का कारण है।

(१२) छिन्न—जिसके हाथ या पैर कटे हुए हों।

(१३) त्रैशिक—नपुंसक। नपुंसक से परिचय साधु के लिये वर्जित है। इसलिए उससे बार-बार भिक्षा नहीं लेनी चाहिए।

लोक निन्दा से बचने के लिए भी उससे भिक्षा लेना वर्जित है।

(१४) गुर्विणी—गर्भवती।

(१५) बालवन्सा—दूध पीते बच्चे वाली। छोटे बच्चों के लिए माता को हर वक्त सावधान रहना चाहिए। अगर वह बालक को जमीन या चारपाई आदि पर सुलाकर भिक्षा देने के लिए जाती है तो बिल्ली आदि से बालक को हानि पहुँचने का भय है। उस समय आहार वर्जने का यही कारण है।

(१६) भुञ्जाना—भोजन करती हुई। भोजन करते समय भिक्षा देने के लिए कच्चे पानी से हाथ धोने में हिंसा होती है। हाथ नहीं धोने पर जूटे हाथों से भिक्षा लेने में लोक निन्दा है। भोजन करते हुए से भिक्षा न लेने का यही कारण है।

(१७) घुसुलिनी—दही आदि बिलौती हुई। उस समय भिक्षा देने के लिए उठने में हाथ से दही टपकना रहता है। इससे नीचे चलती हुई कीड़ी आदि की हिंसा होने का भय है। इसी कारण से उस समय आहार लेना वर्जित है।

(१८) भर्जमाना—कड़ाही आदि में चने आदि भूनती हुई।

(१९) दलयन्ती—चूकी में गेहूँ आदि पीसती हुई।

(२०) कण्डयन्ती—ऊखली में धान आदि कुटती हुई।

(२१) पिपन्ती—शिला पर तिल, आमले आदि पीसती हुई।

(२२) पिजयन्ती—रूई आदि पीजती हुई।

(२३) रुश्चन्ती—चरखी (कपाम से चिनौले अलग करने की मशीन) द्वारा कपाम चेलती हुई।

- (२४) कृन्तन्ती—कानती हुई। मिट्टा देकर हाथ धोने के कारण।
- (२५) प्रमृद्नती— हाथों में रुई को पोली करती हुई। मिट्टा देकर हाथ धोने के कारण।
- (२६) पट्कायज्यग्रहस्ता— जिसके हाथ पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, वनस्पति या ग्रम जीवों में रुंधे हुए हों।
- (२७) निक्षिपन्ती— मायु के लिए उन जीवों को भूमि पर गिरा कर आहार देती हुई।
- (२८) अवगाहमाना— उन जीवों को पंखों में डटती हुई।
- (२९) संघट्टयन्ती— शरीर के दूसरे अङ्गों में उन को छूती हुई।
- (३०) आरम्भमाणा— पट्काय की विग्राहना करती हुई। कुदानी आदि में जमीन खोदना पृथ्वीकाय का आरम्भ है। स्नान करना, कपड़े धोना, वृक्ष, फल आदि मीचिना अप्काय का आरम्भ है। आग में फूँक मारना अग्नि और वायुकाय का आरम्भ है। मीचिन वायु में भरने हुए गोले आदि को इधर उधर फेंकने में भी वायुकाय का आरम्भ होता है। वनस्पति (लीलाती) काटना या धूप में सुखाना, मृग आदि घान धीनना वनस्पति काय का आरम्भ है। ग्रम जीवों की विग्राहना ग्रमकाय का आरम्भ है। इन में से कोई भी आरम्भ करने हुए में मिट्टा लेने में दोष है।
- (३१) निमग्नस्ता— जिसके हाथ दही आदि चिकनी वस्तु में भरें हों।
- (३२) निममात्रा— जिसका घर्तन चिकनी वस्तु में निम हो। इन दोनों में चिकनापन रहने में ऊपर के जीवों की हिंसा होने की सम्भावना है।
- (३३) उद्वर्तयन्ती— किसी थड़े मटके या घर्तन को उल्टा कर उनमें से कुछ देती हुई।
- (३४) माधारगदारी— बहुतों के अधिकार की वस्तु देती हुई।
- (३५) शीघ्रिदारी— जुराट हुई वस्तु को देती हुई।

(३६) प्राभृतिकां स्थापयन्ती— साधु को देने के लिए पहिले से ही आहारदि को बड़े वर्तन से निकाल कर छोटे वर्तन में अलग रखती हुई ।

(३७) सप्रत्यपाया— जिस देने वाली में किसी तरह के दोष की सम्भावना हो ।

(३८) अन्यार्थ स्थापितदात्री—विवक्षित साधु के अतिरिक्त किसी दूसरे साधु के लिए रखे हुए अशनादि को देने वाली ।

(३९) आभोगेन ददती— 'साधुओं को इस प्रकार का आहार नहीं कल्पता' यह जानकर भी दोष वाला आहार देती हुई ।

(४०) अनाभोगेन ददती— बिना जाने दोष वाला आहार बहराती हुई ।

इन चालीस में से प्रारम्भ के पच्चीस दायकों से आहार लेने की भजना है । अर्थात् अवसर देख कर उन से भी आहार लेना कल्पता है । बाकी पन्द्रह से आहार लेना साधु को बिल्कुल नहीं कल्पता ।

(७) उन्मिश्रे (उन्मिश्र)— अचित्त के साथ सचित्त या मिश्र मिला हुआ अथवा सचित्त या मिश्र के साथ अचित्त मिला हुआ आहार लेना उन्मिश्र दोष है ।

(८) अपरिणय (अपरिणत)— पूरे पाक के बाद वस्तु के निर्जीव होने से पहिले ही उसे ले लेना अथवा जिसमें शय्य पूरा परिणत (परगम्या) न हुआ हो ऐसी वस्तु लेना अपरिणत दोष है ।

(९) लिप्त (लिप्त)— हाथ या पात्र (भोजन परोसने का वर्तन) आदि में लेप करने वाली वस्तु को लिप्त कहते हैं । जैसे—दूध दही, घी आदि । लेप करने वाली वस्तु को लेना लिप्त दोष है । रसीली वस्तुओं के खाने से भोजन में गृदि बढ़ जाती है । दही आदि के हाथ या वर्तन आदि में लगे रहने पर उन्हें

धोना होना है, इसमें पश्चान्कर्म आदि दोष लगने हैं । इसलिये माधु को लेप करने वाली वस्तुएं न लेनी चाहिए । चना, चबूना आदि बिना लेप वाली वस्तुएं ही लेनी चाहिए । अधिक स्वाध्याय और अध्ययन आदि किसी काम काम में या किसी शक्ति न होने पर लेप वाले पदार्थ भी लेने कल्पने हैं । लेप वाली वस्तु लेने समय दाना का हाथ और पगोमने का बनेन संसृष्ट (जिस में दही आदि लगे हुए हों) अथवा असंसृष्ट होने हैं । इसी प्रकार दिया जाने वाला द्रव्य मावशेष (जो देने में कुछ बाकी बच गया हो) या निरवशेष [जो बाकी न बचा हो] दो प्रकार का होता है । इन में आठ भंगे होने हैं—

(क) संसृष्ट हाथ, संसृष्ट पात्र और मावशेष द्रव्य ।

(ख) संसृष्ट हाथ, संसृष्ट पात्र निरवशेष द्रव्य ।

(ग) संसृष्ट हाथ, असंसृष्ट पात्र, मावशेष द्रव्य ।

(घ) संसृष्ट हाथ, असंसृष्ट पात्र, निरवशेष द्रव्य ।

(ङ) असंसृष्ट हाथ, संसृष्ट पात्र, मावशेष द्रव्य ।

(च) असंसृष्ट हाथ, संसृष्ट पात्र, निरवशेष द्रव्य ।

(छ) असंसृष्ट हाथ, असंसृष्ट पात्र, मावशेष द्रव्य ।

(ज) असंसृष्ट हाथ, असंसृष्ट पात्र, निरवशेष द्रव्य ।

इन आठ भंगों में विषम अर्थात् प्रथम, तृतीय, पञ्चम और सप्तम भंगों में लेप वाले पदार्थ ग्रहण किए जा सकते हैं । सप्त अर्थात् द्वाभंग, चौबे, छठे और आठवें भंग में ग्रहण न करना चाहिए ।

तान्पर यह है कि हाथ और पात्र संसृष्ट हो या असंसृष्ट, पश्चान्कर्म अर्थात् हाथ आदि का धोना इस बात पर निर्भर नहीं है । पश्चान्कर्म का होना या न होना द्रव्य के न बचन या बचन पर आश्रित है । अर्थात् अगर दिया जाने वाला पदार्थ कुछ बाकी बच जाय तो हाथ या कुछछो आदि के निरवशेष होना पर

भी उन्हें नहीं धोया जाता, क्योंकि उसी द्रव्य को परोसने की फिर सम्भावना रहती है। यदि वह पदार्थ बाकी न बचे तो वर्तन वगैरह धो दिए जाते हैं इससे साधु को पश्चात्कर्म दोष लगने की सम्भावना रहती है। इसलिए ऐसे भांगे कल्पनीय कहे गए हैं जिन में दी जाने वाली वस्तु सावशेष (बची हुई) कही है। बाकी अकल्पनीय हैं। लिप्त दोष का मुख्य आधार वाद में होने वाला पश्चात्कर्म ही है। सारांश यह है कि लेप वाली वस्तु तभी कल्पनीय है जब वह लेने के बाद कुछ बाकी बची रहे। पूरी लेने पर ही पश्चात्कर्म दोष की सम्भावना है।

(प्रवचनसारोद्धार द्वार ६७ गाथा ४६= पृ० १४=)

(१०) छद्मिय (छर्दित)— जिसके छींटे नीचे पड़ रहे हों, ऐसा आहार लेना छर्दित दोष है। ऐसे आहार में नीचे चलते हुए कीड़ी आदि जीवों की हिंसा का डर है, इसीलिए साधु को अकल्पनीय है।

नोट— एपणा के दस दोष साधु और गृहस्थ दोनों के निमित्त से लगते हैं। (प्रवचनसारोद्धार द्वार ६७ गा. ४६= पृष्ठ १४=)

(विडनिर्युक्ति गा. ६२०) (धर्मसंग्रह अधि. ३ श्लोक २२ टीका पृष्ठ ४१)

६६४—समाचारी दस (पंचाशक १३ यां गाथा २६)

साधु के आचरण को अथवा भले आचरण को समाचारी कहते हैं। इसके दस भेद हैं—

(१) इच्छाकार— 'अगर आपकी इच्छा हो तो मैं अपना अमुक कार्य करूँ' अथवा 'आप चाहें तो मैं आपका यह कार्य करूँ ?' इस प्रकार पूछने को इच्छाकार कहते हैं। एक साधु दूसरे से किसी कार्य के लिए प्रार्थना करे अथवा दूसरा साधु स्वयं उस कार्य को करे तो उस में इच्छाकार कहना आवश्यक है। इस में किसी भी कार्य में किसी की जबरदस्ती नहीं रहती।

धोना होना है, इसमें पश्चान्कर्म आदि दोष लगते हैं। इसलिये माय को लेप करने वाली वस्तुएं न लेनी चाहिए। चना, चनेना आदि बिना लेप वाली वस्तुएं ही लेनी चाहिए। अधिक व्याख्या और अध्ययन आदि किसी काम में या बर्मा गति न होने पर लेप वाले पदार्थ भी लेने कल्पते हैं। लेप वाली वस्तु लेने समय दाना का हाथ और पगेमने का बतन संमृष्ट (जिस में दही आदि लगे हुए हों) अथवा असंमृष्ट होते हैं। इसी प्रकार दिया जलने वाला द्रव्य सावशेष (जो देने में कुछ बाकी बच गया हो) या निश्वशेष [जो बाकी न बचा हो] दो प्रकार का होता है। इन में आठ भंगे होते हैं—

- (क) संमृष्ट हाथ, संमृष्ट पात्र और सावशेष द्रव्य ।
- (ख) संमृष्ट हाथ, संमृष्ट पात्र निश्वशेष द्रव्य ।
- (ग) संमृष्ट हाथ, असंमृष्ट पात्र, सावशेष द्रव्य ।
- (घ) संमृष्ट हाथ, असंमृष्ट पात्र, निश्वशेष द्रव्य ।
- (ङ) असंमृष्ट हाथ, संमृष्ट पात्र, सावशेष द्रव्य ।
- (च) असंमृष्ट हाथ, संमृष्ट पात्र, निश्वशेष द्रव्य ।
- (छ) असंमृष्ट हाथ, असंमृष्ट पात्र, सावशेष द्रव्य ।
- (ज) असंमृष्ट हाथ, असंमृष्ट पात्र, निश्वशेष द्रव्य ।

इन आठ भंगों में विषम अर्थात् प्रथम, तृतीय, पञ्चम और सप्तम भंगों में लेप वाले पदार्थ ग्रहण किए जा सकते हैं। मन अर्थात् दुमरे, चौबे, छठे और आठवें भंग में ग्रहण न करना चाहिए।

नान्यथा यह है कि हाथ और पात्र संमृष्ट हों या असंमृष्ट, पश्चान्कर्म अर्थात् हाथ आदि का धोना इस बात पर निर्भर नहीं है। पश्चान्कर्म का होना या न होना द्रव्य के न बचने या बचने पर आश्रित है। अर्थात् अगर दिया जलने वाला पदार्थ कुछ बाकी बच जाय तो हाथ या कूदछी आदि के निश्व शेष

छोड़ कर किसी विशेष ज्ञान वाले गुरु का आश्रय लेना ।

(भगवती शतक २५ उद्देशा ७ सू० २०१) (ठाण्णंग १० उ० ३ सूत्र ७४६)
(उत्तराध्ययन अध्यायन २६ गा. २ से ७) (प्रवचनसारोद्धार द्वार १०१ गा. ७६०)

६६५—प्रव्रज्या दस

गृहस्थावास छोड़ कर साधु बनने को प्रव्रज्या कहते हैं ।

इसके दस कारण हैं—

(१) छन्द—अपनी या दूसरे की इच्छा से दीक्षा लेने को छन्द प्रव्रज्या कहते हैं । जैसे—गोविन्दवाचक या सुन्दरीनन्द ने अपनी इच्छा से तथा भवदत्त ने अपने भाई की इच्छा से दीक्षा ली ।

(२) रोष—रोष अर्थात् क्रोध से दीक्षा लेना । जैसे—शिवभूति ।

(३) परिधूना—दारिद्र्य अर्थात् गरीबी के कारण दीक्षा लेना । जैसे—लकड़हार ने दीक्षा ली थी ।

(४) स्वप्न—विशेष प्रकार का स्वप्न आने से दीक्षा लेना । जैसे—पुष्पचूला । अथवा स्वप्न में दीक्षा लेना ।

(५) प्रतिश्रुत—आवेश में आकर या वैसे ही प्रतिज्ञा कर लेने से दीक्षा लेना । जैसे—शालिभद्र के बहनोई धन्ना सेठ ने दीक्षा ली थी ।

(६) स्मारणादि—किसी के द्वारा कुछ कहने या कोई दृश्य देखने से जातिस्मरण ज्ञान होना और पूर्वभव को जान कर दीक्षा ले लेना । जैसे—भगवान् मल्लिनाथ के द्वारा पूर्वभव का स्मरण कराने पर प्रतिबुद्धि आदि छः राजाओं ने दीक्षा ली ।

(७) रोगिणिका—रोग के कारण संसार से विरक्ति हो जाने पर ली गई दीक्षा । जैसे—सनत्कुमार चक्रवर्ती की दीक्षा ।

(८) अनादर—किसी के द्वारा अपमानित होने पर ली गई दीक्षा । जैसे—नन्दिपेण । अथवा अनादत अर्थात् शिक्षित की दीक्षा ।

(९) देवसंज्ञा—देवों के द्वारा प्रतियोध देने पर ली गई दीक्षा । जैसे—भैतार्य मुनि ।

(१०) विमर्शप्रतिसेवना— शिष्य की परीक्षा आदि के लिए की गई संयम की विराधना ।

(भगवती शतक २५ उद्देशा ७) (ठाण्णं १० उ. ३ सूत्र ७३३)

६६७— आशंसा प्रयोग द्रम

आशंसा नाम है इच्छा । इस लोक या परलोकादि में सुख आदि की इच्छा करना या चक्रवर्ती आदि पदवी की इच्छा करना आशंसा प्रयोग है । इसके दस भेद हैं—

(१) इहलोकाशंसा प्रयोग—मेरी तपस्या आदि के फल स्वरूप में इसलोक में चक्रवर्ती राजा बनूँ, इस प्रकार की इच्छा करना इहलोकाशंसा प्रयोग है ।

(२) परलोकाशंसा प्रयोग—इस लोक में तपस्या आदि करने के फल स्वरूप में इन्द्र या इन्द्र सामानिक देव बनूँ, इस प्रकार परलोक में इन्द्रादि पद की इच्छा करना परलोकाशंसा प्रयोग है ।

(३) द्विधा लोकाशंसा प्रयोग—इस लोक में किये गये तपधरणादि के फल स्वरूप परलोक में मैं देवेन्द्र बनूँ और वहाँ से चव कर फिर इस लोक में चक्रवर्ती आदि बनूँ, इस प्रकार इहलोक और परलोक दोनों में इन्द्रादि पद की इच्छा करना द्विधालोकाशंसा प्रयोग है । इसे उभयलोकाशंसा प्रयोग भी कहते हैं ।

सामान्य रूप से ये तीन ही आशंसा प्रयोग हैं, किन्तु विशेष विवेका से सात भेद और होते हैं । वे इस प्रकार हैं—

(४) जीविताशंसा प्रयोग—सुख के आने पर ऐसी इच्छा करना कि मैं बहुत काल तक जीवित रहूँ, यह जीविताशंसा प्रयोग है ।

(५) मरणाशंसा प्रयोग—दुःख के आने पर ऐसी इच्छा करना कि मेरा शीघ्र ही मरण हो जाय और मैं इन दुःखों से छुटकारा पा जाऊँ, यह मरणाशंसा प्रयोग है ।

(६) कामाशंसा प्रयोग—मुझे मनोज्ञ शब्द और मनोज्ञ रूप

प्राप्त हो ऐसी विचार करना कामार्गमा प्रयोग है।

(७) भोगार्गमा प्रयोग—मनोज्ञ गन्ध, मनोज्ञ रस और मनोज्ञ स्पर्श की मुझे प्राप्ति हो ऐसी इच्छा करना भोगार्गमा प्रयोग है। शुद्ध और रूप काम कहलाते हैं। गन्ध, रस और स्पर्श ये भोग कहलाते हैं।

(८) लामार्गमा प्रयोग—अपने नपश्रवण आदि के फल स्वरूप यह इच्छा करना कि मुझे यज्ञ, कीर्ति और श्रुत आदि का लाभ हो, लामार्गमा प्रयोग कहलाता है।

(९) पूजार्गमा प्रयोग—इदलोक में मेरी मृग पूजा और प्रतिष्ठा हो ऐसी इच्छा करना पूजार्गमा प्रयोग है।

(१०) मन्कारार्गमा प्रयोग—इदलोक में वस्त्र, आभूषण आदि में मेरा आदर मन्कार हो ऐसी इच्छा करना मन्कारार्गमा प्रयोग है।

(टांग्गाग १० उ. ३ सूत्र ३४६)

३६८—उपघात दम

संयम के लिए माधु ढाग ग्रहण की जाने वाली अन्न, पान, वस्त्र, पात्र आदि वस्तुओं में किसी प्रकार का दोष होना उपघात कहलाता है। इसके दम में है—

(१) उद्गमोपघात—उद्गम के आचारकर्मादि मौलह दोषों में अन्न (आहार), पान तथा स्थान आदि की अनुदत्ता उद्गमोपघात कहलाती है। आचारकर्मादि मौलह दोष इसके पाँचवें भाग के मौलहवें बोल मंग्रह बोल नं० ८६५ में लिखे जायेंगे।

(२) उत्पादनोपघात—उत्पादना के धार्त्री आदि मौलह दोषों में आहार पानी आदि की अनुदत्ता उत्पादनोपघात कहलाती है। धार्त्र्यादि दोष मौलहवें बोल मंग्रह में लिखे जायेंगे।

(३) प्यगोपघात—प्यगा के गृह्णितादि दम दोषों में आहार पानी आदि की अनुदत्ता [अवन्दनीयता] प्यगोपघात कहलाती

हैं। एषणा के दस दोष चोल नं० ६६३ में दे दिए गए हैं।

(४) परिकर्मोपघात—वस्त्र, पात्रादि के छेदन और सीवन से होने वाली अशुद्धता परिकर्मोपघात कहलाती है। वस्त्र का परिकर्मोपघात इस प्रकार कहा गया है—

वस्त्र के फट जाने पर जो कारी लंगाई जाती है वह थेंगलिका कहलाती है। एक ही फटी हुई जगह पर क्रमशः तीन थेंगलिका के ऊपर चौथी थेंगलिका लगाना वस्त्र परिकर्म कहलाता है।

पात्र परिकर्मोपघात—ऐसा पात्र जो टेढ़ा मेढ़ा हो और अच्छी तरह साफ न किया जा सकता हो वह अपलक्षण पात्र कहा जाता है। ऐसे अपलक्षण पात्र तथा जिस पात्र में एक, दो, तीन या अधिक बन्ध (थेंगलिका) लगे हुए हों, ऐसे पात्र में अर्ध मास (पन्द्रह दिन) से अधिक दिनों तक भोजन करना पात्र-परिकर्मोपघात कहलाता है।

वसति परिकर्मोपघात—रहने के स्थान को वसति कहते हैं। साधु के लिए जिस स्थान में सफेदी कराई गई हो, अगर, चन्दन आदि का धूप देकर सुगन्धित किया गया हो, दीपक आदि से प्रकाशित किया गया हो, सिक्त (जल आदि का छिड़कना) किया गया हो, गोबर आदि से लीपा गया हो, ऐसा स्थान वसति परिकर्मोपघात कहलाता है।

(५) परिहरणोपघात—परिहरण नाम है सेवन करना, अर्थात् अकल्पनीय उपकरणादि को ग्रहण करना परिहरणोपघात कहलाता है। यथा—एकलघिहारी एवं स्वच्छान्दाचारी साधु से सेवित उपकरण सदोष माने जाते हैं। शास्त्रों में इस प्रकार की व्यवस्था है कि गन्ध से निकल कर यदि कोई साधु अकेला विचरता है और अपने चारित्र में दृढ़ रहता हुआ दूध, दही आदि विषयों में आसक्त नहीं होना ऐसा साधु यदि धर्मात्मा

समय के बाद भी वापिस गच्छ में आकर मिल जाता है तो उसके उपकरण दूषित नहीं माने जाते हैं, किन्तु गिरिजाचारी एकलविहारी जो विषय आदि में आसक्त है उसके वस्त्रादि दूषित माने जाते हैं।

स्थान (धमति) परिहरणोपघान—एक ही स्थान पर चातुर्मास में चार महीने और शेष काल में एक महीना टहरने के पश्चात् वह स्थान कालानिक्रान्त कहलाता है। अर्थात् निर्ग्रन्थ मातृ को चातुर्मास में चार मास और शेष काल में एक महीने में अधिक एक ही स्थान पर रहना नहीं कल्पता है। इसी प्रकार जिस स्थान या शहर और ग्राम में चातुर्मास किया है, उमी जगह दो चातुर्मास दूसरी जगह करने से पहिले वापिस चातुर्मास करना नहीं कल्पता है और शेष काल में जहाँ एक महीना टहरें हैं, उमी जगह (स्थान) पर दो महीने से पहले आना मातृ को नहीं कल्पता। यदि उपरोक्त मर्यादित समय में पहिले उमी स्थान पर फिर आ जायें तो उपस्थापना दोष होता है। इसका यह अभिप्राय है कि जिस जगह जितने समय तक मातृ टहरें हैं, उसमें दृगुना काल दूसरे गाँव में व्यतीत कर फिर उमी स्थान पर आ सकेंगे हैं। इसमें पहले उमी स्थान पर आना मातृ को नहीं कल्पता। इसमें पहिले आने पर स्थान परिहरणोपघान दोष लगता है।

आहार के विषय में चार भक्ष (भांगे) होते हैं। यथा—

(क) विधिगृहीत, विधिभुक्त (जो आहार विधिपूर्वक लाया गया हो और विधिपूर्वक ही भोगा गया हो)।

(ख) विधिगृहीत, अविधिभुक्त।

(ग) अविधिगृहीत, विधिभुक्त।

(घ) अविधिगृहीत, अविधिभुक्त।

इन चारों भक्षों में प्रथम भक्ष ही शुद्ध है। आंग के तीनो

भङ्ग अशुद्ध हैं। इन तीनों भङ्गों से किया गया आहार आहार-परिहरणोपघात कहलाता है।

(६) ज्ञानोपघात—ज्ञान सीखने में प्रमाद करना ज्ञानोपघात है।

(७) दर्शनोपघात—दर्शन (समकित) में शंका, कांक्षा, विचिकित्सा करना दर्शनोपघात कहलाता है। शंकादि से समकित मलीन हो जाती है। शंकादि समकित के पाँच दूषण हैं। इनकी विस्तृत व्याख्या इसके प्रथम भाग बोल नं० २=५ में दे दी गई है।

(८) चारित्र्योपघात—आठ प्रवचन माता अर्थात् पाँच समिति और तीन गुप्ति में किसी प्रकार का दोष लगाने से संयम रूप चारित्र्य का उपघात होता है। अतः यह चारित्र्योपघात कहलाता है।

(९) अचियत्तोपघात—(अप्रीतिकोपघात) गुरु आदि में पूज्य भाव न रखना तथा उनकी चिनय भक्ति न करना अचियत्तोपघात (अप्रीतिकोपघात) कहलाता है।

(१०) संरक्षणोपघात—परिग्रह से निवृत्त साधु को वस्त्र, पात्र तथा शरीरादि में मूर्च्छा (ममत्व) भाव रखना संरक्षणोपघात कहलाता है।

(टाण्णंग १० ३. ३ सूत्र ७३=)

६६९—विशुद्धि दस

संयम में किसी प्रकार का दोष न लगाना विशुद्धि है। उपरोक्त दोषों के लगने से जितने प्रकार का उपघात बताया गया है, दोष रहित होने से उतने ही प्रकार की विशुद्धि है। उसके नाम इस प्रकार हैं—(१) उद्गम विशुद्धि (२) उत्पादना विशुद्धि (३) एषणा विशुद्धि (४) परिकर्म विशुद्धि (५) परिहरणा विशुद्धि (६) ज्ञान विशुद्धि (७) दर्शन विशुद्धि, (८) चारित्र्य विशुद्धि (९) अचियत्त विशुद्धि (१०) संरक्षण विशुद्धि। इनका स्वरूप उपघात से उल्टा समझना चाहिए। (टाण्णंग १० ३. ३ सूत्र ७३=)

६७०—आलोचना करने योग्य साधु के दस गुण

दस गुणों से युक्त अनगार अपने दोषों की आलोचना करने योग्य होता है । ये दस प्रकार हैं—

- (१) जाति सम्पन्न—उत्तम जाति वाला । उत्तम जाति वाला बुरा काम करता ही नहीं । अगर कभी उसमें भूल हो भी जाती है तो शुद्ध हृदय से आलोचना कर लेता है ।
- (२) कुल सम्पन्न—उत्तम कुल वाला । उत्तम कुल में पैदा हुआ व्यक्ति लिए हुए प्रायश्चित्त की अच्छी तरह में पूरा करता है ।
- (३) विनय सम्पन्न—विनयवान् । विनयवान् साधु बड़ों की बात मान कर हृदय से आलोचना कर लेता है ।
- (४) ज्ञान सम्पन्न—ज्ञानवान् । मोक्ष मार्ग की आराधना के लिए क्या करना चाहिए और क्या नहीं, इस बात को मनी प्रकार समझ कर वह आलोचना कर लेता है ।
- (५) दर्शन सम्पन्न—श्रद्धालु । भगवान् के वचनों पर श्रद्धा होने के कारण वह शास्त्रों में बताई हुई प्रायश्चित्त में होने वाली शुद्धि को मानता है और आलोचना कर लेता है ।
- (६) चाग्नि सम्पन्न—उत्तम चाग्नि वाला । अपने चाग्नि को शुद्ध रखने के लिए वह दोषों की आलोचना करता है ।
- (७) क्षान्त—बिमा वाला । किसी दोष के कारण गुरु में मर्मना या भटकार बर्गह मिलने पर वह क्रोध नहीं करता । अपना दोष स्वीकार करके आलोचना कर लेता है ।
- (८) दान्त—इन्द्रियों को यश में रखने वाला । इन्द्रियों के विषयों में अनामन्त व्यक्ति कटोर में कटोर प्रायश्चित्त को भी गौत्र स्वीकार कर लेता है । वह पापों की आलोचना भी शुद्ध

हृदय से करता है ।

(६) अमायी-कपट रहित । अपने पाप को बिना छिपाए खुले दिल से आलोचना करने वाला सरल व्यक्ति ।

(१०) अपश्चात्तापी-आलोचना लेने के बाद जो पश्चात्ताप न करे । (भगवती श. २५ उ. ७ सू. ७६६) (ठाण्णंग १० उ. ३ सू. ७३३)

६७१-आलोचना देने योग्य साधु के दस गुण

दस गुणों से युक्त साधु आलोचना देने योग्य होता है ।

‘आचारवान्’ आदि आठ गुण इसी भाग के आठवें बोल संग्रह बोल नं० ५७५ में दे दिये गए हैं ।

(६) प्रियधर्मा-जिस को धर्म प्यारा हो ।

(१०) दृढधर्मा-जो धर्म में दृढ़ हो ।

(भगवती शतक २५ उद्देशा ७ सू. ७६६) (ठाण्णंग १० उ. ३ सू. ७३३)

६७२-आलोचना के दस दोष

जानते या अजानते लगे हुए दोष को आचार्य या बड़े साधु के सामने निवेदन करके उसके लिए उचित प्रायश्चित्त लेना आलोचना है । आलोचना का शब्दार्थ है, अपने दोषों को अच्छी तरह देखना । आलोचना के दस दोष हैं । इन्हें छोड़ते हुए शुद्ध हृदय से आलोचना करनी चाहिए । वे इस प्रकार हैं-
आकंपयित्ता अणुमाणइत्ता, जं दिट्ठं वायरं च सुहुमं वा ॥

छत्रं महालुअयं, बहुजण अव्वत्त तप्सेवी ॥

(१) आकंपयित्ता-प्रसन्न होने पर गुरु थोड़ा प्रायश्चित्त देगे यह सोच कर उन्हें सेवा आदि से प्रसन्न करके फिर उनके पास दोषों की आलोचना करना ।

(२) अणुमाणइत्ता-बिल्कुल छोटा अपराध बताने से आचार्य थोड़ा दण्ड देगे यह सोच कर अपने अपराध को बहुत छोटा करके बताना अणुमाणइत्ता दोष है ।

(३) दिट्ठं—जिस अपराध को आचार्य वर्गरह ने दंड दिया हो, उसी की आलोचना करना ।

(४) वायरं—मिर्क बड़े बड़े अपराधों की आलोचना करना ।

(५) सुहुमं—जो अपने छोटे छोटे अपराधों की भी आलोचना कर लेता है वह बड़े अपराधों को कैसे छोड़ सकता है, यह विश्राम उत्पन्न कराने के लिए मिर्क छोटे छोटे पापों की आलोचना करना ।

(६) छिन्नं—अधिक लज्जा के कारण प्रच्छन्न अर्थात् जहाँ कोई न सुन रहा हो, ऐसी जगह आलोचना करना ।

(७) मदानुश्रयं—दूसरों को सुनाने के लिए जोर जोर में बोल कर आलोचना करना ।

(८) बहुजग—एक ही अतिचार की बहुत से गुरुओं के पास आलोचना करना ।

(९) अच्यव—अर्गांतार्य अर्थात् जिस माघु को किसी अतिचार के लिए कैसा प्रायश्चित्त दिया जाता है, इसका पूरा ज्ञान नहीं है, उसके सामने आलोचना करना ।

(१०) तप्पेवी—जिस दोष की आलोचना करनी हो, उसी दोष को मेघन करने वाले आचार्य के पास आलोचना करना ।

(भगवतां शतह २४ ३० ७ सू० ७६६) (टाण्ण १० ३० ३ सू० ७३३)

६७३—प्रायश्चित्त दम

अतिचार की विगुटि के लिए आलोचना करना या उस के लिए गुरु के कहे अनुसार तपस्या आदि करना प्रायश्चित्त है । इसके दम भेद हैं—

(१) आलोचनार्ह—मंथम में लगे हुए दोष को गुरु के समक्ष स्पष्ट धरनों में मंगलता पूर्वक प्रकट करना आलोचना है । जो प्रायश्चित्त (अपराध) आलोचना माघ में शुद्ध हो जाय उस

आलोचनार्ह या आलोचना प्रायश्चित्त कहते हैं ।

(२) प्रतिक्रमणार्ह—प्रतिक्रमण के योग्य । प्रतिक्रमण अर्थात् दोष से पीछे हटना और भविष्य में न करने के लिए 'मिच्छामि दुक्कडं' कहना । जो प्रायश्चित्त सिर्फ प्रतिक्रमण से शुद्ध हो जाय गुरु के समीप कह कर आलोचना करने की भी आवश्यकता न पड़े उसे प्रतिक्रमणार्ह कहते हैं ।

(३) तदुभयार्ह—आलोचना और प्रतिक्रमण दोनों के योग्य ! जो प्रायश्चित्त दोनों से शुद्ध हो । इसे मिश्रप्रायश्चित्त भी कहते हैं ।

(४) विवेकार्ह—अशुद्ध भक्तादि के त्यागन योग्य । जो प्रायश्चित्त आधाकर्म आदि आहार का विवेक अर्थात् त्याग करने से शुद्ध हो जाय उसे विवेकार्ह कहते हैं ।

(५) व्युत्सर्गार्ह—कायोत्सर्ग के योग्य । शरीर के व्यापार को रोक कर ध्येय वस्तु में उपयोग लगाने से जिस प्रायश्चित्त की शुद्धि होती है उसे व्युत्सर्गार्ह कहते हैं ।

(६) तपार्ह—जिस प्रायश्चित्त की शुद्धि तप से हो ।

(७) छेदार्ह—दीक्षा पर्याय छेद के योग्य । जो प्रायश्चित्त दीक्षा पर्याय का छेद करने पर शुद्ध हो ।

(८) मूलार्ह—मूल अर्थात् दुवारा संयम लेने से शुद्ध होने योग्य । ऐसा प्रायश्चित्त जिसके करने पर साधु को एक बार लिया हुआ संयम छोड़ कर दुवारा दीक्षा लेनी पड़े ।

नोट—छेदार्ह में चार महीने, छः महीने या कुछ समय की दीक्षा कम कर दी जाती है । ऐसा होने पर दोषी साधु उन सब साधुओं को वन्दना करता है, जिनसे पहले दीक्षित होने पर भी पर्याय कम कर देने से वह छोटा हो गया है । मूलार्ह में उसका संयम बिल्कुल नहीं गिना जाता । दोषी को दुवारा दीक्षा लेनी पड़ती है और अपने से पहले दीक्षित सभी साधुओं को

वन्दना करना पड़ती है ।

(८) अनवस्थाप्याह—तप के बाद द्वाग दीक्षा देने के योग्य । जब तक अमुक प्रकार का विशेष तप न करें, उसे मंथम या दीक्षा नहीं दी जा सकती । तप के बाद द्वाग दीक्षा लेने पर ही जिस प्रायश्चित्त की शुद्धि हो ।

(१०) पागंचिकाह—गच्छ में बाहर करने योग्य । जिस प्रायश्चित्त में माधु को मंथ से निकाल दिया जाय ।

माधु या गनी आदि का शील भंग करने पर यह प्रायश्चित्त दिया जाता है । यह महापराक्रम वाले आचार्य को ही दिया जाता है । इसकी शुद्धि के लिए छः महीने में लेकर बाहर रफ़ तक गच्छ छोड़ कर जिनकण्ठी की तरह कटोर तपस्या करना पड़ती है । उपाध्याय के लिए नवें प्रायश्चित्त तक का विधान है । सामान्य माधु के लिए मूल प्रायश्चित्त अर्थात् आठवें तक का ।

जहाँ तक चौदह पूर्वधारी थीर पहले मंदनन वाले होते हैं, वही तक दसों प्रायश्चित्त रहते हैं । उनका विच्छेद होने के बाद मूलार्ह तक आठ ही प्रायश्चित्त होते हैं ।

(भगवतो शतक २४ २० ३ सू० ३६६) (टात्पाग १० २० ३ सू० ३३३)

६७४— चित्त समाधि के दस स्थान

तपस्या तथा धर्म चिन्ता करने हुए कर्मों का पटा इन्दा यह ज्ञान में चित्त में होने वाले विशुद्ध ज्ञानन्त को चित्त समाधि कहते हैं । चित्त समाधि के कारणों को स्थान कहा जाता है । इसके दस भेद हैं—

१ । जिस के चित्त में पहले धर्म की भावना नहीं थी, उसने धर्म भावना आज्ञान पर चित्त में उद्भूत होता है ।

२ । पहले कर्मा नहीं देखे हुए शुभ स्वप्न के आन पर ।

३ । ज्ञानि स्मरण वर्गाह ज्ञान उत्पन्न होने पर अपने पर

भवों को देख लेने से ।

(४) अकस्मात् किसी देव का दर्शन होने पर उसकी ऋद्धि कान्ति और अनुभाव वगैरह देखने पर ।

(५) नए उत्पन्न अवधिज्ञान से लोक के स्वरूप को जान लेने पर ।

(६) नए उत्पन्न अवधिदर्शन से लोक को देखने पर ।

(७) नए उत्पन्न मनः पर्ययज्ञान से अढ़ाई द्वीप में रहें हुए संज्ञी जीवों के मनोभावों को जान लेने पर ।

(८) नवीन उत्पन्न केवलज्ञान से सम्पूर्ण लोकालोक को जान लेने पर ।

(९) नवीन उत्पन्न केवलदर्शन से सम्पूर्ण लोकालोक को देख लेने पर ।

(१०) केवलज्ञान, केवलदर्शन सहित मृत्यु होने से सब दुःख तथा जन्म मरण के बन्धन छूट जाने पर ।

(दशा श्रुतलक्षण दशा ५) (सनवायांग १०)

६७५—बल दम

पाँच इन्द्रियों के पाँच बल कहे गये हैं । यथा— (१) स्पर्श-नेन्द्रिय बल (२) रसनेन्द्रिय बल (३) घ्राणेन्द्रिय बल (४) चक्षुरिन्द्रिय बल (५) श्रोत्रेन्द्रिय बल । इन पाँच इन्द्रियों को बल इसलिए माना गया है क्योंकि ये अपने अपने अर्थ (विषय) को ग्रहण करने में समर्थ हैं ।

(६) ज्ञान बल— ज्ञान अतीत, अनागत और वर्तमान काल के पदार्थ को जानता है । अथवा ज्ञान से ही चारित्र्य की आराधना भली प्रकार हो सकती है, इसलिए ज्ञान को बल कहा गया है ।

(७) दर्शन बल— अतीन्द्रिय एवं युक्ति से अगम्य पदार्थों को विषय करने के कारण दर्शन बल कहा गया है ।

(८) चारित्र्य बल— चारित्र्य के द्वारा आत्मा सम्पूर्ण गंगों का स्नात

कर अनन्त, अव्याबाध, ऐकान्तिक और आत्यन्तिक आन्मीप आनन्द का अनुभव करता है। अतः चारित्र को भी बल कहा गया है।

(९) तप बल— तप के द्वारा आत्मा अनेक भवों में उपाजित अनेक दुःखों के कारणभूत अष्ट कर्मों की निकाचित कर्मप्रणियों को भी क्षय कर डालता है। अतः तप भी बल माना गया है।

(१०) धीर्य बल— जिससे गमनागमनादि विचित्र क्रियाएँ की जाती हैं, एवं जिसके प्रयोग में सम्पूर्ण, निराबाध सुख की प्राप्ति हो जाती है उसे धीर्य बल कहते हैं।

(टाण्णंग १० ३० इ मूत्र ३४०)

६७६— स्थण्डिल के दस विशेषण

मल, मूत्र आदि न्याय्य वस्तुएँ जहाँ लगायी जायें उसे स्थण्डिल कहते हैं। नीचे लिखे दस विशेषणों में युक्त स्थण्डिल में ही माधु को मल मूत्र आदि परटना कल्पता है।

(१) जहाँ न कोई आता जाता हो न किसी की दृष्टि पड़ती हो।

(२) जिस स्थान का उपयोग करने में दूसरों को किसी प्रकार का कष्ट या हानि न हो, अर्थात् जो स्थान निरापद हो।

(३) जो स्थान समतल हो, अर्थात् ऊँचा नीचा न हो।

(४) जहाँ घाम या पछे न हों।

(५) जो स्थान रींटी, कृन्धु आदि जीवों में रहित हो।

(६) जो स्थान बहुत मँकड़ा न हो, विम्बृत हो।

(७) जिसके नीचे की भूमि अचिन्त हो।

(८) अपने रहने के स्थान में दूर हो।

(९) जहाँ चढ़े आदि के चिल न हों।

(१०) जहाँ प्राणी अथवा बीज देने हुए न हों।

(उल्लासध्यान अध्यायन २४ माथा १६-१८)

६७७-पुत्र के दस प्रकार

जो पिता, पितामह आदि की अर्थात् अपने वंश की मर्यादा का पालन करे उसे पुत्र कहते हैं। पुत्र के दस प्रकार हैं-

(१) आत्मज-अपनी स्त्री से उत्पन्न हुआ पुत्र आत्मज कहलाता है। जैसे-भरत चक्रवर्ती का पुत्र आदित्यशश।

(२) क्षेत्रज-सन्तानोत्पत्ति के लिए स्त्री क्षेत्र रूप मानी गई है। अतः उसकी अपेक्षा से पुत्र को क्षेत्रज भी कहते हैं। जैसे-पाण्डुराजा की पत्नी कुन्ती के पुत्र कौन्तेय (युधिष्ठिर) आदि।

(३) दत्तक-जो दूसरे को दे दिया जाय वह दत्तक कहलाता है। जो वास्तव में उसका पुत्र नहीं किन्तु पुत्र के समान हो वह दत्तक पुत्र है। लोकभाषा में इसको गोद लिया हुआ पुत्र कहते हैं। जैसे-बाहुबली के अनिलवेग पुत्र दत्तक पुत्र कहा जाता है।

(४) विनयित-अपने पास रख कर जिसको शिक्षा अर्थात् अक्षर ज्ञान और धार्मिक शिक्षा दी जाय वह पुत्र विनयित पुत्र कहलाता है।

(५) औरस-जिस बच्चे पर अपने पुत्र के समान स्नेह (प्रेम-भाव) उत्पन्न हो गया है अथवा जिस बच्चे को किसी व्यक्ति पर अपने पिता के समान स्नेह पैदा हो गया है, वह बच्चा औरस पुत्र कहलाता है।

(६) मौखर-जो पुरुष किसी व्यक्ति की चापलूसी और खुशामद करके अपने आप को उसका पुत्र बनलाता है वह मौखर पुत्र कहलाता है।

(७) शौंडीर-युद्ध के अन्दर कोई शूरवीर पुरुष दूसरे किसी वीर पुरुष को अपने अधीन कर ले और फिर वह अधीन किया हुआ पुरुष अपने आपको उसका पुत्र मानने लग जाय तो

वह गौंडीर पुत्र कहलाता है। जैसे—कृष्णायमाना कथा के अन्दर महेन्द्रमिह नाम के राजपुत्र की कथा आती है।

उपरोक्त जो पुत्र के मान भेद बताए गए हैं वे किसी अपेक्षा में अर्थात् उस उस प्रकार के गुणों की अपेक्षा में ये मानों भेद 'आन्मज' के ही बन जाते हैं। जैसे कि माता की अपेक्षा में क्षेत्रज कहलाता है। वास्तव में तो वह आन्मज ही है। दत्तक पुत्र तो आन्मज ही है किन्तु वह अपने परिवार में दूसरे व्यक्ति के गोद दे दिया गया है, इस लिए दत्तक कहलाता है। इसी तरह विनयित, आग्म, मांगुर और गौंडीर भी उस उस प्रकार के गुणों की अपेक्षा में आन्मज पुत्र के ही भेद हैं। यथा—विनयित अर्थात् पण्डित अमरकुमार के समान। आग्म—अग्न बल को कहते हैं। बलगाली पुत्र आग्म कहलाता है, यथा बाहुबली। मृग्य अर्थात् बाधालु पुत्र को मांगुर कहते हैं। गौण्डीर अर्थात् गुरवीर या गर्वित (अभिमानी) जो हो उसे गौण्डीर पुत्र कहते हैं, यथा—वासुदेव।

इस प्रकार भिन्न भिन्न गुणों की अपेक्षा में आन्मज पुत्र के ही ये मान भेद हो जाते हैं।

(८) मंत्रद्वित—मोक्षण आदि ढंकर जिनमें पाला पोना हो उसे मंत्रद्वित पुत्र कहते हैं। जैसे अनाथ बच्चे आदि।

(९) उपपाचित—देवता आदि की आराधना करने में जो पुर उत्पन्न हो उसे उपपाचित पुत्र कहते हैं, अथवा अवसात सेवा को कहते हैं। सेवा करना ही त्रिमूर्ति के जीवन का उद्देश्य है उसे अवपातिक पुत्र या सेवक पुत्र कहते हैं।

(१०) अन्नवर्मा—जो अपने मर्मात् रहें उसे अन्नवर्मा कहते हैं। धर्म उपार्जन के लिए या धर्मसंयुक्त अपने संयमों जीवन का निर्वाह करने के लिए जो धर्मगुरु के मर्मात् रहें उसे धर्म-

न्तेवासी [शिष्य] कहते हैं। शिष्य भी धर्मशिक्षा की अपेक्षा से अन्तेवासी पुत्र कहलाता है। (टाण्णंग. १० उ० ३ सू० ७६२)

६७८—अवस्था दस

कालकृत शरीर की दशा को अवस्था कहते हैं। यहाँ पर सौ वर्ष की आयु मान कर ये दस अवस्थाएँ बतलाई गई हैं। दस दस वर्ष की एक एक अवस्था मानी गई है। इससे अधिक आयु वाले पुरुष की अथवा पूर्व कोटि की आयु वाले पुरुष के भी ये दस अवस्थाएँ ही होती हैं, किन्तु उसमें दस वर्ष का परिमाण नहीं माना जाता है, क्योंकि पूर्व कोटि की आयु वाले पुरुष के सौ वर्ष तो कुमारावस्था में ही निकल जाते हैं। अतः उन की आयु का परिमाण भिन्न माना गया है किन्तु उनके भी आयु के परिमाण के दस विभागानुसार दस अवस्थाएँ ही होती हैं। उनका स्वरूप इस प्रकार है—

(१) बाल अवस्था—उत्पन्न होने से लेकर दस वर्ष तक का प्राणी बाल कहलाता है। इसको सुख दुःखादि का अथवा सांसारिक दुःखों का विशेष ज्ञान नहीं होता। अतः यह बाल अवस्था कहलाती है।

(२) क्रीड़ा—यह द्वितीय अवस्था क्रीड़ाप्रधान है अर्थात् इस अवस्था को प्राप्त कर प्राणी अनेक प्रकार की क्रीड़ा करता है किन्तु काम भोगादि विषयों की तरफ उसकी तीव्र बुद्धि नहीं होती।

(३) मन्द अवस्था—विशिष्ट बल बुद्धि के कार्यों में असमर्थ किन्तु भोगोपभोग की अनुभूति जिस दशा में होती है उसे मन्द अवस्था कहते हैं। इसका स्वरूप इस प्रकार बतलाया गया है कि क्रमशः इस अवस्था को प्राप्त होकर पुरुष अपने घर में विद्यमान भोगोपभोग की सामग्री को भोगने में होता है किन्तु नये भोगादि को उपार्जन करने में

(६) लवण समुद्र में बड़े बड़े पानाल कलश हैं और उनका पानी ऊपर उछलता रहता है । जिनमें पड़ा हुआ जीव बाहर निकल नहीं सकता । इसी प्रकार संसार रूप समुद्र में कोंच मान माया लोभ चार कषाय रूप मदान पानाल कलश हैं । उनमें महस्र मय रूपी पानी भरा हुआ है । अपरिमित इच्छा, आशा, नृष्णा एवं क्लृप्तता रूपी मदान वायुवेग से बुलबुल हुआ बड़ा पानी उछलता रहता है । इस कषाय की चौकड़ी रूप कनगों में पड़े हुए जीव के लिए संसार समुद्र निर्गुण अति दुष्कर है ।

(७) लवण समुद्र में अनेक दृष्ट हिंसक प्राणी महाभगर तथा अनेक मच्छ कच्छ रहते हैं । संसार रूप समुद्र में अज्ञान और पापघट मन रूप अनेक मच्छ कच्छ हैं । संसार के प्राणी शोक रूपी बड़बानल में मदा जलते रहते हैं । पाँच इन्द्रियों के अनिग्रह (वश में न रहना) महाभगर हैं ।

(८) लवण समुद्र के जल में बहुत मंथर पड़ते हैं । संसार रूप समुद्र में प्रचुर आशा नृष्णा रूप स्वेत वर्ग के फल से युक्त महाभौह से आवृत काया की चपलता और मन को व्याकुलता रूप पानी के अन्दर विषय भोग रूपी मंथर पड़ते हैं । इनमें फंसे हुए प्राणी के लिए संसार समुद्र निर्गुण अन्यन्त दुष्कर ही जाता है ।

(९) लवण समुद्र में गंघ मीप आदि बहुत हैं । इसी प्रकार संसार रूप समुद्र में कृगुरु, कृदेव और कृयमे (कृगाम) रूप गंघ मीप बहुत हैं ।

(१०) लवण समुद्र में जल का थोड़ा और प्रवाह मार्ग है । संसार रूप समुद्र में आने, भय, विषाद, शोक तथा बनेन और कदाग्रह रूप मदान थोड़ा प्रवाह है और देवता, मनुष्य, त्रिपक्ष और नरक गति में गमन रूप बरु गति वाली बने है ।

उपरोक्त कारणों से लवण समुद्र का निर्गुण अन्यन्त दुष्कर है,

किन्तु शुभ पुण्योदय से और देवता की सहायता एवं रत्नादि के प्रकाश से कोई कोई व्यक्ति लवण समुद्र को तिरने में समर्थ हो सकता है। इसी प्रकार सद्गुरु के उपदेश से तथा सिद्धान्त की वाणी का श्रवण कर सम्यग् ज्ञान, दर्शन, चारित्र रूप रत्नत्रय के प्रकाश से कोई कोई भव्य प्राणी (भावित्तात्मा) संसार समुद्र को तिरने में समर्थ होता है। अतः मुमुक्षु आत्माओं को सद्गुरु द्वारा सूत्र सिद्धान्त की वाणी का श्रवण कर सम्यग् ज्ञान दर्शन चारित्र रूप रत्नत्रय की प्राप्ति के लिए निरन्तर उद्यम करने रहना चाहिए। (प्रवचनसार तीसरा अध्याय सू० ११)

(उववाई सूत्र अधिकार १ समवसरण सू० २१)

६८०—मनुष्य भव की दुर्लभता के दस दृष्टान्त

संसार में बारह बातें दुर्लभ हैं। वे बारहवें बोल में लिखी जाएंगी। उन में पहला मनुष्य भव है। इसकी दुर्लभता बताने के लिए दस दृष्टान्त दिए गए हैं। वे इस प्रकार हैं—

(१) किसी एक दरिद्री पर चक्रवर्ती राजा प्रसन्न हो गया। उसने उसे यथेष्ट पदार्थ माँगने के लिए कहा। उस दरिद्री ने कहा कि मुझे यह वरदान दीजिए कि आपके राज्य में मुझे प्रतिदिन प्रत्येक घर में भोजन करा दिया जाय और जब इस तरह बारी बारी से जीमते हुए सारा राज्य समाप्त कर लूँगा तब फिर वापिस आपके घर जीमूँगा। राजा ने उसे ऐसा ही वरदान दे दिया। इस प्रकार जीमते हुए सारे भरतवर्ष के घरों में बारी बारी से जीम कर चक्रवर्ती राजा के यहाँ जीमने की वापिस बारी आना बहुत मुश्किल है, किन्तु ऐसा करते हुए सम्भव है दैवयोग से वापिस बारी आ भी जाय। परन्तु प्राप्त हुए मनुष्य भव को जो व्यक्ति व्यर्थ गंवा देता है, उसको पुनः मनुष्य भव मिलना बहुत मुश्किल है।

(२) जिस प्रकार देवाधिष्ठित पाशों में खिलने वाला पृथ्वी सामान्य पाशों द्वारा खिलने वाले पृथ्वी द्वारा जीता जाना मुश्किल है । यदि कदाचित् किसी भी तरह वह जीता भी जाय किन्तु व्यर्थ गंधाया हुआ मनुष्य भव फिर मिलना बहुत मुश्किल है ।

(३) मारं वरत क्षेत्र के गेहूँ, जौ, मक्की, चाजरा आदि सब धान्य (अनाज) एक जगह इकट्ठा किया जाय और उस एकत्रित क्षेत्र में थोड़े से मरमों के दाने डाल दिए जाएँ और मारं धान्य के क्षेत्र को हिला दिया जाय । फिर एक बृद्धा, जिसकी दृष्टि (नैय शक्ति) अति धीमी है, क्या वह उस क्षेत्र में से उन मरमों के दानों को निकालने में समर्थ हो सकती है ? नहीं । यदि कदाचित् देवशक्ति के द्वारा वह बृद्धा ऐसा कर भी ले किन्तु चर्मोचरणादि क्रिया से रहित निष्फल गंधाया हुआ मनुष्य भव पुनः प्राप्त होना अति दुर्लभ है ।

(४) एक राजा के एक पुत्र था । राजा के विरूप बृद्ध होजाने पर भी जब राजपुत्र को राज्य नहीं मिला, तब वह राजपुत्र अपने पिता को मार कर राज्य लेने की इच्छा करने लगा । इस बात का पता मन्त्री को लग गया और उसने राजा से मार्ग सूचान्त कह दिया । तब राजा ने अपने पुत्र से कहा कि जो हमारी परम्परा को सहन नहीं कर सकता, उसको हमारे साथ मत । (अर्थात्) खेन कर राज्य जीत लेना चाहिए । जीतने का यह तरीका है कि हमारी राजसभा में १०८ स्तम्भ हैं । एक एक स्तम्भ के १०८ कोण हैं । एक एक कोण को बीच में बिना द्वार १०८ बार जीत ले । इस प्रकार करने मारं स्तम्भ एवं उनके सभी कोणों को बिना द्वार प्रत्येक को एकमात्र आठ बार जीतना जाय तो उसको राज्य मिल जायगा । उपरोक्त प्रकार से उन मार स्तम्भों को जीतना मुश्किल है । तथापि देवशक्ति के प्रभाव से वा

जीत भी जाय, किन्तु व्यर्थ गंवाया हुआ मनुष्य भव मिलना तो उपरोक्त घटना की अपेक्षा भी अति दुर्लभ है ।

(५) एक धनी सेठ के पास बहुत से रत्न थे । उसके परदेश चले जाने पर उसके पुत्रों ने उन रत्नों में से बहुत रत्न दूसरे वणिकों को अल्प मूल्य में बेच डाले । उन रत्नों को लेकर वे वणिक् अन्यत्र चले गये । जब वह सेठ परदेश से वापिस लौटा और उसे यह बात मालूम हुई तो उसने अपने पुत्रों को बहुत उपालम्भ दिया और रत्नों को वापिस लाने के लिए कहा । वे लड़के उन रत्नों को लेने के लिए चारों तरफ घूमने लगे । क्या वे लड़के उन रत्नों को वापिस इकट्ठा कर सकते हैं ? यदि कदाचित् वे दैवप्रभाव से उन सब रत्नों को फिर से इकट्ठा कर भी लें किन्तु धर्म ध्यानादि क्रिया न करते हुए व्यर्थ गंवाया हुआ मनुष्य जन्म पुनः मिलना बहुत मुश्किल है ।

(६) एक भिक्षुक ने एक रात्रि के अन्तिम पहर में यह स्वप्न देखा कि वह पूर्णमासी के चन्द्रमा को निगल गया । उसने वह स्वप्न दूसरे भिक्षुओं से कहा । उन्होंने कहा तुमने पूर्ण चन्द्र देखा है । अतः आज तुम्हें पूर्ण चन्द्र मण्डल के आकार रोटी (पूड़ी या बड़ी रोटी) मिलेगा । तदनुसार उस भिक्षुक को उस दिन एक रोटी मिल गया । उसी रात्रि में और उसी ग्राम में एक राजपूत (क्षत्रिय) ने भी ऐसा ही स्वप्न देखा । उसने स्वप्न पाठकों के पास जाकर उस स्वप्न का अर्थ पूछा । उन्होंने स्वप्न श्राव्य देख कर बतलाया कि तुम्हें सम्पूर्ण राज्य की ग्रामि होगी । दैवयोग से ऐसा संयोग हुआ कि अकस्मात् उस ग्राम के राजा का उसी दिन देहान्त हो गया । उसके कोई पुत्र न था । अतः एक दधिनी के झूँड में पूल माला पकड़ा कर छोड़ा गया कि जिसके गले में यह माला देसी चूड़ी राजा होना । जन समूह में यह चूड़ी दधिनी

(स्वप्न दृष्टा) राजरत्न के पास आदि और उसके गले में वह हल माला डाल दी। पूर्व प्रतिज्ञानुसार राज्य कर्मचारी पुरुषों ने उस राजरत्न को राजा बना दिया। इस मां वृक्षान्त को मुन कर वह मित्रुक मोचने लगा कि मैंने भी इस राजरत्न के समान ही स्वप्न देखा था किन्तु मुझे तो केवल एक गेट ही मिला, अतः अब वापिस मोना हूँ और फिर पूर्ण चन्द्र का स्वप्न देख कर राज्य प्राप्त करूँगा। क्या वह मित्रुक फिर वही स्वप्न देख कर राज्य प्राप्त कर सकता है ? यदि कदाचित् वह ऐसा कर भी ले किन्तु व्यर्थ गंवाया हुआ मनुष्य भव पुनः प्राप्त करना अनि दुर्लभ है।

(७) मयुरा के राजा जितगुप्त के एक पुत्री थी। उसने उसका स्वयंवर रचा। उसमें एक गानमंजिका (काष्ठ का बनाई हुई पुतली) बनाई और उसके नीचे आठ चक्र लगाये जो निम्न घूमते रहते थे। पुतली के नीचे नेल में भर कर एक कढ़ाई रख दी गई। राजा जितगुप्त ने यह गर्व रखा था कि जो व्यक्ति नेल के अन्दर पड़ती हुई पुतली की परछाई को देख कर आठ चक्रों के बीच छिगती हुई पुतली की बाटे और की कर्मानिका (टीकी) को बाग द्वारा बीच डालेगा उसके साथ मेरी कन्या का विवाह होगा। वे सब एकत्रित हुए राजा लोग उस पुतली के वाम नेत्र की टीकी को बीचने में असमर्थ रहे। जिस प्रकार उस आठ चक्रों के बीच छिगती हुई पुतली के वाम नेत्र की टीकी को बीचना दुष्कर है उसी तरह सोया हुआ मनुष्य भव फिर मिलना बहुत मुश्किल है।

(८) एक बड़ा मंगेवर था। वह ऊपर में ऊँचान में रहा हुआ था। उसके बीच में एक छोटा सा छिट्ट था। सी वरं जरीत होने पर वह छिट्ट इतना चौड़ा हो जाता था कि उसमें बहुत की गढ़ने मना सकती थी। ऐसे अवसर में वह मलय पर्व

कछुए ने उस छिद्र में अपनी गर्दन डाल कर आश्विन पूर्णिमा को चन्द्र को देखा। अपने कुडम्ब के अन्य व्यक्तियों को भी चन्द्र दिखाने के लिए उसने जल में डुबकी लगाई। वापिस बोहर आकर देखा तो वह छिद्र बन्द हो चुका था। अब कब साँ वर्ष बीते जब फिर वही आश्विन पूर्णिमा आए और वह छिद्र खुले तब वह कछुआ अपने कुडम्बियों को चन्द्रमा का दर्शन कराए। यह अत्यन्त कठिन है। कदाचित् देवशक्ति से उस कछुए को ऐसा अवसर प्राप्त हो भी जाय, किन्तु मनुष्य भव पाकर जो व्यक्ति धर्माचरण नहीं करता हुआ अपना अमूल्य मनुष्य भव व्यर्थ खो देना है उसे पुनः मनुष्य भव मिलना अति दुर्लभ है।

(८) कल्पना कीजिये—स्वयंभूरमण समुद्र के एक तीर पर गाड़ी का युग (जूआ या धोंसरा) पड़ा हुआ है और दूसरे तट पर समिला (धोंसरे के दोनों ओर डाली जाने वाली कील) पड़ी हुई है। वायुवेग से वे दोनों समुद्र में गिर पड़ें। समुद्र में भटकते भटकते वे दोनों आपस में एक जगह मिल जायँ, किन्तु उस युग के छिद्र में उस समिला का प्रवेश होना कितना कठिन है। यदि कदाचित् ऐसा हो भी जाय परन्तु व्यर्थ खोया हुआ मनुष्य भव मिलना तो अत्यन्त दुर्लभ है।

(१०) कल्पना कीजिये—एक महान् स्तम्भ है। एक देवता उसके टुकड़े टुकड़े करके अविभागी (जिसके लिए दो विभाग न हो सके) खण्ड करके एक नली में भर दे। फिर पर्वत की चूलिका पर उस नली को ले जाकर जोर से फ्रॉक मार कर उसके सब परमाणुओं को उड़ा दे। फिर कोई मनुष्य उन्हीं सब परमाणुओं को पुनः एकत्रित कर वापिस उन्हीं परमाणुओं से वह स्तम्भ बना सकता है? यदि कदाचित् देवशक्ति से

प्रेमा करने में वह व्यक्ति ममर्थ हो भी जाय किन्तु व्यर्थ मोया हुआ मनुष्य जन्म फिर मिलना अति दुर्लभ है ।

इस प्रकार देव दुर्लभ मनुष्य भव को प्राप्त करके भी जो व्यक्ति प्रमाद, आलस्य, मोह, क्रोध, मान आदि के बन्दीभूत होकर संसार सागर से पार उतारने वाले धर्म का अवगम एवं आचरण नहीं करना वह प्राप्त हुए मनुष्य भव रूपी अमूल्य रत्न को व्यर्थ मो देता है । चांगमी लक्ष जीव योनि में मटकते हुए प्राणी को बार बार मनुष्य भव की प्राप्ति उपरोक्त दम दृष्टान्तों की तरह अन्यन्त दुर्लभ है । अतः मनुष्य भव को प्राप्त कर मुमुक्षु आत्माओं को निरन्तर धर्म में उद्यम करना चाहिये । (उपनिषद् अथर्ववेद ३ नि. गा. १६०) (आवश्यक निर्युक्ति गाथा ३३० पृष्ठ ३४०)

६८१- अच्छेरे (आश्चर्य) दम

जीवान् अभूतपूर्व (पहले कभी नहीं हुई) हो आर लोह में जो विष्मय एवं आश्चर्य की दृष्टि से देखी जाती हो ऐसी बात को अच्छेरा (आश्चर्य) कहते हैं । इस अवसरिणी काल में दम बातें आश्चर्य जनक हुई हैं । वे इस प्रकार हैं-

(१) उपमर्ग (२) गर्भदग्ग (३) र्नीर्यदूर (४) अभन्ना परिपद् (५) कृष्ण का अपरकंका गमन । ६) चन्द्र सूर्य अस्तम्य (७) दृग्विंश कुलोत्पत्ति (८) चमगेन्पात (९) अष्टगुणमिद (१०) अर्मयत पूजा ।

ये दम प्रकार के आश्चर्य किस प्रकार हुए ? इनका सिद्धि विवरण यहाँ दिया जाता है-

(१) उपमर्ग-नीर्यदूर भगवान् का यह अनिगम्य होता है कि : जहाँ विराजते हो उसके चारों तरफ़ भी योजन ४ अन्तरिम प्रकार का वैभवाव, मरी आदि गंग एवं दुर्लभ आदि 'रिम' प्रकार का उपद्रव नहीं होता, किन्तु अमल भगवान् महान् ।

स्वामी के छत्रस्थ अवस्था में तथा केवली अवस्था में देव, मनुष्य और तिर्यश्च कृत कई उपसर्ग हुए थे। यह एक आश्चर्यभूत बात है, क्योंकि ऐसी बात कभी नहीं हुई थी। तीर्थङ्कर भगवान् तो सब मनुष्य, देव और तिर्यश्चों के लिए सत्कार के पात्र होते हैं, उपसर्ग के पात्र नहीं। किन्तु अनन्त काल में कभी कभी ऐसी अच्छेरे भूत (आश्चर्यभूत) बातें हो जाया करती हैं। अतः यह अच्छेरा कहलाता है।
(२) गर्भहरण— एक स्त्री की कुचि में समुत्पन्न जीव को अन्य स्त्री की कुचि में रख देना गर्भहरण कहलाता है।

भगवान् महावीर स्वामी का जीव जब मरीचि (त्रिदण्ड) के भव में था तब जातिमद करने के कारण उसने नीच गोत्र का बंध कर लिया था। अतः प्राणत कल्प (दसवें देवलोक) के पुष्पोत्तर विमान से चब कर आपाड़ शुक्रा छड़ के दिन ब्राह्मण-कुण्ड ग्राम में ऋषभदत्त (सोमिल) ब्राह्मण की पत्नी देवानन्दा की कुचि में आकर उत्पन्न हुआ। बयासी दिन बीत जाने पर सोमधर्मेन्द्र (प्रथम देवलोक का इन्द्र-शकेन्द्र) को अवधि ज्ञान में यह बात ज्ञान हुई। तब शकेन्द्र ने विचार किया कि सर्वलोक में उत्तम पुरुष तीर्थङ्कर भगवान् का जन्म अप्रशस्त कुल में नहीं होता और न कभी ऐसा आगे हुआ है। ऐसा विचार कर शकेन्द्र ने हरिणगमपी देव को बुला कर आज्ञा दी कि चरम तीर्थङ्कर भगवान् महावीर स्वामी का जीव पूर्वोपाजित कर्म के कारण अप्रशस्त (तुच्छ) कुल में उत्पन्न हो गया है। अतः तुम जाओ और देवानन्दा ब्राह्मणी के गर्भ में उस जीव का हरण कर क्षत्रियकुण्ड ग्राम के स्वामी प्रसिद्ध निदार्थ राजा की पत्नी त्रिशला रानी के गर्भ में स्थापित कर दो। शकेन्द्र की आज्ञा स्वीकार कर हरिणगमपी देव ने आश्विन कृष्ण त्रयोदशी को रात्रि के दसरे पहर में देवानन्दा ब्राह्मणी के गर्भ का हरण कर महा-

गर्गी त्रिगुणा देवी की कृति में भगवान् के जीव को रक्ष दिया।

तीर्थङ्कर की अपेक्षा यह भी अभूतपूर्व बात थी। अनन्त काल में इस अवसरपिणी में ऐसा हुआ। अतः यह दूसरा अच्छेरा हुआ।

(३) श्रीतीर्थ— श्री का तीर्थङ्कर होकर द्वादशार्द्धी का निरूपण करना और मंच (माधु, मार्घा, श्रावक, श्राविका) की स्थापना करना श्रीतीर्थ कहलाना है। त्रिलोक में निरूपण अनिगुण श्री महिमा को धारण करने वाले पुरुष ही तीर्थ की स्थापना करें हैं किन्तु इस अवसरपिणी में उन्होंने तीर्थङ्कर भगवान् मद्दिना श्री रूप में अवतारण हुए। उनका कथानक इस प्रकार है—

इस जम्बूद्वीप के अपर विदेह में मल्लिनावती विजय के अन्दर वीनशोका नाम की नगरी है। वहाँ पर महावल्लभ नाम का राजा राज्य करता था। बहुत वर्ष पयन्त राज्य करने के पश्चात् षष्ठ्यमृनि के पास धर्मोपदेश श्रवण कर महावल्लभ राजाने अपने छः मित्रों सहित एक मुनि के पास दीक्षा धारण कर ली। उन मानों मुनियों ने यह प्रतिज्ञा कर ली थी कि मय एक ही प्रकार का तप करेंगे, किन्तु महावल्लभ मुनि ने यह विचार किया कि यहाँ तो इन छहों में मैं बड़ा हूँ। इसी तरह आगे भी बड़ा बना रहूँ। अतः मुझे इनसे कुछ विशेष तप करना चाहिए। इसलिये पाँचों के दिन वे महावल्लभ मुनि ऐसा कर दिया करने थे कि आज तो मेरा गिर दुखता है, आज मेरा पेट दुखता है। अतः मैं तो आज पागला न करूँगा, ऐसा कह कर उसदान की जगह चला और चले श्री जगह चला तथा चले की जगह चला कर लिया करने थे। इस प्रकार माया कष्ट सहित तप करने में महावल्लभ मुनि ने उस मय में सर्विद इस बार विजय और अष्टमल्लि आदि तीर्थङ्कर नाम इस उपासन के द्वारा दोन दोनों की उत्कृष्ट भाव में आगयना करने में सर्विद रूप

कर्म-उपार्जन कर बहुत समय तक श्रमण पर्याय का पालन कर वैजयन्त विमान में देव रूप से उत्पन्न हुए। वहाँ से चव कर मिथिला नगरी में कुम्भराजा की पत्नी प्रभावती रानी की कुक्षि से 'मल्लि' नाम की पुत्री रूप में उत्पन्न हुए। पूर्व भव में माया (कपटार्थ) का सेवन करने से इस भव में स्त्री रूप में उत्पन्न होना पड़ा। क्रमशः यौवनावस्था को प्राप्त हो, दीक्षा अङ्गीकार कर केवलज्ञान उपार्जन किया। तीर्थङ्करों के होने वाले आठ महाप्रतिहार्य आदि से सुशोभित हो चार प्रकार के तीर्थ की स्थापना की। बहुत वर्षों तक केवल पर्याय का पालन कर मोक्ष सुख को प्राप्त हुए।

पुरुष ही तीर्थङ्कर हुआ करते हैं। भगवान् मल्लिनाथ स्त्री रूप में अवतीर्ण होकर इस अवसरिणी में १६वें तीर्थङ्कर हुए। अनन्तकाल में यह भी एक अभूतपूर्व घटना होने के कारण अच्युत माना जाता है।

(४) अभव्या परिपद्—चारित्र्य धर्म के अयोग्य परिपद् (सभा) अभव्या (अभाविता) परिपद् कहलाती है। तीर्थङ्कर भगवान् को केवल ज्ञान होने पर वे जो प्रथम धर्मोपदेश देते हैं, उसमें कोई न कोई व्यक्ति अवश्य चारित्र्य ग्रहण करता है यानि दीक्षा लेता है, किन्तु भगवान् महावीर स्वामी के विषय में ऐसा नहीं हुआ। जम्बिक ग्राम के बाहर जब भगवान् महावीर स्वामी को केवल ज्ञान उत्पन्न हुआ तब वहाँ समयवसरण की रचना हुई। अनेक देवी देवता भगवान् का धर्मोपदेश सुनने के लिए समवसरण में एकत्रित हुए। श्रमण भगवान् महावीर स्वामी ने धर्मोपदेशना दी, किन्तु उस उपदेश को सुन कर उस समय किसी ने चारित्र्य अङ्गीकार नहीं किया। क्योंकि देवी देवता न तो संयम अङ्गीकार कर सकते हैं और न किसी प्रकार का व्रत-प्रत्याख्यान ही कर सकते हैं।

ऐसी बात किसी भी तीर्थङ्कर भगवान् के समय में नहीं हुई।

थी। अनन्त काल में यहाँ एक घटना हुई थी कि तीर्थंकर मगधान की धार्मी निष्कल गई। अतः यह भी एक अच्युत माना जाना है।

(५) कृष्ण का अपरकङ्कागमन— हस्तिनापुर के अन्दर युधिष्ठिर आदि पाँच पाण्डव द्रौपदी के साथ रहते थे। एक समय नारद मुनि यथेष्ट प्रदेशों में घूमने हुए द्रौपदी के यहाँ आये। उनसे अधिगत समझ कर द्रौपदी ने उनको नमस्कार आदि नहीं किया। नारद मुनि ने इसको अपना अपमान समझा और अति क्रुपित हो यह विचार करने लगे कि द्रौपदी दुर्गा हो ऐसा कार्य मुझे करना चाहिए। मरुत क्षेत्र में तो कृष्ण वामदेव के घर में द्रौपदी को कोई भी नकलीक नहीं दे सकता ऐसा विचार कर नारद मुनि मरुत क्षेत्र के धानकी गड में अपरकङ्का नाम की नगरी के स्वामी पद्मनाभ राजा के पास पहुँचे। राजा ने उठ कर उनका आदर मन्कार किया और फिर उनको अपने अन्तःपुर में ले जा कर अपनी सब गनियाँ दिखनाड़े और कहा कि हे आर्य ! आप सब जगह घूमने रहते हैं, यह बतनाइये कि मेरी गनियाँ, जो देवाङ्गना के समान सुन्दर हैं, मेरी सुन्दर गनियाँ आपने किसी और राजा के भी देखी हैं ? राजा की ऐसा बात सुनकर नारद मुनि ने यह विचार किया कि यह राजा अधिक विषयामक्त एवं परस्त्रीमार्मी प्रतीत होता है, अतः यहाँ पर मेरा प्रयोजन मिट्ट हो जायगा। ऐसा सोच नारद मुनि ने पद्मनाभ राजा से कहा कि हे राजन ! नृ कथमण्टक है। जम्बूद्वीप के भरतक्षेत्र में हस्तिनापुर के अन्दर पाण्डवकी द्रौपदी भी सुन्दर है कि उसका सामने मेरी ये गानका व हस्तिनापुर की प्रतीत होती है। ऐसा कह कर नारद मुनि वहाँ से चले गये। द्रौपदी के रूप की प्रशंसा सुनकर पद्मनाभ राजा राग रक्त हो निष्ठ अति उदात्त हो उठा और अपने

के मित्र देव को याद किया। याद करने पर देवता उसके सन्मुख उपस्थित हुआ और कहने लगा कि कहिए आपके लिए मैं क्या कार्य सम्पादित करूँ? राजा ने कहा कि पाण्डवपत्नी द्रौपदी को यहाँ लाकर मेरे सुपुर्द करो। देव ने कहा कि द्रौपदी तो महासती हैं, वह मन से भी परपुरुष की अभिलाषा नहीं करती परन्तु तुम्हारे आग्रह के कारण मैं उसे यहाँ ले आता हूँ। ऐसा कह कर वह देव हस्तिनागपुर आया और महल की छत पर सोती हुई द्रौपदी को उठा कर धातकीखण्ड में अपरकंका नाम की नगरी में ले आया। वहाँ लाकर उसने पद्मनाभ राजा के सामने रख दी। पश्चात् वह देव अपने स्थान को वापिस चला गया।

जब द्रौपदी की निद्रा (नींद) खुली तो पाण्डवों को वहाँ न देख कर बहुत घबराई। तब पद्मनाभ राजा ने कहा कि हे भद्रे! मत घबराओ। मैंने ही हस्तिनागपुर से तुम्हें यहाँ मंगवाया है। मैं धातकीखण्ड की अपरकङ्का का स्वामी पद्मनाभ नाम का राजा हूँ। मैं आपसे प्रार्थना करता हूँ कि आप मेरे साथ इन विपुल काम भोगों का भोग करती हुई सुख पूर्वक यहीं रहें। मैं आपका सेवक बन कर रहूँगा। पद्मनाभ राजा के उपरोक्त वचनों को द्रौपदी ने कोई आदर नहीं दिया एवं स्वीकार नहीं किया। राजा ने सोचा कि यदि आज यह मेरी बात स्वीकार नहीं करती है तो भी कोई बात नहीं, क्योंकि यहाँ पर जम्बूद्वीपवासी पाण्डवों का आगमन तो असम्भव है। इसलिए आज नहीं तो कुछ दिनों बाद द्रौपदी को मेरी बात स्वीकार करनी ही पड़ेगी।

इधर प्रातः काल जब पाण्डव उठे तो उन्होंने महल में द्रौपदी को नहीं देखा। चारों तरफ खोज करने पर भी उनको द्रौपदी का कोई पता नहीं लगा। तब वे कृष्ण महाराज के पास आये और उनसे सारा वृत्तान्त निवेदन किया। इस बात को सुनकर

कृष्ण वासुदेव को बड़ी चिन्ता हुई। इतने में वहाँ पर नारद मुनि आगये। कृष्ण महाराज ने उनसे पूछा कि हे आर्य ! यथेष्ट प्रदेशों में घूमते हुए आपने कहीं पर ड्रीपदी को देखा है ? तब नारद मुनि ने कहा कि धातकीगण्ड की अपरकंका नाम की नगरी में पद्मनाभ राजा के यहाँ मैंने ड्रीपदी को देखा है, ऐसा कह कर नारद मुनि तो वहाँ से चले गये। तब कृष्ण महाराज ने पाण्डवों से कहा कि तुम कुछ फिक्र मत करो। मैं ड्रीपदी को यहाँ ले आऊँगा। फिर पाँचों पाण्डवों को साथ लेकर कृष्ण महाराज लवण समुद्र के दक्षिण तट पर आये। वहाँ अष्टमनप (तैला) करके लवण समुद्र के स्वामी मुस्थित नामक देव की आराधना की। मुस्थित देव वहाँ उपस्थित हुआ। उनकी महायत्ना से पाँचों पाण्डवों सहित कृष्ण वासुदेव दो लाख योजन प्रमाण लवण समुद्र को पार कर अपरकंका नगरी के बाहर एक उद्यान (वर्माचि) में आकर टहरे। वहाँ से पद्मनाभ राजा के पाम टाम्क नामक दूत भेज कर कहलवाया कि कृष्ण वासुदेव पाँचों पाण्डवों सहित यहाँ आये हुए हैं, अतः ड्रीपदी को ले जाकर पाण्डवों को मार दो। दूत ने जाकर पद्मनाभ राजा से ऐसा ही कहा। उत्तर में उसने कहा कि इस तरह मांगने से ड्रीपदी नहीं मिलनी। अतः अपने स्वामी से कह दो कि यदि तुम्हारे में तारुन है तो युद्ध करके ड्रीपदी को ले सकते हो। मैं मर्मन्व युद्ध के लिए तैयार हूँ। दूत ने जाकर माग इत्थान्न कृष्ण वासुदेव से कह दिया। इसके बाद मेना सहित आते हुए पद्मनाभ राजा को देख कर कृष्ण वासुदेव ने इतने जोर से शंख की ध्वनि की जिससे पद्मनाभ राजा की मेना का तमिस्र हिस्सा तो उम शंखध्वनि को गुन कर भाग गया। फिर कृष्ण वासुदेव ने अपना धनुष उठा कर ऐसी दशर मार्ग जिससे उनकी मेना का दो निहाई हिस्सा और भाग गया।

अपनी सेना की यह दशा देख कर पद्मनाभ राजा रखभूमि से भाग गया। अपनी नगरी में घुस कर शहर के सब दरवाजे बन्द करवा दिये। यह देख कृष्ण वासुदेव अति कुपित हुए और जोर से पृथ्वी पर ऐसा पादस्फालन (पैरों को जोर से पटकना) किया जिससे सारा नगर कम्पित हो गया। शहर का कोट और दरवाजे तथा राज महल आदि सब धराशायी हो गये। यह देख कर पद्मनाभ राजा अति भयभीत हुआ और द्रौपदी के पास जाकर कहने लगा कि हे देवि ! मेरे अपराध को क्षमा करो और अब कुपित हुए इन कृष्ण वासुदेव से मेरी रक्षा करो। तब द्रौपदी ने कहा कि तू स्त्री के कपड़े पहन कर और मुझे आगे रख कर कृष्ण वासुदेव की शरण में चला जा। तब ही तेरी रक्षा हो सकती है। पद्मनाभ राजा ने ऐसा ही किया। फिर द्रौपदी और पाँचों पाण्डवों को साथ लेकर कृष्ण वासुदेव वापिस लौट कर लवण समुद्र के किनारे आये।

उत्त समय धातकी खण्ड में चम्पापुरी के अन्दर कपिल नाम का वासुदेव तीर्थङ्कर भगवान् मुनिसुव्रत स्वामी के पास धर्म श्रवण कर रहा था। पद्मनाभ राजा के साथ युद्ध में कृष्ण वासुदेव द्वारा की गई शंखध्वनि को सुन कर कपिल वासुदेव ने मुनिसुव्रत स्वामी से पूछा कि हे भगवन् ! मेरे जैसा ही यह शंख का शब्द किसका है ? तब भगवान् ने द्रौपदी का सारा वृत्तान्त कह सुनाया। यह सुन कपिल वासुदेव कहने लगा कि हे भगवन् ! मैं जाता हूँ और जम्बूद्वीप के भरतार्द्र के स्वामी कृष्ण वासुदेव को देखूँगा और उनका स्वागत करूँगा। तब भगवान् ने कहा कि हे कपिल वासुदेव ! जिस तरह एक तीर्थङ्कर दूसरे तीर्थङ्कर को और एक चक्रवर्ती दूसरे चक्रवर्ती को नहीं देख सकता। उसी प्रकार एक वासुदेव दूसरे वासुदेव को नहीं

देख सकता। भगवान् के ऐसा फरमाने पर भी कपिल वामुदेव कुतूहल से शीघ्रता पूर्वक लवण समुद्र के तट पर आया किन्तु उसके पहुँचने के पहले ही कृष्ण वामुदेव वहाँ से खाना हो चुके थे। लवण समुद्र में जाते हुए कृष्ण वामुदेव के ग्थ की ध्वजा को देख कर कपिल वामुदेव ने शंखध्वनि की। उस ध्वनि को सुन कर कृष्ण वामुदेव ने भी शंखध्वनि की। फिर लवण समुद्र को पार कर द्रौपदी तथा पाँचों पाण्डवों सहित निज स्थान को गये।

(६) चन्द्रसूर्यावतरण—एक समय श्रमण भगवान् महावीर स्वामी कौशाभ्यी नगरी में विराजते थे। वहाँ समवसरण में चन्द्र और सूर्य दोनों देव अपने अपने शाश्वत विमान में बैठ कर एक साथ भगवान् के दर्शन करने के लिए आये।

चन्द्र और सूर्य उत्तरविक्रिया द्वारा बनाये हुए विमान में बैठ कर ही तीर्थङ्करादि के दर्शन करने के लिये आया करते हैं, परन्तु भगवान् महावीर स्वामी के समवसरण में वे दोनों एक साथ आये और अपने अपने शाश्वत विमान में बैठ कर आये। यह भी अनन्त काल में अभूतपूर्व घटना है। अतः अच्युत माना जाता है।

(७) हरिवंश कुलोन्पत्ति—हरि नाम के युगलिप्त का वंश खानी पुत्र पात्रादि रूप में परम्यग का चलना हरिवंश कुलोन्पत्ति कहलाती है। इसका विवरण इस प्रकार है—

जम्बूद्वीप के भरतक्षेत्र में कौशाभ्यी नगरी के अन्तर मुमुग नाम का राजा राज्य करता था। एक समय उस राजा ने दीर्घ नाम के एक नुलादे की रूप लावण्य में आकर्षित होकर धनमाला नाम की गी को देगा और अति सुन्दरी होने के कारण वह उससे आसक्त हो गया, किन्तु उसकी प्राप्ति न होने में वह राजा गिरित्र विष पर्व उदास रहने लगा। एक समय मुमनि नाम के मन्त्री ने राजा से इसका कारण पूछा। राजा ने अपने मनोगत भावों को उससे

कह दिया । मन्त्री ने राजा से कहा कि आप चिन्ता न करें मैं आपके समीहित कार्य को पूर्ण कर दूँगा । ऐसा कह कर मन्त्री ने एक दूती को भेज कर उस जुलाहे की स्त्री वनमाला को बुलवाया और उसे राजा के पास भेज दिया । राजा ने उसे अपने अन्तःपुर में रख लिया और उसके साथ संसार के सुखों का अनुभव करता हुआ आनन्दपूर्वक रहने लगा ।

दूसरे दिन प्रातः काल जब वीरक जुलाहे ने अपनी स्त्री वनमाला को घर में न पाया तो वह अति चिन्तित हुआ । शोक तथा चिन्ता के कारण वह भ्रान्तचित्त (पागल) हो गया और हा वनमाले ! हा वनमाले ! कहता हुआ शहर में इधर उधर घूमने लगा । एक दिन वनमाला के साथ बैठा हुआ राजा राजमहल के नीचे से जाते हुए और इस प्रकार प्रलाप करते हुए उस जुलाहे को देख कर विचार करने लगा और वनमाला से कहने लगा कि अहो ! हम दोनों ने इहलोक और परलोक दोनों लोकों में निन्दित अतीव निर्लज्ज कार्य किया है । ऐसा नीच कार्य करने से हम लोगों को नरक में भी स्थान नहीं मिलेगा । इस प्रकार पश्चात्ताप करते हुए उन दोनों पर अकस्मात् आकाश से विजली गिर पड़ी जिससे वे दोनों मृत्यु को प्राप्त हो गये । परस्पर प्रेम के कारण और शुभ ध्यान के कारण वे दोनों मर कर हरिवर्ष क्षेत्र के अन्दर युगल रूप से हरि और हरिणी नाम के युगलिये हुए और आनन्द पूर्वक सुख भोगते हुए रहने लगे । इधर वीरक जुलाहे को जब उनकी मृत्यु के समाचार ज्ञान हुए तब पागलपन छोड़ वह अज्ञान तप करने लगा । उस अज्ञान तप के कारण मर कर वह सौधर्म देवलोक में किन्चिपिक देव हो गया । फिर उरते अवधिज्ञान ने देखा कि भरे पूर्व भव के वरी राजा और वनमाला दोनों हरिवर्ष क्षेत्र में युगलिये रूप से उत्पन्न हुए

अब मुझे अपने पूर्व भव के वैर का बदला लेना चाहिए। किन्तु यहाँ तो ये अरुन्धत में मारे नहीं जा सकने क्योंकि युगलियों की आयु अनपवर्ण्य (अपनी स्थिति में पड़ने नहीं टूटने वाली) होती है और यहाँ मरने पर ये अवश्य स्वर्ग में जावेंगे। इस लिए इनको यहाँ से उठा कर किसी दूसरी जगह ले जाना चाहिए। ऐसा सोच कर वह देव उन दोनों को कल्पवृक्ष के माथे उठा कर जम्बूद्वीप के मग्नक्षेत्र की चम्पापुत्री में ले आया। उस नगरी का इन्ध्याकु वंशोद्भव चन्द्रकीर्ति नामक राजा उसी समय मर गया था। उसके कोई मन्तान न थी। अतः प्रजा अपने लिए किसी योग्य राजा की सोच में थी। इनमें में आकाश में स्थित हो कर उस देव ने कहा कि हे प्रजाजनों ! मैं तुम्हारे लिए हरिवर्ष क्षेत्र में हरि नामक युगलियों को उस की पत्नी हरिणी तथा उन दोनों के गाने योग्य फलों में युक्त कल्पवृक्ष के माथे यहाँ ले आया हूँ। तुम इसे अपना राजा बना लो और इन दोनों को कल्पवृक्ष के फलों में पशु पक्षियों का मांस मिलाकर मिनतें रहना। प्रजाजनों ने देव की इस बात को मान लिया और उसे अपना राजा बना दिया। देव अपनी शक्ति में उन दोनों को अल्प स्थिति और सी धनुष प्रमाण जगह की अवगाहना कर कर अपने स्थान को चला गया।

हरि युगलिया भी समुद्र पर्यन्त पृथ्वी को अपने अर्धत कर बहुत वर्षों तक राज्य करना रहा और उसके बड़े बड़े पौत्रादि रूप में उसकी वंश परम्परा चली और तभी में इस वंश हरिवंश कहलाया। युगलियों की वंश परम्परा नहीं चली क्योंकि ये युगल रूप में उत्पन्न होते हैं और उन ही शान में पति पत्नी का व्यवहार हो जाता है। कल्पवृक्ष में पशु पक्षियों को शान करने हुए बहुत समय तक सुख प्रसन्न जीवन का

हैं । पश्चात् अतिक्रुद्ध होकर अतिवेग से जिसमें से सैकड़ों अंगारे निकल रहे हैं ऐसा कुलिश (वज्र) फँका । उस वज्र के तेज प्रताप को सहन करना तो दूर किन्तु उसको देखने में भी असमर्थ चमरेन्द्र अपने शरीर के विस्तार को संकुचित करके अतिवेग से दौड़ कर श्रमण भगवान् महावीर स्वामी की शरण में पहुँचा । जब वज्र अति निकट आने लगा तब चमरेन्द्र अपना शरीर अति सूक्ष्म बना कर भगवान् के दोनों चरणों के बीच में घुस गया ।

किसी विशाल शक्ति का आश्रय लिये बिना असुर यहाँ पर नहीं आ सकते । चमरेन्द्र ने किसका आश्रय लिया है ? ऐसा विचार कर शक्रेन्द्र ने उपयोग लगाया और देखा तो ज्ञात हुआ कि यह चमरेन्द्र तीर्थङ्कर भगवान् महावीर स्वामी का आश्रय (शरण) लेकर यहाँ आया है और अब भी भगवान् के चरणों की शरण में पहुँच गया है । मेरा वज्र उसका पीछा कर रहा है । कहीं ऐसा न हो कि मेरे वज्र से भगवान् की आशातना हो । ऐसा विचार कर शक्रेन्द्र शीघ्रता से वहाँ आया और भगवान् के चरणों से चार अङ्गुल दूर रहते हुए वज्र को पकड़ कर वापिस खींच लिया और भगवान् से अपने अपराध की क्षमा याचना करता हुआ चमरेन्द्र से कहने लगा कि हे चमरेन्द्र ! अब तू त्रिलोक पूज्य भगवान् महावीर की शरण में आ गया है । अब तुझे कोई डर नहीं है ऐसा कह कर भगवान् को वन्दना नमस्कार कर शक्रेन्द्र अपने स्थान को चला गया ।

शक्रेन्द्र जब वापिस चला गया तब चमरेन्द्र भगवान् के चरणों के बीच से बाहर निकला और भगवान् की अनेक प्रकार से न्युति और प्रशंसा करता हुआ अपनी राजधानी चमरज्वा में चला गया । चमरेन्द्र कभी ऊपर नहीं जाता है । अतः वह भी अच्छेरा माना जाता है ।

को, दूसरे पुट में आई हुई मिठा कौआँ को, तीसरे पुट में आई हुई मिठा मट्ठनी आदि जलचर जीवों को डाल देना था और चौथे पुट में आई हुई मिठा आप स्वयं गगन डेप रहित यानी समभाव पूर्वक ग्याता था। इस प्रकार बारह वर्ष तक अज्ञान तप करके तथा मृत्यु के समय एक महीने का अनगुन करके चमरचञ्चा राजधानी के अन्दर चमरेन्द्र हुआ। वहाँ उत्पन्न हो कर उमने अवधिज्ञान में इधर उधर देखने हुए अपने ऊपर मौधर्म विमान में क्रीड़ा करने हुए मौधर्मैन्द्र को देखा और वह कृपित हो कर कहने लगा कि अप्राथिक का प्राथिक अर्थान्त्रिमको कोई इच्छा नहीं करता ऐसे मरण की इच्छा करने वाला यह कौन है जो मेरे शिर पर इस प्रकार क्रीड़ा करता है ? मैं इस को इस प्रकार मेरा अवमान करने की मजा दूँगा। ऐसा कह कर हाथ में परिघ (एक प्रकार का शस्त्र) लेकर ऊपर जाने को तैयार हुआ। परन्तु चमरेन्द्र को विचार आया कि शरैन्द्र बहुत बलवान है, अतः यदि मैं हार गया तो फिर किमर्हो शरण में जाऊँगा। ऐसा सोच मुंसुमारपुर में एकगिरि की पटिमा में स्थित श्रमण भगवान महावीर स्वामी की बन्दना नमस्कार कर उनकी शरण लेकर एक लाग योजन द्रमाग अपने शरीर को बना कर परिघ शस्त्र को चारों ओर घुमाता हुआ हाथ, पैरों को विशेष रूप में पटकता हुआ और मयङ्ग मज्जा करना हुआ शरैन्द्र की तरफ ऊपर को उड़ना। वहाँ जाकर एक पैर मौधर्म विमान की वेदिका में और दूसरा पैर मौधर्म ममा में रख कर पश्चिम में इन्द्रकील (इन्द्र के दरवाजे की कील वाली अर्गला-आगल) की तीन बार ताड़ित किया और शरैन्द्र को तुच्छ शब्दों में मनोहित करने लगा। शरैन्द्र ने भी अर्थात् ज्ञान में उपदेश लगा कर देखा और उसको जाना कि यह तो पण्डित

(२) श्रावक देवता की भी सहायता नहीं चाहता, अर्थात् किसी कार्य में दूसरे की आशा पर निर्भर नहीं रहता है ।

(३) श्रावक धर्म कार्य एवं निर्ग्रन्थ प्रवचनों में इतना दृढ़ तथा चुस्त होता है कि देव, असुर, नागकुमार, ज्योतिष्क, यक्ष, राक्षस, किन्नर, किम्पुल्य, गरुड़, महोरग, गन्धर्व इत्यादि कोई भी उसको निर्ग्रन्थ प्रवचनों से विचलित करने में समर्थ नहीं हो सकता ।

(४) श्रावक निर्ग्रन्थ प्रवचनों में शंका कांटा विचिकित्सा आदि समकित के दोषों से रहित होता है ।

(५) श्रावक शास्त्रों के अर्थ को बड़ी कुशलता पूर्वक ग्रहण करने वाला होता है । शास्त्रों के अर्थों में सन्देह वाले स्थानों का भली प्रकार निर्णय करके और शास्त्रों के गूढ़ रहस्यों को जान कर श्रावक निर्ग्रन्थ प्रवचनों पर अटूट प्रेम वाला होता है । उसका हाड़ और हाड़ की मिजा (मज्जा), जीव और जीव के प्रदेश धर्म के प्रेम एवं अनुराग से रंगे हुए होते हैं ।

(६) ये निर्ग्रन्थ प्रवचन ही अर्थ (सार) हैं, ये ही परमार्थ हैं, बाकी संसार के सारे कार्य अनर्थ रूप हैं । आत्मा के लिए निर्ग्रन्थ प्रवचन ही हितकारी एवं कल्याणकारी हैं । शेष संसार के सारे कार्य आत्मा के लिए अहितकर एवं अकल्याणकारी हैं । ऐसा जान कर श्रावक निर्ग्रन्थ प्रवचनों पर दृढ़ भक्ति एवं श्रद्धा वाला होता है ।

(७) श्रावक के घर के दरवाजे की अर्गला हमेशा ऊँची ही रहती है । इसका अभिप्राय यह है कि श्रावक की इतनी उदारता होती है कि उसके घर का दरवाजा हमेशा नाथु, नाथ्वी, श्रमण, माहण आदि सब को दान देने के लिए खुला रहता है । श्रावक नाथु नाथ्वी को दान देने की भावना सदा भाना रहता है ।

(८) श्रावक ऐसा विश्वास पात्र होता है कि वह किसी के

की पूजा हुई थी। भगवान् ऋषभदेव आदि के समय मूर्ति, कपिल आदि अमंगलों की पूजा तीर्थ के रहने हुई थी। इस लिए उन्हें अच्छे में नहीं गिना जाता।

उपरोक्त दस धानें इस अवमर्षिणी में अनन्त काल में हुई थीं। अतः ये दस ही इस द्वावमर्षिणी में अच्छे माने जाते हैं।
(टांगिंग १० उ. ३ सूत्र ७७३) (प्रवचनमार्गोद्धरण द्वार १३= गा. ८८७ से ८८८)

६८२-विच्छिन्न (विच्छेद प्राप्त) बोल दस

श्री जम्बुस्वामी के मौच पधारने के बाद भरनवेत्र में दस धानों का विच्छेद हो गया। वे ये हैं-

(१) मनःपर्यय ज्ञान (२) परमावधिज्ञान (३) पुलाकनस्थ
(४) आहारक शरीर (५) चपक श्रेणी (६) उपगम श्रेणी (७)
जिनकल्प (८) चारित्र त्रय अर्थात्- परिहारविगुद्धि चारित्र,
सूक्ष्मसम्पराय चारित्र और यथाग्यात चारित्र (९) कवर्ती (१०)
निर्वाण (मौच) (विशेसद्वयक भाष्य गाथा २४६३)।

६८३-दीक्षा लेने वाले दस चक्रवर्ती राजा

दस चक्रवर्ती राजाओं ने दीक्षा ग्रहण कर आन्मरुन्पाय किया। उनके नाम इस प्रकार हैं-

(१) भग्न (२) मागर (३) मधवान (४) मनन्तनार (५)
गान्धिनाथ (६) कृन्धुनाथ (७) अग्नाथ (८) महारथ (९) हरिण
(१०) जयमेन। (टांगिंग १० उ. ३ सूत्र ७७८)

६८४-आवक के दस लक्षण

हठ श्रद्धा को धारण करने वाला, जिनवागी को सुनने वाला, दान देने वाला, कर्म मराने के लिए प्रयत्न करने वाला और देव व्रतों को धारण करने वाला आवक कहा जाता है। इस में नीचे लिगी दस धानें होती हैं-

(१) आवक जीराजीवादि नौ वस्तुओं का ज्ञान।

(=) महाशतक (६) नन्दिनीपिता (१०) सालिहिपिया (शालेयिका पिता)। इन सब का वर्णन उपासकदशांग सूत्र में है। उसके अनुसार यहाँ दिया जाता है।

(१) आनन्द थावक— इस जम्बूद्वीप के भरतक्षेत्र में भारतभूमि का भूषणरूप चाण्डिज्य नाम का एक ग्राम था। वहाँ जितशत्रु राजा राज्य करता था। उसी नगर में आनन्द नाम का एक सेठ रहता था। कुबेर के समान वह ऋद्धि-सम्पत्तिशाली था। नगर में वह मान्य एवं प्रतिष्ठित सेठ था। प्रत्येक कार्य में लोग उसकी सलाह लिया करते थे। शील सदाचारादि गुणों से शोभित शिवानन्दा नाम की उसकी पत्नी थी। आनन्द के पास चार करोड़ (कोटि) सोनैया निधानरूप अर्थात् खजाने में था, चार करोड़ सोनैये का विस्तार (द्विपद, चतुष्पद, धन, धान्य आदि की सम्पत्ति) था और चार करोड़ सोनैये से व्यापार किया जाता था। गावों के चार गोकुल (एक गोकुल में दस हजार गाये होती हैं) थे। वह धर्मिष्ठ और न्याय से व्यापार चलाने वाला तथा सन्तुष्टिवादी था। इसलिए राजा भी उसका बहुत मान करता था। उसके पाँच सौ गाड़े व्यापार के लिए विदेश में फिरते रहते थे और पाँच सौ घास बगैरह लाने के लिए नियुक्त किये हुए थे। समुद्र में व्यापार करने के लिए चार बड़े जहाज थे। इस ऋद्धि से सम्पन्न आनन्द थावक अपनी पत्नी शिवानन्दा के साथ आनन्द पूर्वक जीवन व्यतीत करता था।

एक समय श्रमण भगवान् महावीर स्वामी चाण्डिज्यग्राम के बाहर उद्यान में पधारे। देवताओं ने भगवान् के समवनरण की रचना की। भगवान् के पधारने की सूचना मिलते ही जनता वन्दना के लिये गई। जितशत्रु राजा भी बड़ी धूमधाम और उन्माह के साथ भगवान् को वन्दना करने के लिये गया। मन्दर पाने पर आनन्द

इस प्रकार विचार करने लगा कि अहो! आज मेरा मद्भाग्य है। भगवान का नाम ही पवित्र एवं कल्याणकारी है तो उनके दर्शन का तो कइना ही क्या? ऐसा विचार कर उसने शीघ्र ही स्नान, किया, ममा में जल योग्य शुद्ध वस्त्र पहने, अन्य मार और बहुमूल्य बाने आभूषण पहने। वाणिज्य ग्राम नगर के बीच में से होना हुआ आनन्द मठ धुतिपलाश उद्यान में, जहाँ भगवान विराजमान थे, आया। तिकसुयो के पाठ से वन्दना नमस्कार कर बैठ गया। भगवान ने धर्मोपदेश फरमाया। धर्मोपदेश सुन कर जनता बापिस चली गई किन्तु आनन्द वहीं पर बैठा रहा। हाथ जोड़ कर विनय पूर्वक भगवान से अर्ज करने लगा कि हे भगवन् ! ये निग्रन्थ प्रवचन मुझे विशेष रुचिकर हुए हैं। आपके पास जिस तरह बहुत से राजा, महाराजा, मठ, मनापति, तलवार, कौटुम्बिक, माहम्बिक, मार्थवाह आदि प्रवज्या अङ्गीकार करने हैं उस तरह प्रवज्या ग्रहण करने में तो मैं असमर्थ हूँ। मैं आपके पास श्रावक के बराबर व्रत अङ्गीकार करना चाहता हूँ। भगवान ने फरमाया कि जिस तरह तुम्हें मुग हो वसा कार्य करो किन्तु धर्म कार्य में विनम्र मन करो।

इसके बाद आनन्द गाथापति ने श्रमण भगवान महावीर स्वामी के पास निम्न प्रकार से व्रत अङ्गीकार किए।

दो करण तीन योग से स्थूल प्राणानिषान, स्थूल मृषाराद, स्थूल अट्ठादान का न्याग किया। चौथे व्रत में स्वदार मर्तोप व्रत की मर्यादा की और एक शिवानन्दा माया के मिश्रण वाली दुर्गा मर स्त्रियों के साथ मैथुन का न्याग किया। पाँचवें व्रत में धन, धान्यादि की मर्यादा की। बारह करोड़ मोनिया, गायों के चार गोठल, पाँच माँ हल और पाँच माँ हलों में जोती जाने वाली भूमि, हजार गाँव और चार बड़े जहाज के उपरान्त

परिग्रह रखने का नियम लिया। रात्रिभोजन का त्याग किया।

सातवें व्रत में उपभोग परिभोग की मर्यादा की जाती है। एक ही बार भोग करने योग्य भोजन, पानी आदि पदार्थ उपभोग कहलाते हैं। बारबार भोगे जाने वाले वस्त्र, आभूषण और स्त्री आदि पदार्थ परिभोग कहलाते हैं। इन दोनों का परिमाण नियत करना उपभोग परिभोग व्रत कहलाता है। यह व्रत दो प्रकार का है एक भोजन से और दूसरा कर्म से।

उपभोग करने योग्य भोजन और पानी आदि पदार्थों का तथा परिभोग करने योग्य पदार्थों का परिमाण निश्चित करना अर्थात् अमुक अमुक वस्तु को ही मैं अपने उपभोग परिभोग में लूँगा, इन से भिन्न पदार्थों को नहीं, ऐसी संख्या नियत करना भोजन से उपभोग परिभोग व्रत है। उपरोक्त पदार्थों की प्राप्ति के लिए उद्योग धन्यों का परिमाण करना अर्थात् अमुक अमुक उद्योग धन्यों से ही मैं इन वस्तुओं का उपार्जन करूँगा दूसरे कार्यों से नहीं, यह कर्म से उपभोग परिभोग व्रत कहलाता है। आनन्द श्रावक ने निम्न प्रकार से मर्यादा की—

- (१) उल्लिख्याविहि— स्नान करने के पश्चात् शरीर को शोधन के लिए गमछा (टुवाल) आदि की मर्यादा करना। आनन्द श्रावक ने गन्धकापानित (गन्ध प्रधान लाल वस्त्र) का नियम किया था।
- (२) दन्तवगविहि— दाँत साफ करने के लिए दाँतुन का परिमाण करना। आनन्द श्रावक ने हरी मुलहदी का नियम किया था।
- (३) फलाविहि— स्नान करने के पहले शिर धोने के लिये आवला आदि फलों की मर्यादा करना। आनन्द श्रावक ने जिम में गुठली उत्पन्न न हुई हो ऐसे आवलों का नियम किया था।
- (४) अन्नभंगविहि— शरीर पर मालिश करने योग्य तेल आदि का परिमाण निश्चित करना। आनन्द श्रावक ने रातपाक (सी

आपधियाँ डाल कर बनाया हुआ) और मुदम्बराक (दवा आपधियाँ डाल कर बनाया हुआ) तैल रखा था ।

(५) उच्चट्टणविधि— शरीर पर लगाए हुए तैल को मुमाने के लिए पीठी आदि की मर्यादा करना । आनन्द श्रावक ने कमनों के पराग आदि से मुगन्धित पदार्थ का परिमाण किया था ।

(६) मज्जणविधि— स्नानों की मंज्या तथा स्नान करने के लिए जल का परिमाण करना । आनन्द श्रावक ने स्नान के लिए आठ बड़े जल का परिमाण किया था ।

(७) वन्यविधि— पहनने योग्य वस्त्रों की मर्यादा करना । आनन्द श्रावक ने कपाम से बने हुए दो वस्त्रों का नियम किया था ।

(८) विलेवणविधि— स्नान करने के पश्चात् शरीर में लेपन करने योग्य चन्दन, केजूर आदि मुगन्धित द्रव्यों का परिमाण निर्दिष्ट करना । आनन्द श्रावक ने अगुद (एक प्रकार का मुगन्धित द्रव्य विशेष), कुंकुम, चन्दन आदि द्रव्यों की मर्यादा की थी ।

(९) पुष्पविधि— फूलमाला आदि का परिमाण करना । आनन्द श्रावक ने शुद्ध कमल और मालती के फूलों की माला पहनने की मर्यादा की थी ।

(१०) आमग्गविधि— गहने, जेवर आदि का परिमाण करना । आनन्द श्रावक ने कानों के श्वेत कुण्डल और म्वनामाश्रित (जिम पर अपना नाम खुदा हुआ हो) तैर्मा, मुट्टिका (अंगूठी) धारण करने का परिमाण किया था ।

(११) धूपविधि— धूप देने योग्य पदार्थों का परिमाण करना । आनन्द श्रावक ने अगर और लोबान आदि का परिमाण किया था ।

(१२) मोयणविधि— मोत्रन का परिमाण करना

(१३) पेज्जविधि— पीने योग्य पदार्थों की मर्यादा करना । आनन्द श्रावक ने मूँग की दाल और पी ने नून ११ चामरों

की रात्र की मर्यादा की थी ।

(१४) भक्षणाविधि— खाने के लिए पक्वान्न की मर्यादा करना ।
आनन्द श्रावक ने घृतपूर (वेवर) और खांड से लित खाजे का परिमाण किया था ।

(१५) ओदणविधि— दूधा निवृत्ति के लिए चावल आदि की मर्यादा करना । आनन्द श्रावक ने कमोद चावल का परिमाण किया था ।

(१६) सूत्रविधि— दाल का परिमाण करना । आनन्द श्रावक ने मटर, मूंग और उड़द की दाल का परिमाण किया था ।

(१७) घय विधि— घृत का परिमाण करना । आनन्द श्रावक ने गायों के शरद ऋतु में उत्पन्न घी का नियम किया था ।

(१८) सागविधि— शाक भाजी का परिमाण निश्चित करना ।
आनन्द श्रावक ने वधुआ, चूचू (मुत्थिय) और मण्डुकी शाक का परिमाण किया था । चूचू और मण्डुकी उस समय में प्रसिद्ध कोई शाक विशेष हैं ।

(१९) माहुरयविधि— पके हुए फलों का परिमाण करना ।
आनन्द श्रावक ने पालङ्ग (बेल फल) फल का परिमाण किया था ।

(२०) जेमणविधि— बड़ा, पकौड़ी आदि खाने योग्य पदार्थों का परिमाण निश्चित करना । आनन्द श्रावक ने तेल आदि में तलने के बाद छाछ, दही और कांजी आदि सूखी चीजों में भिगोये हुए मूंग आदि की दाल में बने हुए बड़े और पकौड़ी आदि का परिमाण किया था । आज-कल इसी को दही बड़ा, कांजी बड़ा और दालिया आदि कहते हैं ।

(२१) पाणियविधि— पीने के लिए पानी की मर्यादा करना ।
आनन्द श्रावक ने आकाश से गिरे हुए और तत्काल (टांकी आदि में) ग्रहण किए हुए जल की मर्यादा की थी ।

(२२) मुद्रयामविधि—अपने मुख को मुवागिन करने के लिए पान और चूर्ण आदि पदार्थों का परिमाण करना। आनन्द आचर ने पञ्चमार्गान्धिक अर्थात् लींग, कपूर, कक्कोल (शीतल चूर्ण), जायफल और इलायची डाले हुए पान का परिमाण किया था।

इस के बाद आनन्द आचर ने आठवें अनर्थ दण्ड व्रत को अंगीकार करते समय नीचे लिखे चार कारणों में होने वाले अनर्थ दण्ड का न्याय किया—(क) अपव्यानाचरित—आर्तव्याय या रौद्रव्याय के द्वारा अर्थात् दूसरों को नुकसान पहुँचाने की भावना या शोक चिन्ता आदि के कारण व्यर्थ पाप कर्मों को बँधना। (ख) प्रमादाचरित—प्रमाद अर्थात् आलस्य या अभावधानी में अथवा मद्य, विषय, कथायादि प्रमादों द्वारा अनर्थ दण्ड का भेदन करना। (ग) हिंस्रप्रदान—हिंसा करने वाले शस्त्र आदि दूसरों को देना। (घ) पापकर्मोपदेश—जिस में पाप लगता हो ऐसे कार्य का उपदेश देना।

इसके बाद भगवान् ने आनन्द आचर से कहा कि हे आनन्द ! जीवाजीवादि नौ तत्त्वों के ज्ञाता आचर को समझित के पाँच अतिचारों को, जो कि पानाल कलश के समान हैं, जानना चाहिए किन्तु इनका भेदन नहीं करना चाहिए। वे अतिचार ये हैं—मंका, कंठा, विविगिच्छा, परपामंडादमंका, परपामंड-मंथयो। इन पाँच अतिचारों की विस्तृत व्याख्या इसके प्रथम भाग बोल नं० २२५ में दे दी गई है।

इसके बाद बारह व्रतों के माट अतिचार वचनाएँ। उस-मक दशाक्ष सूत्र के अनुसार उन अतिचारों का भन पाट यहाँ दिया जाता है—

(१) तयाणन्तरं च र्णं धूलमस्य पाणाद्वायोरममस्य ममगो-
शामर्णं पञ्च अद्याग पेयाना जागियन्ता न ममापिदन्ता,

तंजहा- वन्धे वहे छविच्छेए अइभारे भत्तपाणवोच्छेए । (२) तयाणन्तरं च एवं धूलगस्स मुसावाय वेरमणस्स पञ्च अइयारा जाणियन्वा न समायरियन्वा, तंजहा-सहसाअन्मक्खणाणे रहसा-अन्मक्खणाणे सदारमन्त भेए मोसोवएसे कूडलेहकरणे । (३) तया-णन्तरं च एवं धूलगस्स अदिण्णादाण वेरमणस्स पञ्च अइयारा जाणियन्वा न समायरियन्वा, तंजहा- तेणाहडं तक्करप्पओगे विरुद्धरज्जाइक्कमे कूडतुलकूडमाणे तप्पडिस्सुवगववहारो । (४) तया-णन्तरं च एवं सदारमन्तोसिए पञ्च अइयारा जाणियन्वा न समाय-रियन्वा, तंजहा- इत्तरियपरिग्गहियागमणे अपरिग्गहियागमणे अणङ्गकीडा परविवाहकरणे कामभोगतिव्वाभिलासे ! (५) तयाणन्तरं च एवं इच्छापारिमाणस्स समणोवासएणं पञ्च अइयारा जाणियन्वा न समायरियन्वा, तंजहा- खेतवत्थुपमाणाइक्कमे हिरणसुवणपमाणाइक्कमे दुपयचउप्यपमाणाइक्कमे धणधन्न-पमाणाइक्कमे कुवियपमाणाइक्कमे । (६) तयाणन्तरं च एवं दिसि-चयस्स पञ्च अइयारा जाणियन्वा न समायरियन्वा, तंजहा- उड्ढदिसि पमाणाइक्कमे अहोदिसिपमाणाइक्कमे, तिरियदिमि-पमाणाइक्कमे खेतवुड्ढी सहअन्तरद्धा ! (७) तयाणन्तरं च एवं उवभोगपरिमोगे दुविहे पएणत्ते, तंजहा- भोयणओ य कम्मओ य, तत्थ एवं भोयणओ समणोवासएणं पञ्च अइयारा जाणियन्वा न समायरियन्वा तंजहा- सच्चित्ताहारे सच्चित्तपडिवद्धाहारे अप्पउलि-ओसहिभक्खणया दुप्पउलिओसहिभक्खणया तुच्छोसहिभक्ख-णया । कम्मओ एवं समणोवासएणं पणरसकम्मदाणाइं जाणि-यन्वाइं न समायरियन्वाइं, तंजहा-इज्जालकम्मे वगकम्मे साडीक-म्मे भाडीकम्मे फोडीकम्मे दन्नवाणिज्जे लक्खवाणिज्जे रत्तवाणि-ज्जे विसवाणिज्जे केसवाणिज्जे जन्नपीलणकम्मे निअ

दवग्निदावणया मरदहतलायमोमणया अमर्दजगपोमणया ।
 (८) तयागन्तरं च गं अगट्टादएडवरमणस्म समणोवामण्णं
 पञ्च अइयारा जाणियच्चा न समायरियच्चा, तंजहा-कन्दप्पे
 कुक्कुड्ढं मोहसिणं मज्जुत्ताहिगरणे उवमोगपरिभोगादिरिणे ।
 (९) तयागन्तरं च गं सामाइयस्म समणोवामण्णं पञ्च अइयारा
 जाणियच्चा न समायरियच्चा, तंजहा-मणदुप्पणिहाणे वयदुप्पणि-
 हाणे कायदुप्पणिहाणे सामाइयस्म मइअरुणया सामाइयस्म
 अणवट्टियस्म करणया । (१०) तयागन्तरं च गं देसावगामि-
 यस्म समणोवामण्णं पञ्च अइयारा जाणियच्चा न समायरि-
 यच्चा, तंजहा-अणवणप्पश्रोणे पेसवणप्पश्रोणे महाणुवाण्ण्वा-
 णुवाण्ण्वा वडिया पोग्गलपक्खेवे । (११) तयागन्तरं च गं पोग्गलपक्खे-
 वस्म समणोवामण्णं पञ्च अइयारा जाणियच्चा न समायरियच्चा,
 तंजहा-अप्पडिल्लेहियदुप्पडिल्लेहियमिज्जामंधारे अप्पमज्जियदुप्प-
 मज्जियमिज्जामंधारे अप्पडिल्लेहियदुप्पडिल्लेहिय उचारपामदग-
 भूमी अप्पमज्जियदुप्पमज्जिय उचार पामवणभूमी पोग्गलपक्खेवे
 मम्मं अणणुपालणया । (१२) तयागन्तरं च गं अहमंविमागम्म
 समणोवामण्णं पञ्च अइयारा जाणियच्चा न समायरियच्चा तंजहा
 मच्चित्त निक्खेवणया मच्चित्त पिहणया कालादकम्मं परववदेमं
 मच्छरिया । तयागन्तरं च गं अपच्छिदम मारणन्तिय मंलेहणा भूम-
 लाराहणा पञ्च अइयारा जाणियच्चा न समायरियच्चा, तंजहा-
 ट्टलंगागंमण्णश्रोणे परलोगागंमण्णश्रोणे जीवियागंमण्णश्रोणे
 मग्गामंमण्णश्रोणे कामभोगामंमण्णश्रोणे ।

चारह ग्रन्थों के ६० अतिनागों की व्याख्या हमके प्रथम भाग
 बोल नं० ३०१ से ३१२ तक में और मंलेहना के पाँच अति-
 चारों की व्याख्या बोल नं० ३१३ में दे दी गई है ।

मगवान के पाँच श्रावक के चारह दत्त स्त्रीभार कर आनन्द

श्रावक ने भगवान् को वन्दना नमस्कार किया और इस प्रकार अर्ज करने लगा कि भगवन् ! मैंने आपके पास अब शुद्ध सम्यक्त्व धारण की है इसलिए मुझे अब निम्न लिखित कार्य करने नहीं कल्पते—अन्यतीर्थिक, अन्यतीर्थियों के माने हुए देव, साधु आदि को वन्दना नमस्कार करना, उनके विना बुलाये पहिले अपनी तरफ से बोलना, आलाप संलाप करना और गुरुबुद्धि से उन्हें अशन पान आदि देना । यहाँ पर जो अशनादि दान का निषेध किया गया है सो गुरुबुद्धि की अपेक्षा से है अर्थात् सम्यक्त्वधारी पुरुष अन्यतीर्थिकों (अन्य मतावलम्बियों) द्वारा माने हुए गुरु आदि को एकान्त निर्जरा के लिए अशनादि नहीं देता । इस का अर्थ करुणा दान (अनुकम्पा दान) का निषेध नहीं है, क्योंकि विपत्ति में पड़े हुए दीन दुखी प्राणियों पर करुणा (अनुकम्पा) करके दान आदि के द्वारा उनकी सहायता करना श्रावक अपना कर्तव्य समझता है ।

सम्यक्त्वधारी पुरुष अन्यतीर्थिकों द्वारा पूजित देव आदि को वन्दना नमस्कार आदि नहीं करता यह उत्तमर्ग मार्ग है । अपवाद मार्ग में इस विषय के ६ आगार कहे गये हैं—

(१) राजाभियोग (२) गणाभियोग (३) बलाभियोग (४) देवाभियोग (५) गुरुनिग्रह (६) वृत्तिकान्तार ।

इन छः आगारों की विशेष व्याख्या इसके दूसरे भाग के छठे बोल संग्रह के बोल नं० ४५५ में दी गई है ।

आनन्द श्रावक ने भगवान् से फिर अर्ज किया कि हे भगवन् ! अमण निर्ग्रन्थों को प्रायुक्त और एषणीय आहार, पानी, वस्त्र, पात्रादि देना मुझे कल्पता है । तत्पश्चात् आनन्द श्रावक ने बहुत से प्रश्नोत्तर किये और भगवान् को वन्दना नमस्कार कर वापिस

अपने घर आगया । घर आकर अपनी धनेपत्नी शिवानन्दा ने कहने लगा कि हे देवानुप्रिये ! मैंने आज श्रमण भगवान् महावीर स्वामी के पास श्रावक के बाण्ड वन अर्हतीकार किये हैं । तुम भी जाओ और भगवान् की वन्दना समझकर कर श्राविका के बाण्ड वन अर्हतीकार करो । शिवानन्दा ने अपने स्वामी के कदनानुसार भगवान् के पास जाकर बाण्ड वन अर्हतीकार किये और श्रमणोपनिषत् दी ।

श्री गौतम स्वामी के पृच्छने पर भगवान् ने कहा कि आनन्द श्रावक में पास दीक्षा नहीं लेगा किन्तु बहुत वर्षों तक श्रावक धर्म का पालन कर मोक्षार्थ देवलोका के अग्न विमान में चार पण्योपनिषत् की स्थिति वाला देव रूप में उत्पन्न होगा ।

आनन्द श्रावक अपनी पत्नी शिवानन्दा माया सहित अन्य निर्ग्रन्थों की सेवा मानिक करना हुआ आनन्द पूर्वक जीवन व्यतीत करने लगा । एक समय आनन्द श्रावक ने विचार किया कि मैं भगवान् के पास दीक्षा लेने में तो असमर्थ हूँ किन्तु अब मैं लिए यह उचित है कि ज्येष्ठ पुत्र को घर का भार सम्भाल कर एकान्त रूप में धर्मध्यान में समय बिताऊँ । तदनुसार प्रातः काल अपने परिचार के साथ पुरुषों के मानने ज्येष्ठ पुत्र को घर का भार सम्भाल कर आनन्द आरक्ष ने पण्य गाना में आकर धर्म सम्प्रदायक बिछाया और उस पर बैठ कर धर्म गायन करने लगा । इसके पश्चात् आनन्द आरक्ष ने श्रावक का ग्यारह पट्टिमाध्याय की और उनका सप्रानुसार सम्पद प्रकार में आगन्धन किया ।

इस प्रकार उग्र तप करने में आनन्द आरक्ष का मार्ग बहुत दृढ़ (दृढता) होगया । तब आनन्द आरक्ष ने विचार किया

कि जव तक मेरे शरीर में उत्थान, कर्म, बल, वीर्य, पुरुषाकार, पराक्रम हैं और जव तक अमण भगवान् महावीर स्वामी गंधहस्ती की तरह विचर रहे हैं तब तक मुझे संलेखना संथारा कर लेना चाहिए। इस प्रकार आनन्द आवक संलेखना संथारा कर धर्म ध्यान में समय बिताने लगा। परिणामों की विशुद्धता के कारण और ज्ञानावरणीयादि कर्मों का क्षयोपशम होने से आनन्द आवक को अवधिज्ञान उत्पन्न होगया। जिससे पूर्व, पश्चिम और दक्षिण दिशा में लवण समुद्र में पाँच सौ योजन तक और उत्तर में चुल्ल हिमवान् पर्वत तक देखने लगा। उपर सौधर्म देवलोक और नीचे रत्नप्रभा पृथ्वी के लोलुपच्युत नामक नरकावास को, जहाँ चौरासी हजार वर्ष की स्थिति वाले नैरयिक रहते हैं, जानने और देखने लगा।

इसी समय अमण भगवान् महावीर स्वामी ग्रामानुग्राम विहार करते हुए वहाँ पधार गये। उनके ज्येष्ठ शिष्य इन्द्रभूति अनंगार (गौतम स्वामी) बेंले बेंले पारणा करते हुए उनकी सेवा में रहते थे। बेंले के पारण के दिन पहले पहर में स्वाध्याय, दूसरे पहर में ध्यान करके तीसरे पहर में चञ्चलता एवं शीघ्रता रहित मग्न से प्रथम मुखवस्त्रिका की और बाद में वस्त्र, पाय आदि की पड़िलेहणा की। तत्पश्चात् भगवान् की आज्ञा लेकर वाणिज्य ग्राम में गोचरी के लिए पधारे। ऊँच नीच मध्यम कुल से सामुदानिक मित्र। करके वापिस लौट रहे थे। उन समय बहुत से मनुष्यों से ऐसा सुना कि आनन्द आवक पापघ शाला में संलेखना संथारा करके धर्मध्यान करता हुआ विचरता है। गौतम स्वामी आनन्द आवक को देखने के लिए वहाँ गये। गौतम स्वामी के दर्शन कर आनन्द आवक अति प्रसन्न हुआ और अर्ज की कि हे भगवन् ! मेरी उठने की रा

नहीं है। यदि कृपा कर आप कुछ नजदीक पधारे तो मैं मस्त्रक में आपके चरण स्पर्श करूँ। गौतम स्वामी के नजदीक पधारे पर आनन्द ने उनके चरण स्पर्श किये और निवेदन किया कि मुझे अवधिज्ञान उत्पन्न हुआ है जिसमें मैं लवण समुद्र में पाँच माँ योजन यात्रा नीचे लालुयच्युत नरकावास को जानता और देखता हूँ। यह सुन कर गौतम स्वामी ने कहा कि आवक को इनने विस्तार वाला अवधिज्ञान नहीं हो सकता। इसलिए है आनन्द! तुम इस बात के लिए दण्ड प्रायश्चित्त लो। तब आनन्द आवक ने कहा कि हे भगवान्! क्या अन्य बात के लिए भी दण्ड प्रायश्चित्त लिया जाता है? गौतम स्वामी ने कहा— नहीं। आनन्द आवक ने कहा हे भगवान्! तब तो आप स्वयं दण्ड प्रायश्चित्त लीजियेगा। आनन्द आवक के इस कथन को सुन कर गौतम स्वामी के हृदय में शंका उत्पन्न हो गई। अतः भगवान् के पास आवक सारा वृत्तान्त कहा। तब भगवान् ने कहा कि हे गौतम! आनन्द आवक का कथन सुन्य है इसलिए वापिस जाकर आनन्द आवक ने क्षमा माँगी और इस बात का दण्ड प्रायश्चित्त लो। भगवान् के कथनानुसार गौतम स्वामी ने आनन्द आवक के पास जाकर क्षमा माँगी और दण्ड प्रायश्चित्त लिया।

आनन्द आवक ने बीस वर्ष तक श्रमणोपासक पर्याय का पालन किया अर्थात् आवक के व्रतों का मन्त्री प्रकार पालन किया। साठ भक्त अनशुन पूर्वके अर्थात् एक महीने का मन्त्र-गता मन्थाग करके ममाधि मरण में मर कर माधम देवलोक के अस्त्र विमान में देव रूप में उत्पन्न हुआ। वहाँ चार पन्थारन की स्थिति पूर्ण करके महाविदेह क्षेत्र में उत्पन्न होगा और उन्नी भव में मोक्ष प्राप्त करेगा।

(२) कामदेव आवक— चम्पा नगरी में जितशत्रु राजा राज

करता था। नगरी के अन्दर कामदेव नामक एक गाथापति रहता था। उसकी धर्मपत्नी का नाम भद्रा था। कामदेव के पास बहुत धन था। छः करोड़ सोनिये उसके खजाने में थे। छः करोड़ व्यापार में लगे हुए थे और छः करोड़ सोनिये प्रविस्तार (घर का नामान, द्विपद, चतुष्पद आदि) में लगे थे। गाथों के छः गोकुल थे जिस में साठ हजार गाथें थीं। इस प्रकार वह बहुत अद्विसम्पन्न था। आनन्द श्रावक की तरह वह भी नगर में प्रतिष्ठित एवं राजा और प्रजा सभी के लिए मान्य था।

एक समय श्रमण भगवान् महावीर स्वामी वहाँ पधारे। कामदेव भगवान् के दर्शन करने के लिए गया। आनन्द श्रावक की तरह कामदेव ने भी श्रावक के व्रत अङ्गीकार किए और धर्मध्यान करता हुआ विचरने लगा। एक दिन वह पौषपशाला में पौषप करके धर्मध्यान में लगा हुआ था। अर्द्ध रात्रि के समय एक मिथ्यादृष्टि देव कामदेव श्रावक के पास आया। उस देव ने एक महान् पिशाच का रूप बनाया। उसने आँख, कान, नाक, हाथ, जंघा आदि ऐसे विशाल, विकृत और भयङ्कर बनाये कि देखने वाला भयभीत हो जाय। मुँह फाड़ रखा था। जीभ बाहर निकाल रखी थी। गले में गिरगट (किरकाटिया) की माला पहन रखी थी। चूड़ों की माला बना कर कन्धों पर डाल रखी थी। कानों में गहनों की तरह नेवले (नौलिया) पहने हुआ था। सर्पों की माला के समान कानों में चक्रस्थल (छाती) सजा रखा था। हाथ में पिशाच रूप धारी देव पौषपशाला में घूँट रहा था। अति क्रुपित होता हुआ और दाँतों हुआ दोला है कामदेव ! अप्राधिकार का प्राधिकार नहीं करता ऐसी शृङ्ख की हत्या करने वाला।

(कान्ति), धृति (धीमत्त) और कीर्ति में रहित, नृ धर्म, दृग्धर्म, स्वर्ग और मोक्ष की अभिलाषा रखता है। ईशानिण्ड दे कामदेव ! तुमने गुलिनवन, गुणवन, विरमणवन तथा पञ्चक्याण, पापयोरवान आदि में विचलित होकर उन्हें मगिठन करना और छोड़ना नहीं कल्पता है किन्तु मैं तुमसे इनमें विचलित करूँगा। यदि नृ इनमें विचलित नहीं होगा तो इस तलवार की तीक्ष्ण धार से तब गुरीर के टुकड़े टुकड़े कर दूँगा जिसमें आर्च ध्यान करना हुआ अज्ञान में ही जीवन में अलग कर दिया जायगा। पिशाच के ये शूल सुन कर कामदेव आवक को किसी प्रकार का भय, त्राम, डरेण चोम, चञ्चलता और मध्मन न हुआ किन्तु वह निर्भय होकर धर्मध्यान में स्थिर रहा। पिशाच ने दुर्गम धार और तीक्ष्ण धार भी ऐसा ही कहा किन्तु कामदेव आवक किञ्चिन्नात्र भी विचलित न हुआ। उसे अधिचलित देख कर वह पिशाच तनवार में कामदेव के गुरीर के टुकड़े टुकड़े करने लगा। कामदेव इस असह्य और तीव्र वेदना को समभाव पूर्वक सहन करता रहा। कामदेव को निर्ग्रन्थ प्रवचनों में अधिचलित देख कर वह पिशाच अनि कृपित होकर उसे क्रोशता हुआ पापयोरवाना में बाहर निकला। पिशाच का रूप छोड़ कर उसने एक मयङ्कर और मदीन्मन हाथी का रूप धारण किया। पापयोरवाना में आकर कामदेव आवक को अपनी सूँठ में उठाकर ऊपर आकाश में फेंक दिया। आकाश में वापिस गिरते हुए कामदेव को अपने तीक्ष्ण दाँतों पर भेल लिया। फिर जमीन पर पटक कर पैरों में तीन बार गेंदा (ममला)। इस असह्य वेदना को भी कामदेव ने सहन किया। वह जब जग भी विचलित न हुआ तब पिशाच ने एक मयङ्कर महाकाय मर्ष का रूप धारण किया। मर्ष दन कर वह कामदेव के गुरीर पर चढ़ गया। गर्दन को तीन पैरों में नरोट कर

मैं डंक मारा। इतने पर भी कामदेव निर्भय होकर धर्म-
ध्यान में दृढ़ रहा। उसके परिणामों में जरा भी फर्क नहीं
आया। तब वह पिशाच हार गया, दुखी तथा बहुत खिन्न हुआ।
धीरे-धीरे पीछे लौट कर पौषधशाला से बाहर निकला। सर्प
के रूप को छोड़ कर अपना असली देव का दिव्य रूप धारण
किया। पौषधशाला में आकर कामदेव श्रावक से इस प्रकार
कहने लगा—अहो कामदेव श्रमणोपासक! तुम धन्य हो, कृत-पुण्य
हो, तुम्हारा जन्म सफल है। निर्ग्रन्थ प्रवचनों में तुम्हारी दृढ़
श्रद्धा और भक्ति है। हे देवानुप्रिय! एक समय शक्रेन्द्र ने अपने
सिंहासन पर बैठ कर चौरामी हजार सामानिक देव तथा अन्य
बहुत से देव और देवियों के सामने ऐसा कहा कि जम्बूद्वीप
के भरतक्षेत्र की चम्पानगरी में कामदेव नामक एक श्रमणो-
पासक रहता है। आज वह अपनी पौषधशाला में पौषध करने
लाम के संधारे पर बैठा हुआ धर्मध्यान में तल्लीन है। किन्तु
देव, दानव और गन्धर्व में ऐसा सामर्थ्य नहीं है जो कामदेव
श्रावक को निर्ग्रन्थ प्रवचनों से डिगा सके और उसके चित्त को
चञ्चल कर सके। शक्रेन्द्र के इस कथन पर मुझे विधास नहीं
हुआ। इन लिये तुम्हारी परीक्षा करने के लिये मैं यहाँ आया
और तुम्हें अनेक प्रकार के परीपह उपसर्ग उत्पन्न कराए
पहुँचाया, किन्तु तुम जरा भी विचलित न हुए। शक्रेन्द्र ने
तुम्हारी दृढ़ता की जैसी प्रशंसा की थी वास्तव में तुम वैसी ही
हो। मैंने जो तुम्हें कष्ट पहुँचाया उसके लिये मैं क्षमा प्रार्थना
करता हूँ। मुझे क्षमा कीजिये। आप क्षमा करने योग्य हैं।
अब मैं आगे से कभी ऐसा काम नहीं करूँगा। शिष्ट कर
वह देव दोनों हाथ जोड़ कर कामदेव श्रावक के पैरों में
पड़ा। इस प्रकार अपने अपराध की क्षमा पाकर वह

अपने स्थान को चला गया। उपमर्ग रहित होकर कामदेव श्रावक ने पटिमा (कायोन्मर्ग) को पाग अर्थात् गौना।

ग्रामानुग्राम विचरने हुए भगवान् महावीर स्वामी वहाँ पधारे। कामदेव श्रावक को जब इस बात की सूचना मिली तो उसने विचार किया कि जब भगवान् यहाँ पर पधारे हैं तो मैंने निश्चय ही श्रेष्ठ है कि भगवान् को वन्दना नमस्कार करके वहाँ में वापिस लौटने के बाद मैं पाँच पाद और आहार, पानी ग्रहण करूँ। ऐसा विचार कर ममा के योग्य वस्त्र पहन कर कामदेव श्रावक भगवान् के पास पहुँचा और गुंम श्रावक की तरह भगवान् की पर्युपासना करने लगा। धर्म कथा समाप्त होने पर भगवान् ने रात्रि के अन्तर पाँचगाला में बैठे हुए कामदेव को देव द्वारा दिये गये पिशाच, हाथी और सर्प के तीन उपमर्गों का वर्णन किया और श्रमण निर्ग्रन्थ और निर्ग्रन्थियों को सम्बोधित करके फरमाने लगे कि हे आर्यों! जब घर में रहने वाले गृहस्थ श्रावक भी देव, मनुष्य और त्रियैश्वर्य सम्बन्धी उपमर्गों को मनुष्य पूर्वक महन करने हैं और धर्मध्यान में दृढ़ रहने हैं तो डादगाह गणिपिटक के धारक श्रमण निर्ग्रन्थों को तो ऐसे उपमर्ग महन करने के लिए मदा न्यय रहना ही चाहिए। भगवान् की इस बात को मर श्रमण निर्ग्रन्थों ने धिनय पूर्वक स्वीकार किया।

कामदेव श्रावक ने भी भगवान् से बहुत से प्रश्न पूछे और उनका अर्थ ग्रहण किया। अर्थ ग्रहण कर दर्पित होना हुआ कामदेव श्रावक अपने घर आया। उधर भगवान् भी चम्पा नगरी में विहार कर ग्रामानुग्राम विचरने लगे।

कामदेव श्रावक ने ग्यान्ह पटिमाओं का कर्त्ता प्रकार जान्न लिया। वेम वपं नर श्रावक कर्षाण का पालन कर मन्गना संभाल

किया। साठ भक्त अन्तश्शत को पूरा कर अर्थात् एक मान की संलेखना कर समाधि मरण को प्राप्त हुआ और सौधर्म देवलोक में सौधर्मावतंसक महाविमान के ईशान कोण में स्थित अरुणाभ नामक विमान में उत्पन्न हुआ। वहाँ चार पत्न्योपम की स्थिति को पूर्ण करके महाविदेह क्षेत्र में उत्पन्न होगा और उसी भव में निद्रा, बुद्ध यावत् मुक्त होकर सब दुःखों का अन्त कर मोक्ष सुख को प्राप्त करेगा।

(३) चुलनीपिता श्रावक— वाराणसी (बनारस) नगरी में जितशत्रु राजा राज्य करता। उसी नगरी में चुलनीपिता नाम का एक गाथापति रहता था। वह सब तरह से सम्पन्न और अपरिभूत था। उसके श्यामा नाम की धर्मपत्नी थी। चुलनीपिता के पास बहुत श्रद्धि थी। आठ करोड़ सानैये खजाने में रखे हुए थे, आठ करोड़ व्यापार में और आठ करोड़ प्रविस्तार (धन्य धान्यादि) में लगे हुए थे। दस हजार गायों के एक गोकुल के हिसाब से आठ गोकुल थे अर्थात् उसके पास कुल अस्सी हजार गायें थीं। वह उस नगर में आनन्द श्रावक की तरह प्रतिष्ठित एवं मान्य था। एक समय भगवान् महावीर स्वामी वहाँ पधारे। वह भगवान् को चन्दना नमस्कार करने गया और कामदेव श्रावक की तरह उसने भी श्रावक के व्रत अङ्गीकार किये। एक समय वह पौषभोषवास कर पौषभशाला में बैठा हुआ धर्मध्यान कर रहा था। अर्द्ध रात्रि के समय उसके सामने एक देव प्रकट हुआ और कहने लगा कि यदि तू अपने व्रत निष्पत्ति को नहीं भाँगिगा तो मैं तेरे बड़े लड्डू के को यहाँ लाकर तेरे सामने उसकी पात करूँगा, फिर उसके तीन डकड़े करके उबलते हुए गर्म तेल की कड़हली में डालूँगा और फिर उनका मांस और चून तेरे शरीर पर छिड़कूँगा जिससे

तू आर्चध्यान करता हुआ अकाल में ही मृत्यु को प्राप्त होगा। देव ने इस प्रकार दो बार तीन बार कहा किन्तु चुलनीपिता जग भी भयभ्रान्त नहीं हुआ। तब देव ने रवमा ही किया। उसके बड़े लड़के को मार कर तीन टुकड़े किये। कड़ाही में उबाल कर चुलनीपिता श्रावक के शरीर को मृन् और मांस में मीचने लगा। चुलनीपिता श्रावक ने उस अमर वेदना को समभाव पूर्वक सहन किया। उसे निर्मय देव कर देव श्रावक के दूधर और तीमर पुत्र की धान कर उनके मृन् और मांस में श्रावक के शरीर को मीचने लगा किन्तु चुलनीपिता अपने धर्म में विचलित नहीं हुआ। तब देव कहने लगा कि हे अनिष्ट के कामी चुलनीपिता श्रावक! यदि तू अपने व्रत नियमादि को नहीं तोड़ता है तो अब मैं तेरी देव गुरु तुल्य पूज्य माना को तेरे घर में लाता हूँ और इसी तरह उसकी भी धान करके उसके मृन् और मांस में तेरे शरीर को मीचूँगा। देव ने एक वक्त दो वक्त और तीन वक्त ऐसा कहा तब श्रावक देव के पूर्व कार्यों को विचारने लगा कि हमने मेरे बड़े, मझले और सब से छोटे लड़के को मार कर उनके मृन् और मांस में मेरे शरीर को मीचा। मैं इन मर को सहन करना रहा अब यह मेरी माता भद्रा मायदाही, जो कि देव गुरु तुल्य पूजनीय है, उसे भी मार देना चाहता है। यह पुरुष अनाय है और अनाय पाप कर्मों का आचरण करता है। अब इन पुरुष को पकड़ लेना ही अच्छा है। ऐसा विचार कर वह उठा किन्तु देव तो आकाश में भाग गया। चुलनीपिता के हाथ में एक मृन्मा आगया और वह जोर जोर से चिन्ताने लगा। उस चिन्तादृष्ट को मृन् कर भद्रा मायदाही यहाँ आकर कहने लगी कि पुत्र! तुम ऐसे जोर जोर से क्यों चिन्ताने हो। तब चुलनीपिता श्रावक ने मार्ग वृत्तान्त अपनी माता भद्रा मायदाही से

कहा । यह सुन कर भद्रा कहने लगी कि हे पुत्र ! कोई भी पुरुष तुझारे किसी भी पुत्र को घर से नहीं लाया और न तेरे सामने मारा ही है । किसी पुरुष ने तुझे यह उपसर्ग दिया है ! तेरी देखी हुई घटना मिथ्या है । क्रोध के कारण उस हिंसक और पाप बुद्धि वाले पुरुष को पकड़ लेने के लिए तेरी प्रवृत्ति हुई है इसलिए भाव से स्थूल प्राणातिपात विरमण व्रत का भङ्ग हुआ है । पौपथ व्रत में स्थित श्रावक को सापराधी और निरपराधी दोनों तरह के प्राणियों की हिंसा का त्याग होता है । अत्यन्त पूर्वक दौड़ने से पौपथ का और क्रोध के आने से कपाय त्याग रूप उत्तर गुण (नियम) का भी भङ्ग हुआ है । इसलिए हे पुत्र ! अब तुम दण्ड प्रायश्चित्त लेकर अपनी आत्मा को शुद्ध करो ।

चुलनीपिता श्रावक ने अपनी माता की बात को विनय पूर्वक स्वीकार किया और आलोचना कर दण्ड प्रायश्चित्त लिया ।

चुलनीपिता श्रावक ने आनन्द श्रावक की तरह श्रावक की ग्यारह पडिमाएं अङ्गीकार की और वृत्त के अनुसार उनका नथावत् पालन किया । अन्त में कामदेव श्रावक की तरह समाधि मरण को प्राप्त कर सौधर्मा देवलोक में सौधर्मावतंसक विमान के ईशान कोण में अरुणाम विमान में देव रूप से उत्पन्न हुआ । वहाँ चार पण्योपम की आयुष्य पूरी करके महाविदेह क्षेत्र में जन्म लेगा और उसी भव में मोक्ष जायगा ।

(४) सुरादेव श्रावक— वनारस नाम की नगरी में जितशत्रु राजा राज्य करता था । उस नगरी में सुरादेव नामक एक गाथापति रहता था । उसके पास अठारह करोड़ सौदेवों की सम्पत्ति थी और छः लाखों के शोकृत्त थे । उसके धन्या नाम की धर्मपत्नी थी । एक समय वहाँ पर भगवान् महावीर स्वामी पधारे । सुरादेव ने भगवान् के पास श्रावक के व्रत दाखीकर किए ।

एक समय सुरादेव पापघ करके पापघशाला में बैठा हुआ धर्मध्यान में तल्लीन था। अद्वै रात्रि के समय उमके सामने एक देव प्रकट हुआ और सुरादेव से बोला कि यदि तू अपने व्रत नियमादि को नहीं तोड़गा तो मैं तेरे बड़े बेटे को मार कर उमके शरीर के पाँच टुकड़े करके उबलते हुए तेल की कढ़ाही में डाल दूँगा और फिर उमके मांस और मूत्र से तेरे शरीर को सींचूँगा जिससे तू आर्चध्यान करता हुआ अकाल मरण प्राप्त करेगा। इसी प्रकार मझले और छोटे लड़के के लिए भी कहा और वैसा ही किया किन्तु सुरादेव जरा भी विचलित न हुआ। प्रत्युत उस असह्य वेदना को सहन करता रहा। सुरादेव श्रावक को अविचलित देख कर वह देव इस प्रकार कहने लगा कि हे अनिष्ट के कामी सुरादेव ! यदि तू अपने व्रत नियमादि को भङ्ग नहीं करेगा तो मैं तेरे शरीर में एक ही साथ (१) श्वाम (२) कास (३) ज्वर (४) दाह (५) कुचिशूल (६) भगन्दर (७) अर्श (ववासीर) (८) अजीर्ण (९) दृष्टिरोग (१०) मन्तकशूल (११) अरुचि (१२) अचिवेदना (१३) कर्णवेदना (१४) रुजनी (१५) पेट का रोग और (१६) कोढ़, ये मोलह रोग डाल दूँगा जिसमें तू तड़प तड़प कर अकाल में ही प्राण छोड़ देगा।

इतना कहने पर भी सुरादेव श्रावक भयभीत न हुआ। तब देव ने दूसरी बार और तीसरी बार भी ऐसा ही कहा। तब सुरादेव श्रावक को विचार आया कि यह पुरुष अनार्य मान्य होता है। इसे पकड़ लेना ही अच्छा है। ऐसा विचार कर वह उठा किन्तु देव तो आकाश में भाग गया, उमके हाथ में एक गुम्मा आ गया जिसे पकड़ कर वह कोलाहल करने लगा। तब उमकी स्त्री धन्या आई और उमसे माग वृत्तान्त सुन कर सुरादेव से कहने लगी कि हे आर्य ! आपके तीनो लड़के आनन्द

में हैं। किसी पुरुष ने आपको यह उपसर्ग दिया है। आपके व्रत नियम आदि भङ्ग हो गए हैं। अतः आप दण्ड प्रायश्चित्त लेकर अपनी आत्मा को शुद्ध करो। तब सुरादेव आवक ने व्रत नियम आदि भङ्ग होने का दण्ड प्रायश्चित्त लिया।

अन्तिम समय में संलेखना द्वारा समाधि मरण प्राप्त कर सौधर्म कल्प में करुण कान्त विमान में देव रूप से उत्पन्न हुआ। चार पल्योपम की आयु पूरी करके महाविदेह क्षेत्र में उत्पन्न होगा और वहीं से उसी भव में मोच जायगा।

(५) चुल्ल शतक आवक— आलम्बिका नामक नगरी में जितशत्रु राजा राज्य करता था। उस नगरी में चुल्लशतक (क्षुद्रशतक) नाम का एक गाथापति रहता था। वह बड़ा धनदायक सेठ था। उसके पास अठारह करोड़ सोनैयों थे और गायों के लः गोदुल्ल थे। उसकी भार्या का नाम बहुला था। एक समय श्रमण भगवान् महावीर वहाँ पधारे। चुल्लशतक ने आनन्द आवक की तरह आवक के व्रत अङ्गीकार किए। एक समय वह पौषधशाला में पौषध करके धर्मध्यान में स्थित था। अर्द्धरात्रि के समय एक देव उसके सामने प्रकट हुआ। हाथ में तलवार लेकर वह चुल्लशतक आवक से कहने लगा कि यदि तू अपने व्रत नियमादि का भङ्ग नहीं करेगा तो मैं तेरे बड़े लड़के की तेरे सामने धात करूँगा और उसके सात डकड़े करके उचलते हुए तेल की कढ़ाही में डाल कर खून और मांस से तेरे शरीर को सींचूँगा। इसी तरह दूसरे और तीसरे लड़के के लिये भी कहा और वेंसा ही किया किन्तु चुल्लशतक आवक धर्मध्यान में विचलित न हुआ तब देव ने उससे कहा कि तेरे अठारह करोड़ सोनैयों को घर से लाकर आलम्बिका नगरी के बागों और चौराहों में बिखेर दूँगा। देव ने दूसरी और तीसरी

हमी तरह कड़ा, तब आवक की विचार आया कि यह पुत्र अनार्य है इसे पकड़ लेना चाहिए। ऐसा विचार कर वह मुगद्वे आवक की तरह उठा। देव के चले जाने में मन्मा हाथ में आगया। मन्मशास्त्र उमकी मागी ने चिन्ताने का कारण हुआ। सब वृत्तान्त सुन कर उसने बुद्धगुणक को दण्ड प्रायश्चित्त लेने के लिए कहा। तदनुसार उसने दण्ड प्रायश्चित्त लेकर अपनी आत्मा को मुक्त किया।

अन्त में संन्यस्ता कर समाधि भग्ग पूर्वक देह त्याग कर सौवर्ध कल्प में अरुणसिद्ध विमान में देव रूप में उन्नत हुआ। चार पञ्चायन की स्थिति पूर्ण करके वह महाविदेह क्षेत्र में जन्म ले कर सोच शान करेगा।

(६) कृष्टकोनिक आवक—कम्पिनपुर नगर में त्रितगुरु गङ्गा राज्य करता था। उस नगर में कृष्टकोनिक गायकान्ते रहता था। उसके पास अष्टाष्ट कंगेड़ मोर्नियों की मन्मनि थी और गायों के छः गोठल थे। वह नगर में प्रतिष्ठित एवं मान्य था। एक समय अमरग भगवान् महार्थी स्वामी वहाँ पधारे। कृष्टकोनिक गायकान्ति दर्शनायें गया और आनन्द आवक की तरह उसने भी भगवान् के पास आवक के व्रत अर्होत्तर किए।

एक समय कृष्टकोनिक आवक दोरहर के समय अनेकदम में हृषीगिन्तासुहृ। पन्धर की चौकी। की ओर आता। मन्मामादित्त मुट्टिका और दुपट्टा उतार कर गिला पर रख दिया और धर्म-ध्यान में लग गया। ऐसे समय में उसके सामने एक देव प्रकट हुआ और उसकी मुट्टिका और दुपट्टा उठा कर आराग में गरा। होकर इस प्रकार कहने लगा कि हे कृष्टकोनिक आवक! मन्मनि-पुत्र गोग्गालक की धर्मप्रवर्ति सुन्दर। हितकर। हे क्योंकि उसके मन में उन्धान, कर्म, व्रत, वीर्य, पुण्याकार, भगवन् कृष्ट की मदी

हैं। सब पदार्थ नियत हैं। श्रमण भगवान् महावीर स्वामी की धर्मप्रज्ञाति सुन्दर नहीं है, क्योंकि उसमें उत्थानादि सब कर्म हैं और नियत कुछ भी नहीं है। देव के ऐसा कहने पर कुण्डकोलिक श्रावक ने उससे पूछा कि हे देव ! जैसा तुम कहते हो यदि वैसा ही है तो वतलाओ यह दिव्य ऋद्धि, दिव्य कान्ति और दिव्य देवानुभाव (अलौकिक प्रभाव) तुम्हें कैसे प्राप्त हुए हैं ? क्या बिना ही पुरुषार्थ किये ये सब चीजें तुम्हें प्राप्त हो गई हैं ? देव—हे देवानुप्रिय ! यह दिव्य ऋद्धि, कान्ति आदि सब पदार्थ मुझे पुरुषार्थ एवं पराक्रम किए बिना ही प्राप्त हुए हैं।

कुण्डकोलिक—हे देव ! यदि तुम्हें ये सब पदार्थ बिना ही पुरुषार्थ किए मिल गए हैं तो जिन जीवों में उत्थान, पुरुषार्थ आदि नहीं हैं ऐसे वृक्ष, पापाण आदि देव क्यों नहीं हो जाते अर्थात् जब देवऋद्धि प्राप्त करने के लिए पुरुषार्थ की आवश्यकता नहीं है तो एकेन्द्रिय आदि समस्त जीवों को देवऋद्धि प्राप्त हो जानी चाहिए। यदि यह ऋद्धि तुम्हें पुरुषार्थ से प्राप्त हुई है तो फिर तुम्हारा यह कहना कि मंखलिपुत्र गोशालक की “उत्थान आदि नहीं हैं। समस्त पदार्थ नियत हैं।” यह धर्मप्रज्ञाति अच्छी है और श्रमण भगवान् महावीर की “उत्थान आदि हैं। पदार्थ केवल नियत नहीं हैं।” यह प्रत्यक्षा ठीक नहीं है। इत्यादि तुम्हारा कथन मिल्या है। क्योंकि उत्थान आदि फल की प्राप्ति में कारण हैं। प्रत्येक फल की प्राप्ति के लिए क्रिया की आवश्यकता रहती है।

कुण्डकोलिक श्रावक के इस युक्ति पर उत्तर को सुन कर उस देव के हृदय में शंका उत्पन्न हो गई कि गोशालक का मत ठीक है या भगवान् महावीर का ? बाद विवाद में पराजित हो जाने के कारण उसे आत्मसन्तानि भी पैदा हुई। वह देव

श्रावक को कुछ भी जवाब देने में समय नहीं हुआ। इसलिए श्रावक की स्वनामाङ्कित मुद्रिका और दुपट्टा जहाँ से उठाया था उन शिला पट्ट पर रख कर स्वस्थान को चला गया।

उस समय श्रमण भगवान् महावीर स्वामी ग्रामानुग्राम विहार करने हुए वहाँ पधारे। भगवान् का आगमन सुन कर कूण्डकोनिक बहुत प्रसन्न हुआ और भगवान् के दर्शन करने के लिए गया। भगवान् ने उस देव और कूण्डकोनिक के बीच जो प्रश्नोत्तर हुए, उनका जिक्र कर कूण्डकोनिक से पूछा कि क्या यह बात सत्य है? कूण्डकोनिक ने उत्तर दिया कि हे भगवन् ! जैना धर्म परमाते हैं वेमा ही यत्ना में माय हुई है। तब भगवान् सब श्रमण निर्ग्रन्थ और निर्ग्रन्थियों को बुला कर परमात्मा ने कि गृहस्थाश्रम में रहते हुए, गृहस्थ भी अन्य गृहियों को धर्म, हेतु, प्रश्न और युक्तियों में निरुत्तर कर सकते हैं तो हे आर्यो ! डाढ़शांग का अध्ययन करने वाले श्रमण निर्ग्रन्थों को तो उनके (अन्यगृहियों को) हेतु और युक्तियों में अवश्य ही निरुत्तर करना चाहिए।

सब श्रमण निर्ग्रन्थों ने भगवान् के इस कथन को विनर के साथ तर्कान्तर (नयान्तर) कह कर स्वीकार किया।

कूण्डकोनिक श्रावक को धन, निधन, शान्ति आदि का पानन करने हुए चौदह वर्ष व्यतीत होगये। जब पन्द्रहवां वर्ष बीत गया था तब एक समय कूण्डकोनिक ने अपने घर का नाम अपने जन्तु पुत्र को मार दिया और आप धर्मध्यान में समय बिताने लगा। स्वर्णतिलक में श्रावक की ग्याह पट्टमायो का आगमन किया। अग्निमय समय में संन्यस्ता कर मीधमं कन के अरुणध्वज विमान में देखने में उत्पन्न हुआ। वहाँ से पर का महाविदेह क्षेत्र में जन्म लेकर मोक्ष जायगा।

(७) सद्दालपुत्र श्रावक—पोलासपुर नगर में जितशत्रु राजा राज्य करता था। उस नगर में सद्दालपुत्र (सकडालपुत्र) नामक एक कुम्हार रहता था। वह आजीविक (गोशालक) मत का अनुयायी था। गोशालक के सिद्धान्तों का प्रेम और अनुराग उसकी रगरग में भरा हुआ था। गोशालक का सिद्धान्त ही अर्थ है, परमार्थ है दूसरे सब अनर्थ हैं, ऐसी उसकी मान्यता थी। सद्दालपुत्र श्रावक के पास तीन करोड़ सोनेयों की सम्पत्ति थी। दस हजार गायों का एक गोकुल था। उसकी पत्नी का नाम शशिमित्रा था। पोलासपुर नगर के बाहर सद्दालपुत्र की पाँच सौ दुकानें थीं। जिन पर बहुत से नाँकर काम किया करते थे। वे जल भरने के बड़े, छोटी घड़लियाँ, कलश (बड़े बड़े माटे) सुराही, कुंजे आदि अनेक प्रकार के मिट्टी के चर्तन बना कर बेचा करते थे।

एक दिन दोपहर के समय वह अशोक वन में जाकर धर्मध्यान में स्थित था। इसी समय एक देव उसके सामने प्रकट हुआ। वह कहने लगा कि त्रिकाल ज्ञाता, केवल ज्ञान और केवल दर्शन के धारक, अरिहन्त, जिन, केवली महामाहण कल यहाँ पधारेंगे। अतः उनको वन्दना करना, भक्ति करना तथा पीठ, फलक, शय्या, संस्तारक आदि के लिए विनति करना तुम्हारे लिए योग्य है। दो तीन बार ऐसा कह कर देव वापिस अपने स्थान को चला गया। देव का कथन सुन कर सद्दालपुत्र विचारने लगा कि मेरे धर्माचार्य मंखलिपुत्र गोशालक ही उपरोक्त गुणों से युक्त महामाहण हैं। वे ही कल यहाँ पधारेंगे।

दूसरे दिन प्रातः काल श्रमण भगवान् महावीर स्वामी वहाँ पधारे। नगर निवासी लोग वन्दना करने के लिये निकले। महामाहण का आगमन सुन सद्दालपुत्र विचारने लगा कि भगवान् महावीर स्वामी यहाँ पधारें हैं तो मैं भी उन्हें वन्दना नमस्कार करने

जाऊँ । ऐसा विचार कर स्नान कर समा में जाने योग्य वस्त्र पहन कर महत्वाग्रवन उद्यान में भगवान् की वन्दना नमस्कार करने के लिए गया । भगवान् ने धर्मकथा कही । इसके बाद महानपुत्र में उस देव के आगमन की बात पड़ी । महानपुत्र ने कहा-हाँ भगवन ! आपका कथन यथार्थ है । कल एक देव ने मेरे में ऐसा ही कहा था । तब भगवान् ने कहा कि उस देव ने भगवन्निपुत्र गोगालक को लजित कर ऐसा नहीं कहा था । भगवान् की बात सुन कर महानपुत्र विचरने लगा कि भगवान् महावीर ही सर्वज्ञ, सर्वदर्शी, महामाह्य हैं । पीठ फलक, शय्या, मंमन्त्रक के लिए मुझे इनमें विनति करनी चाहिए । ऐसा विचार कर उसने भगवान् से विनति की कि पौलामपुर नगर के बाहर मेरी पाँच सौ दुकानें हैं । वहाँ मैं पीठ, फलक, शय्या, मंमन्त्रक लेकर आप विचरें । भगवान् महावीर ने उसकी प्रार्थना को सुना और यथावसर महानपुत्र की पाँच सौ दुकानों में मैं पीठ फलक आदि लेकर विचरने लगे ।

एक दिन महानपुत्र अपनी श्रन्दर की शाला में मैं गीने मिट्टी के वर्तन निकाल कर मुग्धान के लिए धूप में रख रहा था । तब भगवान् ने महानपुत्र से पूछा कि ये वर्तन कैसे बने हैं । महानपुत्र-भगवन ! पहले मिट्टी लाई गई । उस मिट्टी में गन्ध आदि मिलाए गए और पानी में मींगो कर बह मूत्र रोटी गई । तब मिट्टी वर्तन बनाने के योग्य होगई, तब उसे चारु पर रख कर ये वर्तन बनाये गए हैं ।

भगवान्-हे महानपुत्र ! ये वर्तन उन्धान, दल, धार, दृक्ताकार आदि में बने हैं या बिना ही उन्धान आदि के बन हैं ?

महानपुत्र- ये वर्तन उन्धान दृक्ताकार पगाक्रम के बिना ही बन गये हैं क्योंकि उन्धानादि तो है ही नहीं । तब पदार्थ

गोशालक— श्रमण भगवान् महावीर महामाहण के लिए ।
नदालपुत्र— किन्तु अभिप्राय से आप श्रमण भगवान् महावीर

को महामाहण कहते हैं ?
गोशालक— है नदालपुत्र ! श्रमण भगवान् महावीर स्वामी

केवलज्ञान, केवलदर्शन के धारक हैं । वे इन्द्र नरेन्द्रों द्वारा सहित
एवं पूजित हैं । इन्हीं अभिप्राय से मैं कहता हूँ श्रमण भगवान्
महावीर स्वामी महामाहण हैं ।

गोशालक—नदालपुत्र ! क्या यहाँ महागोप (प्राणियों के रक्षक)
पधारें थे ?

नदालपुत्र—आप किसके लिए महागोप शब्द का प्रयोग कर रहे हो ?
गोशालक— श्रमण भगवान् महावीर स्वामी के लिए ।

नदालपुत्र— आप किन्तु अभिप्राय से श्रमण भगवान् महावीर
को महागोप कहते हैं ?

गोशालक— संसार रूपी विकट अटवी में अवचन से अट होने
वाले, प्रति क्षण मरने वाले, मृग आदि डरपोक योनियों में उत्पन्न

होकर सिंह व्याघ्र आदि से खाये जाने वाले, मनुष्य आदि
श्रेष्ठ योनियों में उत्पन्न होकर युद्ध आदि में कटने वाले तथा

गाले आदि से बंधे जाने वाले, चोरी आदि करने पर नाक
कान आदि काट कर अंग हानि बनाए जाने वाले तथा अन्य

अनेक प्रकार के दुःख और त्रास पाने वाले प्राणियों को धर्म
का स्वरूप समझा कर अन्यन्त एवं अव्यावाय्य सुख के न्यान

मोक्ष में पहुँचाने वाले श्रमण भगवान् महावीर हैं । इन अभिप्राय
से मैंने उनको महागोप कहा है ।

गोशालक— नदालपुत्र ! क्या यहाँ महामाधवेष्ट पधारें थे ?
नदालपुत्र— आप किन्तु महामाधवेष्ट कहते हैं ?

गोशालक—श्रमण भगवान् महावीर को मैं महामाधवेष्ट कहता हूँ ।

बैल जुड़े हुए हों, जिसका थोमरा विन्दुक्त भावा, उत्तम और अच्छी बनावट वाला हो। आजा पाकर नौकरों ने गाँव ही बंमार ख लाकर उपस्थित किया। अग्रिमित्रा माया ने स्नान आदि करके उत्तम वस्त्र पहने और अन्ध भार एवं बहुमूल्य वाने आभूषणों ने गरीर को अलंकृत कर बहुत सी दामियों को साथ लेकर ख पर मवार हुई। सहस्रात्र वन में आकर ख में नीचे उतरी। भगवान् को वन्दना नमस्कार कर खड़ी खड़ी भगवान् की पयुपामना करने लगी। भगवान् का धर्मोपदेश सुन कर अग्रिमित्रा माया ने श्राविका के व्रत स्वीकार किये। फिर भगवान् को वन्दना नमस्कार कर वह वापिस अपने घर चली आई। भगवान् पोलामपुर से विहार कर अन्यत्र विचरने लगे। जीव-जीवादि नव तत्त्वों का ज्ञाता श्रावक वन कर मदानपुर भी वन ध्यान में समय बिताने लगा।

मंगलपुत्र गोगालक ने जब यह श्रुतान्त सुना कि मदानपुर ने श्राविक मत को न्याग कर निर्ग्रन्थ श्रमण का मत अङ्गीकार किया है तो उसने सोचा “मैं जाऊँ और श्राविकोंसमक्ष मदानपुत्र को निर्ग्रन्थ श्रमण मत का न्याग करवा कर नि श्राविक मत का अनुयायी बनाऊँ” ऐसा विचार कर अपनी शिष्य भण्डनी सहित वह पोलामपुर नगर में आता। श्राविक समा में अपने भण्डोपकरण रख कर अपने कुछ शिष्यों को साथ लेकर मदानपुर श्रावक के पास आया। गोगालक को ज्ञान देकर मदानपुत्र श्रावक ने किसी प्रकार का आदर मन्दाग नहीं किया किन्तु चुपचाप बैठा रहा। तब पीठ, कलक, गुप्ता, मन्दाग आदि लेने के लिये भगवान् महावीर के गुणश्रान करना हुआ गोगालक बोला— हे देवानुप्रिय! क्या यहाँ महामादग वसते हैं? मदानपुत्र— आप किम महामादग के लिए पृथक् रहे हैं?

गोशालक—संसार रूपी सहान् समुद्र में नष्ट होने वाले, डूबने वाले, बारम्बार गोलें खाने वाले तथा बहने वाले बहुत से जीवों को धर्म रूपी नौका से निवारण रूपी किनारे पर पहुँचाने वाले श्रमण भगवान् महावीर हैं। इस लिए उन्हें महाप्रियमिक कहा है। फिर महालिपुत्र श्रावक संखलिपुत्र गोशालक से इस प्रकार कहने लगा कि हे देवानुप्रिय ! आप अवसरज्ञ (अवसर को जानने वाले) हैं और वाणी में बड़े चतुर हैं। क्या आप मेरे धर्माचार्य धर्मापदेशक श्रमण भगवान् महावीर के साथ विवाद (शास्त्रार्थ) करने में समर्थ हैं ?

गोशालक— नहीं।

महालिपुत्र— देवानुप्रिय ! आप इस प्रकार इन्कार क्यों करते हैं ? क्या आप भगवान् महावीर के साथ शास्त्रार्थ करने में असमर्थ हैं ?

गोशालक— जैसे कोई बलवान् पुरुष किसी बकरे, मेंढे, खर, भेड़, तीतर, बटेर, लावक, कबूतर, कौआ, बाज आदि पक्षी को उसके हाथ, पैर, मुख, पूँछ, पंख, बाल आदि जिन किसी जगह से पकड़ता है वह वही उसे निश्चल और निःस्पन्द करके दबा देता है। जरा भी इधर-उधर हिलने नहीं देता है। इसी प्रकार श्रमण भगवान् महावीर से मैं जहाँ कहीं कुछ प्रश्न करता हूँ अनेक हेतुओं और युक्तियों से वे वहीं मुझे निरुत्तर कर देते हैं। इसलिए मैं तुम्हारे धर्माचार्य धर्मापदेशक श्रमण भगवान् महावीर स्वामी से शास्त्रार्थ करने में असमर्थ हूँ।

तब महालिपुत्र श्रमणोपासक ने गोशालक से कहा कि आप मेरे धर्माचार्य के, नवार्थ गुणों का कीर्तन करते हैं। इसलिए मैं आपको पीठ, फलक, शय्या, संस्तानक आदि देता हूँ किन्तु कोई धर्म या तप समझ कर नहीं। इसलिए आप मेरी दूकानों पर से पीठ, फलक शय्या आदि ले लीजिए। महालिपुत्र

मदालपुत्र— किम अमिप्राय मे आप श्रमण भगवान् महावीर को महामार्थवाद कहने हैं ?

गोशालक— श्रमण भगवान् महावीर स्वामी संसार रूपी अटवी में नष्ट अष्ट यावन् विकल्पाह्न किये जाने वाले बहुत से जीवों को धर्म का मार्ग बता कर उनका संरक्षण करने हैं और मोक्ष रूपी महा नगर के मन्मग्न करने हैं । इस लिए भगवान् महावीर स्वामी महामार्थवाद हैं ।

गोशालक—देवानुप्रिय ! क्या यहाँ महा धर्मकथी (धर्मोपदेष्टा) पधारे थे ?

मदालपुत्र— आप महाधर्मकथी शब्द का प्रयोग किमके लिए कर रहे हैं ?

गोशालक—महाधर्मकथी शब्द का प्रयोग श्रमण भगवान् महावीर स्वामी के लिए है ।

मदालपुत्र—श्रमण भगवान् महावीर को आप महाधर्मकथी इन अमिप्राय में कहने हैं ?

गोशालक—संसार रूपी विकट अटवी में मिथ्यान्व के प्रचल उदय में सुमार्ग को छोड़ कर कुमार्ग (मिथ्यान्व) में गमन करने वाले कर्मों के बल संसार में चकर गाने वाले प्राणियों को धर्मकथा कह कर यावन् प्रतिबोध देकर चार गति वाले संसार में पार लगाने वाले श्रमण भगवान् महावीर स्वामी हैं । इस लिए उन्हें महाधर्मकथी (धर्म के महान् उपदेष्टा) कहा है ।

गोशालक— मदालपुत्र ! क्या यहाँ महानिर्यामक पधारे थे ?

मदालपुत्र— आप महानिर्यामक किसे कहने हैं ?

गोशालक—श्रमण भगवान् महावीर स्वामी को ।

मदालपुत्र— श्रमण भगवान् महावीर को आप किम अमिप्राय में महानिर्यामक कहने हैं ?

गोशालक—संसार रूपी महात्सु समुद्र में नष्ट होने वाले, डूबने वाले, बारम्बार गिरने खाने वाले तथा बहने वाले बहुत से जीवों को धर्म रूपी नौका से निर्वाण रूपी किनारे पर पहुँचाने वाले श्रमण भगवान् महावीर हैं। इस लिए उन्हें महातिर्यमिक कहा है।

फिर सद्दालपुत्र श्रावक संखलिपुत्र गोशालक से इस प्रकार कहने लगा कि हे देवानुप्रिय ! आप अवसरज्ञ (अवसर को जानने वाले) हैं और वाणी में बड़े चतुर हैं। क्या आप मेरे धर्माचार्य धर्मोपदेशक श्रमण भगवान् महावीर के साथ विवाद (शास्त्रार्थ) करने में समर्थ हैं ?

गोशालक— नहीं।

सद्दालपुत्र— देवानुप्रिय ! आप इस प्रकार इन्कार क्यों करते हैं ? क्या आप भगवान् महावीर के साथ शास्त्रार्थ करने में असमर्थ हैं ?

गोशालक— जैसे कोई बलवान् पुरुष किसी बकरे, गेंदे, खैर, भुर्गे, तीतर, बटेर, लावक, कबूतर, कौआ, बाज आदि पक्षी को उसके हाथ, पैर, खुर, पूँछ, पंख, बाल आदि जिम किसी जगह से पकड़ता है वह वहीं उसे निश्चल और निःस्पन्द करके दया देता है। जरा भी इधर उधर हिलने नहीं देता है। इसी प्रकार श्रमण भगवान् महावीर से मैं जहाँ कहीं कुछ प्रश्न करता हूँ अनेक हेतुओं और युक्तियों से वे वहीं मुझे निरुत्तर कर देते हैं। इसलिए मैं तुम्हारे धर्माचार्य धर्मोपदेशक श्रमण भगवान् महावीर स्वामी से शास्त्रार्थ करने में असमर्थ हूँ।

तब सद्दालपुत्र श्रमणोपासक ने गोशालक से कहा कि आप मेरे धर्माचार्य के, यथार्थ गुणों का कीर्तन करते हैं। इसलिए मैं आपको पीठ, फलक, शय्या, संस्तारक आदि देना है किन्तु कोई धर्म या तप समझ कर नहीं। इसलिए आप मेरी दुकानों पर से पीठ, फलक शय्या आदि ले लीजिए। सद्दालपुत्र

श्रावक की बात सुन कर गोशालक उसकी दूकानों से पीठ फलक आदि लेकर विचरने लगा । जब गोशालक हेतु और युक्तियों से, प्रतिबोधक वाक्यों से और अनुनय विनय से सद्दाल-पुत्र श्रावक को निर्ग्रन्थ प्रवचनों से चलाने में समर्थ नहीं हुआ तब श्रान्त, उदास और ग्लान (निराश) होकर पोलासपुर नगर से निकल कर अन्यत्र विचरने लगा ।

व्रत, नियम, पापघोषवास आदि का सम्यक् पालन करते हुए सद्दालपुत्र को चौदह वर्ष बीत गये । पन्द्रहवां वर्ष जब चल रहा था तब एक समय सद्दालपुत्र पापघ करके पापघशाला में धर्मध्यान कर रहा था । अर्द्ध रात्रि के समय उसके सामने एक देव प्रकट हुआ । चुलनीपिता श्रावक की तरह सद्दालपुत्र को भी उपसर्ग दिये । उसके तीनों पुत्रों की घात कर उनके नाँ नाँ डकड़े किए और उनके खून और मांस में सद्दालपुत्र के शरीर को मीचा । इतना होने पर भी जब सद्दालपुत्र निर्भय बना रहा तब देव न चाँधी वक्त कहा कि यदि तू अपने व्रत नियम आदि को नहीं तोड़ेगा तो मैं तेरी धर्ममहायिका (धर्म में सहायता देने वाली) धर्म वैद्य (धर्म को सुरक्षित रखने वाली), धर्म के अनुराग में रंगी हुई, तेरे मुर दुःख में समान महायता देने वाली अग्निमित्रा भाग्या को तेरे घर में लाकर तेरे मामने उमकी बात कर उमक खून और मांस में तेरे शरीर को मीचूँगा । देव के दो बार तीन बार यही बात कहने पर सद्दालपुत्र श्रावक के मन में विचार आया कि यह कोई अनार्य पुरुष है । मैं पकड़ लेना ही अच्छा है । पकड़ने के लिए ज्यों ही सद्दालपुत्र उठा त्यों ही देव तो आकाश में भाग गया और उमके हाथ में गम्भा आगया । उमका कोलाहल सुन उमकी अग्निमित्रा भाग्या वहाँ आई और माग वृत्तान्त सुन कर उमने सद्दालपुत्र श्रावक में

दण्ड प्रायश्चित्त लेने के लिए कहा । तदनुसार दण्ड प्रायश्चित्त लेकर सद्दालपुत्र श्रावक ने अपनी आत्मा को शुद्ध किया ।

सद्दालपुत्र अन्तिम समय संलेखना द्वारा समाधिमरण पूर्वक काल करके सौधर्म देवलोक के अरुणभूत विमान में उत्पन्न हुआ । चार पत्न्योपम की स्थिति पूर्ण करके महाविदेह क्षेत्र में जन्म लेगा और वहीं से उसी भव में मोक्ष जायगा ।

(८) महाशतक श्रावक-राजगृह नगर में श्रेणिक राजा राज्य करता था । उसी नगर में महाशतक नाम का एक गायपाति रहता था । वह नगर में मान्य एवं प्रतिष्ठित था । कांसी के वर्तन विशेष से नापे हुए आठ करोड़ सोनये उसके खजाने में थे, आठ करोड़ व्यापार में लगे हुए थे और आठ करोड़ घर विस्तार आदि में लगे हुए थे । गायों के आठ गोकुल थे । उस के रेवती आदि तरह सुन्दर स्त्रियाँ थीं । रेवती के पास उसके पीहर से दिये हुए आठ करोड़ सोनये और गायों के आठ गोकुल थे । शेष बारह स्त्रियों के पास उनके पीहर से दिए हुए एक एक करोड़ सोनये और एक एक गोकुल था ।

एक समय श्रमण भगवान् महावीर स्वामी वहाँ पधारे । आनन्द श्रावक की तरह महाशतक ने भी श्रावक के व्रत अङ्गीकार किये । कांसी के वर्तन ने नापे हुए चौबीस करोड़ सोनये और गायों के आठ गोकुल (अस्सी हजार गायों) की मर्यादा की । रेवती आदि तरह स्त्रियों के निवाय अन्य स्त्रियों से मधुन का त्याग किया । इसने ऐसा भी अभिग्रह लिया कि प्रति दिन दो द्रोण (६४ मेर) वाली सोने से भरी हुई कांसी की पात्री से व्यवहार करूँगा, इस से अधिक नहीं । श्रावक के व्रत अङ्गीकार कर महाशतक श्रावक धर्मप्यात से अपनी आत्मा को भावित करता हुआ रहने लगा ।

एक बार अर्द्धरात्रि के समय कुटुम्ब जागरणा करती हुई ग्वेनी गाथापत्री को ऐसा विचार उत्पन्न हुआ कि इन बारह माँतों के होने में मैं महाशक्त गाथापति के साथ मनमाने काम भोग नहीं भोग सकती हूँ। अतः यही अच्छा है कि शस्त्र, अग्नि या विष का प्रयोग करके माँतों को मार दिया जाय जिससे इनका माग धन भी मेरे हाथ लग जायगा और फिर मैं अपनी इच्छानुसार महाशक्त गाथापति के साथ कामभोग भी भोग सकूँगी। ऐसा सोच कर वह कोढ़े अस्त्र लेकर दृढ़ता से लगी। माँका पादर उसने छः माँतों को विष देकर और छः को शस्त्र द्वारा मार डाला। उनके धन को अपने अधिकार में करके महाशक्त गाथापति के साथ यथेच्छ काम भोग भोगने लगी। माँस में लोलुप, मूर्च्छित एवं गूढ़ धनी हुई ग्वेनी अनन्त तरीकों में नत्ने हुए और भूँजे हुए माँस के मोले आदि बना कर खाने लगी और यथेच्छ शराब पीने लगी।

एक समय राजगृह नगर में अमारी (टिंगावंदी) की घोषणा हुई। तब माँस लोलुपा ग्वेनी ने अपने पीढ़र के नौकरों को बुलाकर कहा कि तुम प्रति दिन मेरे पीढ़र वाले गोशाल में से दो गाय के बछड़ों को मार कर मेरे लिए यहाँ ले आया करो। ग्वेनी की आज्ञानुसार नौकर लोग दो बछड़ों को मार कर प्रति दिन लाते लगे। इस प्रकार प्रचुर माँस मदिरा का सेवन करती हुई ग्वेनी समय बिताने लगी।

श्रावक के व्रत नियमों का भली प्रकार पालन करने हुए महाशक्त के चौदह बेटे पैदा हुए। नन्पशान्ति बड़ आनन्द श्रावक की तरह ज्येष्ठ पुत्र को घर का भार सम्भाल कर पवित्रगाना में श्रावक धर्मध्यान एवं समय बिताने लगा। उम्मी समय माँस लोलुपा ग्वेनी मात्र माँस की उन्मगता और कामुकता के

भाव दिखलाती हुई शौपथशाला में महाशतक श्रावक के पास जा पहुँची । वहाँ पहुँच कर मोह और उन्माद को उत्पन्न करने वाले श्रृङ्गार भरे हाव भाव और कटाक्ष आदि स्त्री भावों को दिखाती हुई महाशतक को लक्ष्य करके बोली— तुम बड़े धर्म-कामी, पुण्यकामी, स्वर्गकामी, मोक्षकामी, धर्म की आकांक्षा करने वाले, धर्म के प्यासे बन बैठे हो ! तुम्हें धर्म, पुण्य, स्वर्ग और मोक्ष से क्या करना है ? तुम मेरे साथ मन चाहे काम-भोग क्यों नहीं भोगते हो ? तात्पर्य यह है कि धर्म, पुण्य आदि सुख के लिए ही किए जाते हैं और विषय भोग से बढ़ कर दूसरा कोई सुख नहीं है । इसलिए तपस्या आदि भ्रमों को छोड़ कर मेरे साथ यथेच्छ काम भोग भोगो । रेवती गाथापत्नी के इस प्रकार दो तीन बार कहने पर भी महाशतक श्रावक ने इस पर कोई ध्यान नहीं दिया किन्तु मौन रह कर धर्म ध्यान में लगा रहा । महाशतक श्रावक द्वारा किसी प्रकार का आदर सत्कार न पाकर रेवती गाथापत्नी अपने स्थान की वापिस चली गई ।

इसके बाद महाशतक ने श्रावक की ग्यारह पंडिमाणें स्वीकार की और सूत्रोक्त विधि से यथावत् पालन किया । इस प्रकार कठिन और दुष्कर तप करने से महाशतक का शरीर अति कृश हो गया । इसलिए मारणान्तिक संलेखना कर धर्मध्यान में तल्लीन हो गया । शुभ अध्यवसाय के कारण और अवधि ज्ञानावरण कम के क्षयोपशम से महाशतक श्रावक को अवधिज्ञान उत्पन्न हो गया । वह पूर्व दिशा में लवण समुद्र के अन्दर एक हजार योजन तक जानने और देखने लगा । इसी तरह दक्षिण और पश्चिम में भी लवण समुद्र में एक हजार योजन तक जानने और देखने लगा । उत्तर में सुवर्हिमयन्त पर्वत तक जानने और देखने लगा । नीची दिशा में रत्नप्रभा पृथ्वी में लोलुपच्युत नरक तक जानने और

देखने लगा। इसी समय खेती गाथापर्वी कामोन्मत्त होकर पाँप-
शाला में आई और महाशक्तक श्रावक को काममोगों के लिए
आमन्त्रित करने लगी। उसके दो तीन बार ऐसा करने पर
महाशक्तक श्रावक को क्रोध आ गया। अवधिज्ञान में उपयोग
लगा कर उसने खेती में कहा कि तू मान रात्रि के मोतर मोतर
अलम (विपुचिका) रोग में पीड़ित हो कर आर्गेध्यान करनी हुई,
असमाधिमरण पूर्वक यथाममय काल करके स्वप्नमा पृथ्वी के नीचे
लोलुपच्युत नरक में ८४ हजार वर्ष की म्यिति में उत्पन्न होगी।
महाशक्तक श्रावक के इस कथन को सुन कर खेती विचारने
लगी कि महाशक्तक अब मुझ पर क्रुपित हो गया है और मेरा
बुरा चाहता है। न जाने यह मुझे किन बुरी मोत में मग्न
ढालेगा। ऐसा मोच कर वह डरी। चुपचाप और भयभीत होती
हुई धीरे धीरे पीछे हट कर वह पाँपशाला में बाहर निकली।
घर आकर उदासीन हो वह मोच में पड़ गई। तत्पश्चात् खेती
के शरीर में मयदूर अलम रोग उत्पन्न हुआ और तीव्र वेदना
प्रकट हुई। आर्गेध्यान करनी हुई यथाममय काल करके स्वप्नमा
पृथ्वी के लोलुपच्युत नरक में ८४ हजार वर्ष की म्यिति
वाने नैगयिकों में उत्पन्न हुई।

ग्रामानुग्राम विहार करने हुए अमल भगवान् महाशरीर स्वामी
राजगृह नगर में पधारे। भगवान् अपने ज्येष्ठ शिष्य गौतम
स्वामी से कहने लगे कि राजगृह नगर में मेरा शिष्य महाशक्तक
श्रावक पाँपशाला में संलग्नता कर बैठा हुआ है। उसने खेती
में मग्न किन्तु अप्रिय वचन कहे हैं। मत्त पान का पक्कगान
कर माग्गान्तिकी संलग्नता करने वाले श्रावक को जो बात
मन्य (तथ्य) हो किन्तु दूसरों को अनिष्ट, अकाल, अप्रिय मने
ऐसा वचन बोलना नहीं कल्पना। अतः तुम जाओ और महाशक्तक

श्रावक से कहो कि इस विषय की आलोचना कर यथायोग्य प्रायश्चित्त स्वीकार करे।

भगवान् के उपरोक्त कथन को स्वीकार कर गौतम स्वामी महाशतक श्रावक के पास पधारे। श्रावक ने उन्हें वन्दना नमस्कार किया। बाद में गौतम स्वामी के कथनानुसार भगवान् की आज्ञा शिरोधार्य कर आलोचना पूर्वक यथायोग्य दण्ड प्रायश्चित्त लिया।

महाशतक श्रावक ने बीस वर्ष पर्यन्त श्रावक पर्याय का पालन किया। अन्तिम समय में एक महीने की संलेखना कर समाधि मरण पूर्वक काल कर सौधर्म देवलोक के अरुणावतंसक विमान में चार पल्लोपम की स्थिति वाला देव हुआ। वहाँ से चव कर महाविदेह क्षेत्र में जन्म लेगा और वहीं से उत्ती भव में मोक्ष जायगा।

(६) नन्दिनीपिता श्रावक—श्रावस्ती नगरी में जितशत्रु राजा राज्य करता था। उसी नगरी में नन्दिनीपिता नामक एक धनाढ्य गाथापति रहता था। उसके चार करोड़ सौन्या खजाने में, चार करोड़ व्यापार में और चार करोड़ विस्तार में लगे हुए थे। गाथों के चार गोकुल थे अर्थात् चालीस हजार गाथें थीं। उसकी धर्मपत्नी का नाम अधिनी था।

एक समय श्रमण भगवान् महावीर स्वामी वहाँ पधारे। आनन्द श्रावक की तरह नन्दिनीपिता ने भी भगवान् के पास श्रावक के व्रत अङ्गीकार किये और धर्मध्यान करने हुए आनन्द पूर्वक रहने लगा।

श्रावक के व्रत नियमों का भली प्रकार पालन करते हुए नन्दिनीपिता को चौदह वर्ष बीत गये। जब पन्द्रहवां वर्ष चल रहा था तब ज्येष्ठ पुत्र को घर का भार सौंप दिया और साथ स्वयं पाण्डुराला में जाकर धर्मध्यान में तल्लीन रहने लगा।

बीस वर्ष तक श्रावक पर्याय का पालन कर अन्तिम समय में संलेखना की। समाधि मरण पूर्वक आयुष्य पूरा कर सौधर्म देवलोक के अरुणगव नामक विमान में उत्पन्न हुआ। चार पल्लोपम की स्थिति पूरी करके महाविदेह क्षेत्र में उत्पन्न होकर सिद्धगति को प्राप्त होगा।

(१०) शालेयिकापिता श्रावक— श्रावस्ती नगरी में जिनशत्रु राजा राज्य करता था। उसी नगरी में शालेयिकापिता नामक एक धनाढ्य गाथापति रहता था। उसके चार करोड़ सौनया राजानें में थे, चार करोड़ व्यापार में और चार करोड़ विस्तार में लगे हुए थे। गायों के चार गोकुल थे। उसकी पत्नी का नाम फान्गुनी था।

एक समय श्रमण भगवान् महावीर स्वामी वहाँ पधारे। शालेयिकापिता ने आनन्द श्रावक की तरह भगवान् के पास श्रावक के व्रत ग्रहण किये और धर्मध्यान पूर्वक समय बिताने लगा। चौदह वर्ष बीत जाने के पश्चात् अपने ज्येष्ठ पुत्र को घर का भार सम्भला कर पाँचशाला में जाकर धर्मध्यान में तल्लीन रहने लगा। बीस वर्ष तक श्रावक पर्याय का भली प्रकार पालन किया। अन्तिम समय में संलेखना कर के समाधि मरण को प्राप्त हुआ। सौधर्म देवलोक के अरुणकील नामक विमान में देवरूप में उत्पन्न हुआ। चार पल्लोपम की स्थिति पूर्ण करके महाविदेह क्षेत्र में जन्म लेगा और उमी मय में मोक्ष जायगा। शेष माता अधिकार आनन्द श्रावक के ममान है।

दस ही श्रावकों ने चौदह वर्ष पूरे करके पन्द्रहवें वर्ष में बुद्ध का भार अपने अपने ज्येष्ठ पुत्र को सम्भला दिया और स्वयं विशेष धर्म साधना में लग गये। सभी ने बीस बीस वर्ष तक श्रावक पर्याय का पालन किया।

६८६-श्रेणिक राजा की दस रानियाँ

(१) काली (२) सुकाली (३) महाकाली (४) कृष्णा (५) सुकृष्णा (६) महाकृष्णा (७) वीरकृष्णा (८) रामकृष्णा (९) प्रियसेनकृष्णा (१०) महासेनकृष्णा ।

(१) काली रानी— इस अवसरपिणी काल के चौथे आरं में जब श्रमण भगवान् महावीर स्वामी विराजमान थे, उस समय चम्पा नाम की एक नगरी थी । वहाँ कोणिक नाम का राजा राज्य करता था । कोणिक राजा की छोटी माता एवं श्रेणिक राजा की भार्या काली नाम की महारानी थी । वह अति-सुकुमाल और सर्वाङ्ग सुन्दर थी ।

एक समय श्रमण भगवान् महावीर स्वामी केवलपर्याय का पालन करते हुए, धर्मोपदेश द्वारा भव्य प्राणियों को प्रतिबोध देते हुए और ग्रामानुग्राम विहार करते हुए वहाँ पधार गये । भगवान् के आगमन को जान कर काली देवी अत्यन्त हर्षित हुई । कौडम्बिक पुरुषों (नौकरों) को बुला कर धार्मिक रथ को तय्यार करने के लिए आज्ञा दी । रथ सज्जित हो जाने पर उसमें बैठ कर काली रानी भगवान् के दर्शन करने गई । भगवान् ने समयानुसार धर्मोपदेश दिया । धर्मोपदेश को श्रवण कर काली रानी को बहुत हर्ष एवं सन्तोष हुआ । उनका हृदयकमल विकसित हो गया । जन्म जरा मृत्यु आदि दुःखों से व्याप्त संसार से वैराग्य भाव उत्पन्न हो गया । वह भगवान् को वन्दना नमस्कार कर इस प्रकार कहने लगी कि हे भगवन ! आपने जो निग्रन्थ प्रवचन फरमाये हैं, वे सत्य हैं । मुझे उन पर अतिशय श्रद्धा, प्रतीति एवं रुचि उत्पन्न हुई है । इतना ही नहीं अपितु कोणिक राजा से पूछ कर आपके पास मुद्रित होऊँगी यादत दीक्षा ग्रहण करूँगी

काली गनी के उपरोक्त वचनों को सुन कर भगवान् परमानं लगे कि हे देवानुप्रिय ! मुझ ही वैसा कार्य करो किन्तु धर्म कार्य में विलम्ब मत करो ।

तब काली रानी अपने धर्मग्रन्थ पर नज़र डाल कर अपने घर आई । घर आकर कौण्डिक गजा के पास पहुँची और कहने लगी कि अहाँ देवानुप्रिय ! आरक्षी आज्ञा ही तो श्रमण भगवान् महावीर स्वामी के पास में दीक्षा अर्हतीकार कर्त्त ? तब कौण्डिक गजा ने कहा कि हे माना ! तिम तरह आपको मुझ ही वैसा कार्य करो । ऐसा कह कर अपने कौटुम्बिक पुरुषों (नौकरों) को बुलाया और आज्ञा दी कि माना काली देवी का बहुत ठाढ़ के साथ बहुमूल्य दीक्षा अभिषेक की तैयारी करो । कौण्डिक गजा की आज्ञानुसार कार्य करके नौकरों ने वापिस सूचना दी । तत्पश्चात् काली गनी को पाट पर बिठला कर एक नौ आठ कनकों में स्नान कराया । स्नान के पश्चात् बहुमूल्य बखाल-कागों में विभूषित कर हजार पुराने उटारे ऐसी गिरिका (पानकी) में बैठा कर चम्पा नगरी के मध्य में होने हुए जहाँ भगवान् महावीर स्वामी विराजमान थे वहाँ पर लाये । फिर काली गनी पानकी में नीचे उतरी । उसे अपने आगे करके कौण्डिक गजा भगवान् की सेवा में पहुँचे और भगवान् को विनम्रता के नाँव धार बन्दना नमस्कार कर इस प्रकार कहने लगे कि हे भगवन ! यह मेरी माना काली नाम की देवी, जो मुझे इष्टकारी, प्रियकारी, मनोवृत्त्य मन को अभिगम है, इसे मैं आरक्षी गिरिकी रूप (माछी रूप) निता देता हूँ । आप इस गिरिकी रूप निता को स्वीकार करें । भगवान् ने परमाया कि जैसे मुझ उत्पन्न हो वैसा करो । तब काली गनी ने उत्तर पूर्व दिशा के हीन ईशान कोण में जाकर सब दशाभूतों को अपने हाथ में उठा

और स्वयमेव अपने हाथ से पंचमुष्टि लोच किया। लोच करके भगवान् के समीप आकर इस प्रकार कहने लगी कि हे भगवन् ! यह संसार जन्म जरा मृत्यु के दुःखों से व्याप्त हो रहा है। मैं इन दुःखों में भयभीत होकर आपकी शरण में आई हूँ। आप मुझे दीक्षा दो और धर्म सुनावो। तब श्रमण भगवान् महावीर स्वामी ने काली रानी को स्वयमेव दीक्षा दी, मुण्डित की और सब साध्वियों में ज्येष्ठ सती चन्दनवाला आर्या को शिष्यणीपने सौंप दी। तब सती चन्दनवाला आर्या ने उसका स्वीकार किया तथा सब प्रकार से इन्द्रियों का निग्रह करना, संयम में विशेष उद्यमवन्त होना ऐसी हित शिक्षा दी। काली आर्या ने सामायिक आदि ग्यारह अङ्ग का ज्ञान पढ़ा और अनेक प्रकार के तप करती हुई विचरने लगी।

एक समय काली आर्या सती चन्दनवाला के पास आकर इस प्रकार कहने लगी कि अहो आर्याजी ! यदि आपकी आज्ञा हो तो मैं रत्नावली तप करने की इच्छा करती हूँ। तब सती चन्दनवाला ने कहा कि जैसे तुम को सुख हो वैसा कार्य करो। तब काली आर्या ने रत्नावली तप अङ्गीकार किया। गले में पहनने का हार रत्नावली कहलाता है। उस रत्नावली हार के समान जो तप किया जाता है वह रत्नावली तप कहलाता है। जैसे रत्नावली हार ऊपर दोनों तर्क से सूक्ष्म (पतला) होता है। थोड़ा आगे बढ़ने पर दोनों तर्क फूल होते हैं। नीचे यानी मध्यभाग में हार पान के आकार होता है अर्थात् मध्यभाग में बड़ी बड़ी मणियों में संयुक्त पान के आकार वाला होता है। इस रत्नावली हार के समान जो तप किया जाय वह रत्नावली तप कहलाता है, अर्थात् तप में किये जाने वाले उपवास, बेलों, तैला आदि की संख्या के अङ्गों की आगम पर लिखने

मे स्वावली द्वार के समान आकार बन जाय, यह स्वावली
नय कहलाना है । इसका आकार इस प्रकार है—

• स्वावली नय •

रत्नावली तप की एक परिपाटी के तपस्या के दिन
३८४ और पारखे के दिन ८८ होते हैं स्वर्गार्थ १५
महीने और २२ दिन होते हैं । इस तप की पार
परिपाटियां पांच वर्ष दो मास २८ दिन में पूर्ण
होती हैं । यह तप भी काली स्वार्था ने किया था ।
पारथना की विधि सूत्रानुसार स्वामे यत्ताई गई है ।

रत्नावली तप की विधि इस प्रकार है—

सब से प्रथम एक उपवास, एक बेला और एक तेला करके फिर एक साथ आठ बेले करे, फिर उपवास, बेला, तेला आदि क्रम से करते हुए १६ उपवास तक करे। तत्पश्चात् ३४ बेले एक साथ करे। जैसे रत्नावली हार मध्य में स्थूल (मोटा) होता है उसी प्रकार इस रत्नावली तप में भी मध्यभाग में ३४ बेले एक साथ करने से स्थूल आकार बन जाता है। ३४ बेले करने के बाद १६ उपवास करे, १५ उपवास करे इस तरह क्रमशः घटाते हुए एक उपवास तक करे। तत्पश्चात् आठ बेले एक साथ करे, फिर एक तेला, बेला और उपवास करे। इसकी स्थापना का क्रम नक्शे में बताया गया है।

यह एक परिपाटी होती है। इसके पारखे के दिन जैसा आहार मिले वैसा लेवे, अर्थात् पारखे के दिन सब विंगय (दूध, दही, घी आदि) भी लिए जा सकते हैं।

दूसरी परिपाटी में पारखे के दिन कोई भी विंगय नहीं लिये जा सकते। तीसरी परिपाटी में निलेप (जिसका लेप न लगे) पदार्थ ही पारखे में लिए जा सकते हैं। चौथी परिपाटी में पारखे के दिन आयंविल (किसी एक प्रकार का भूँजा हुआ धान्य बगैरह पानी में भिगा कर खाना आयंविल कहलाता है) किया जाता है।

इस प्रकार काली आर्या को रत्नावली तप करने में पाँच वर्ष दो महीने और अष्टाईस दिन लगे। सन्तानुसार रत्नावली तप को पूरा करके अनेकविध तपस्या करती हुई वह विचरने लगी। प्रचान तप ने उस का शरीर अति दुर्बल दिखाई देने लग गया था किन्तु तपोबल से वह अत्यन्त शोभित होने लगी। एक नम्र अश्व शक्ति व्यतीत होने पर काली आर्या को इस प्रकार का विचार उत्पन्न हुआ कि जब तक मेरे शरीर में शक्ति है, उद्यान, कर्म, बल,

वीर्य, पुरुषाकार, पराक्रम हैं तब तक मुझे अपना कार्य मिट कर लेना चाहिए, अर्थात् प्रातः काल होने ही आर्या चन्दनवाला की आज्ञा प्राप्त कर संलग्नता पूर्वक आहार पानी का न्याग कर काल (मृत्यु) की धौंछा न करती हुई विचरूँ, ऐसा विचार कर प्रातःकाल होने ही आर्या चन्दनवाला के पास आकर अपना विचार प्रकट किया। तब सती चन्दनवाला ने कहा कि जिम तम्ह आपको सुख हो वैसा ही कार्य करो।

इस प्रकार सती चन्दनवाला की आज्ञा प्राप्त कर काली आर्या ने संलग्नता अङ्गीकार की। आठ वर्ष साध्वी पर्याय का पालन कर और एक महीने की संलग्नता करके केवलज्ञान, केवलदर्शन उपार्जन कर अन्तिम समय में सिद्ध पद को प्राप्त किया।

(२) मुकाली रानी— कोणिक राजा की छोटी माता और श्रेणिक राजा की दूसरी रानी का नाम मुकाली था। इसका सम्पूर्ण वर्णन काली रानी की तरह ही है। केवल इतनी विशेषता है कि मुकाली आर्या ने आर्या चन्दनवाला के पास में कनकावली तप करने की आज्ञा प्राप्त कर कनकावली तप अङ्गीकार किया। कनकावली भी गले के हार को कहते हैं।

कनकावली तप रत्नावली तप के समान ही है किन्तु त्रिम प्रकार रत्नावली हार में कनकावली हार भारी होता है उर्मी प्रकार कनकावली तप रत्नावली तप में कुछ विशिष्ट होता है। इसकी विधि और स्थापना का क्रम वही है जो रत्नावली तप का है मिक थोड़ी विशेषता यह है कि रत्नावली तप में दोनों कृत्यों की जगह आठ आठ बेलें और मध्य में पान के आकार ३४ बेलें किये जाते हैं। कनकावली में आठ आठ बेलों की जगह आठ आठ तेलें और मध्य में ३४ बेलों की जगह ३४ तेलें किये जाते हैं।

कनकावली तप की एक परिपाटी में एक वर्ष पांच महीने और

१२ दिन लगते हैं। चारों परिपाटियों को पूर्ण करने में पांच वर्ष

* क न का व ली त प *

कनकावली तप की एक परिपाटी की तपस्या के दिन ४३४ और पारसों के दिन ८८ होते हैं अर्थात् ५७ महीने और १२ दिन होते हैं। इस तप की चार परिपाटीयां पांच वर्ष नी मास १८ दिन में पूर्ण होती हैं। यह तप श्री महाली आर्या ने किया था। पारसों की विधि मनुस्मृतिसार जानना।

नौ महीने और १८ दिन लगे। पारणे की विधि रत्नावली तप के समान ही है। मुकाली आर्या ने नौ वर्ष दीक्षा पर्याय का पालन कर एक महीने की संलग्ना करके केवल ज्ञान, केवल दर्शन उपार्जन कर अन्तिम समय में सिद्ध पद को प्राप्त किया।

| | | |
|----|---|----|
| १ | लघु सिद्ध क्रीड़ा तप | १ |
| २ | | २ |
| ३ | | ३ |
| ४ | लघु सिद्ध क्रीड़ा तप की एक परिपाटी में तपस्या के दिन १४४ और पारणे के दिन ३३ अर्थात् त्रः महीने और सात दिन होते हैं। चारों परिपाटियों को पूर्ण करने में दो वर्ष और २८ दिन लगते हैं। पारणे की विधि रत्नावली तप जैसी है। | ४ |
| ५ | | ५ |
| ६ | | ६ |
| ७ | | ७ |
| ८ | | ८ |
| ९ | | ९ |
| १० | | १० |
| ११ | | ११ |
| १२ | | १२ |
| १३ | | १३ |
| १४ | | १४ |
| १५ | | १५ |
| १६ | | १६ |
| १७ | | १७ |
| १८ | | १८ |
| १९ | | १९ |
| २० | | २० |
| २१ | | २१ |
| २२ | | २२ |
| २३ | | २३ |
| २४ | | २४ |
| २५ | | २५ |
| २६ | | २६ |
| २७ | | २७ |
| २८ | | २८ |
| २९ | | २९ |
| ३० | | ३० |

(३) महाकाली रानी—कोणिक राजा की छोटी माता और श्रेणिक राजा की तीसरी रानी का नाम महाकाली था। इसका सारा वर्णन काली रानी की तरह ही है। तप में विशेषता है। इसने लघु सिंह क्रीड़ा तप अङ्गीकार किया। जिस तरह से क्रीड़ा करता हुआ सिंह अतिक्रान्त स्थान को देखता हुआ आगे बढ़ता है अर्थात् दो कदम आगे रख कर एक कदम वापिस पीछे रखता है। इस क्रम से वह आगे बढ़ता जाता है। इसी प्रकार जिस तप में पूर्व पूर्व आचरित तप का फिर से सेवन करते हुए आगे बढ़ा जाय वह लघुसिंह क्रीड़ा तप कहलाता है। आगे बताये जाने वाले महासिंह तप की अपेक्षा छोटा होने से यह लघुसिंह क्रीड़ा तप कहलाता है। इसमें एक से लगा कर नौ उपवास तक किये जाते हैं। इन के बीच में पूर्व आचरित तप का पुनः सेवन करके आगे बढ़ा जाता है और इस तरह वापिस श्रेणी उतारी जाती है। इसका नक्शा ३४० वें पृष्ठ में दिया गया है।

इस प्रकार अनेक विध तप का आचारण करते हुए एक मास की संलेखना द्वारा केवल ज्ञान और केवल दर्शन उपार्जन कर महाकाली आर्या ने अन्तिम समय में मोक्ष पद प्राप्त किया।

(४) कृष्णारानी—कोणिक राजा की छोटी माता और श्रेणिक राजा की चौथी रानी का नाम कृष्णा था। इसका सारा वर्णन काली रानी की तरह ही है। सिर्फ इतनी विशेषता है कि कृष्णा आर्या ने महासिंहनिष्क्रीडित तप किया। यह तप लघुसिंह निष्क्रीडित तप के समान ही है सिर्फ इतनी विशेषता है कि लघुसिंह निष्क्रीडित में तो नौ उपवास तक करके पीछे लौटा जाता है और इस में १६ उपवास तक करके पीछे लौटना चाहिये। शेष विधि और साधनाक्रम लघुसिंहनिष्क्रीडित तप के समान है।

इसकी एक परिपाटी में एक वर्ष छः महीने और १८ दिन

लगते हैं। चारों परिपाटियों को पूर्ण करने में छः वर्ष दो महीने और बारह दिन लगते हैं। इसका आकार इस प्रकार है—

| | | | | | | | | | | | | | | | | | | | | | | | | | | | | | | | | | | | | | | | | | | | | | | | | | | | | | | | | | | | | | | | | | | | | | | | | | | | | | | | | | | | | | | | | | | | | | | | | | | | |
|---|---|---|---|---|---|---|---|---|----|----|----|----|----|----|----|----|----|----|----|----|----|----|----|----|----|----|----|----|----|----|----|----|----|----|----|----|----|----|----|----|----|----|----|----|----|----|----|----|----|----|----|----|----|----|----|----|----|----|----|----|----|----|----|----|----|----|----|----|----|----|----|----|----|----|----|----|----|----|----|----|----|----|----|----|----|----|----|----|----|----|----|----|----|----|----|----|----|----|-----|
| १ | २ | ३ | ४ | ५ | ६ | ७ | ८ | ९ | १० | ११ | १२ | १३ | १४ | १५ | १६ | १७ | १८ | १९ | २० | २१ | २२ | २३ | २४ | २५ | २६ | २७ | २८ | २९ | ३० | ३१ | ३२ | ३३ | ३४ | ३५ | ३६ | ३७ | ३८ | ३९ | ४० | ४१ | ४२ | ४३ | ४४ | ४५ | ४६ | ४७ | ४८ | ४९ | ५० | ५१ | ५२ | ५३ | ५४ | ५५ | ५६ | ५७ | ५८ | ५९ | ६० | ६१ | ६२ | ६३ | ६४ | ६५ | ६६ | ६७ | ६८ | ६९ | ७० | ७१ | ७२ | ७३ | ७४ | ७५ | ७६ | ७७ | ७८ | ७९ | ८० | ८१ | ८२ | ८३ | ८४ | ८५ | ८६ | ८७ | ८८ | ८९ | ९० | ९१ | ९२ | ९३ | ९४ | ९५ | ९६ | ९७ | ९८ | ९९ | १०० |
| १ | २ | ३ | ४ | ५ | ६ | ७ | ८ | ९ | १० | ११ | १२ | १३ | १४ | १५ | १६ | १७ | १८ | १९ | २० | २१ | २२ | २३ | २४ | २५ | २६ | २७ | २८ | २९ | ३० | ३१ | ३२ | ३३ | ३४ | ३५ | ३६ | ३७ | ३८ | ३९ | ४० | ४१ | ४२ | ४३ | ४४ | ४५ | ४६ | ४७ | ४८ | ४९ | ५० | ५१ | ५२ | ५३ | ५४ | ५५ | ५६ | ५७ | ५८ | ५९ | ६० | ६१ | ६२ | ६३ | ६४ | ६५ | ६६ | ६७ | ६८ | ६९ | ७० | ७१ | ७२ | ७३ | ७४ | ७५ | ७६ | ७७ | ७८ | ७९ | ८० | ८१ | ८२ | ८३ | ८४ | ८५ | ८६ | ८७ | ८८ | ८९ | ९० | ९१ | ९२ | ९३ | ९४ | ९५ | ९६ | ९७ | ९८ | ९९ | १०० |

महा सिद्ध निष्क्रीडित तप

महासिद्ध निष्क्रीडित तप की एक परिपाटी में एक वर्ष छह महीने और सठारह दिन लगते हैं। चारों परिपाटियों को पूर्ण करने में छह वर्ष दो महीने और बारह दिन लगते हैं। पारणे की विधि रत्नावली तप के समान है।

कृष्णा आर्या ने ग्यारह वर्ष दीक्षा पर्याय का पालन कर और एक मास की संलेखना करके केवलज्ञान, केवल दर्शन उपार्जन कर अन्त में मोक्ष पद को प्राप्त किया ।

(५) सुकृष्णा रानी— सुकृष्णा रानी भी कोणिक राजा की छोटी माता और श्रेणिक राजा की पाँचवीं रानी है । इसका पूर्व अधिकार काली रानी के समान है । तप में विशेषता है । वह इस प्रकार है— सुकृष्णा आर्या भिक्षु की सातवीं प्रतिमा (पडिमा) अङ्गीकार कर विचरने लगी । प्रथम सात दिन में एक दक्षि आहार और एक दक्षि पानी ग्रहण किया । भिक्षा देने हुए दाता के हाथ से अथवा पात्र से अन्यवन्निद्ध रूप से अर्थात् बीच में धारा टूटे बिना एक साथ जितना आहार या पानी साधु के पात्र में गिरे उसे एक दक्षि कहते हैं । बीच में जरा सी भी धारा खंडित होने पर दूसरी दक्षि गिनी जाती है ।

दूसरे सात दिनों में दो दक्षि आहार और दो दक्षि पानी ग्रहण किया । इस प्रकार तीसरे सप्तक में तीन तीन, चौथे सप्तक में चार चार, पाँचवें सप्तक में पाँच पाँच, छठे सप्तक में छः छः और सातवें सप्तक में सात सात दक्षि आहार और पानी ग्रहण किया ।

सातवीं भिक्षु पडिमा को पूर्ण करने में ४६ दिन लगे, जिसकी कुल १६६ दक्षियाँ हुईं । इस पडिमा की सञ्ज्ञक विधि अनुसार आराधना कर आर्या चन्द्रनबाला के पान से आठवीं भिक्षु पडिमा करने की आज्ञा प्राप्त कर आठवीं भिक्षु पडिमा करने लगी । इस पडिमा में पहले आठ दिन एक दक्षि आहार और एक दक्षि पानी ग्रहण किया । द्वितीय अष्टक में दो दक्षि आहार और दो दक्षि पानी । इस प्रकार आठवें अष्टक में आठ दक्षि आहार और आठ दक्षि पानी ग्रहण किया । इस में कुल ६४ दिन लगे और सब दक्षियाँ २०० हुईं । तत्पश्चात्

नवमी भिक्षु पडिमा अर्द्धाकार कर विचरने लगी। इसमें क्रमशः नौ दत्तियाँ ग्रहण कीं। इस में कुल ८१ दिन लगे। कुल ४७५ दत्तियाँ हुईं। इसके बाद भिक्षु की दसवीं पडिमा अर्द्धाकार की। इसमें प्रथम दस दिन तक एक दत्ति आहार और एक दत्ति पानी ग्रहण किया। इस प्रकार बढ़ाने हुए अन्तिम दस दिन में दस दत्ति आहार और दस दत्ति पानी की ग्रहण कीं। इसके आराधन में १०० दिन लगे और कुल दत्तियाँ ५५० हुईं। इस प्रकार सूत्रोक्त विधि के अनुसार भिक्षु पडिमा का आराधन किया। तत्पश्चात् अनेक प्रकार का तप करती हुई विचरने लगी।

जब मुकुष्णा आर्या का शरीर कठिन तप आचरण द्वारा अनि दुर्बल हो गया तब एक माम की मल्लेखना करके केवल-ज्ञान और केवलदर्शन उपार्जन कर अन्तिम ममय में निद्र पद (मोक्ष) को प्राप्त किया।

(६) महाकुष्णा—कौणिक राजा की छोटी माता और श्रेणिक राजा की छोटी गनी का नाम महाकुष्णा है। उसका माता वर्गन काली रानी की तरह ही है। तप में विशेषता है। इसने तप भर्षतोभद्र तप किया। इसमें प्रथम एक उपवास किया फिर बेंला तेंला, चोला और पंचोला किया। फिर इन पाँच अङ्गों के मध्य में आये हुए अङ्ग में अर्थात् तेंले में शुरू कर पाँच अङ्ग पूर्ण किये अर्थात् तेंला, चोला, पंचोला, उपवास और बेंला किया। फिर बीच में आये हुए पाँच के अङ्ग में शुरू किया अर्थात् पंचोला, उपवास, बेंला, तेंला और चोला किया। बाद में बेंला, तेंला, चोला, पंचोला और उपवास किया। तत्पश्चात् चोला, पंचोला उपवास, बेंला और तेंला किया। इस तरह पहली परिपाटी पूर्ण की। इसमें तप के ७५ दिन और पारण के २५ दिन कुल एक सौ दिन लगे। चारों परिपाटियों को पूर्ण करने में ४००

दिन अर्थात् एक वर्ष एक महीना और दस दिन लगते हैं ।

इसका आकार इस प्रकार है—

लघु सर्वतो भद्र तप

| | | | | |
|---|---|---|---|---|
| १ | २ | ३ | ४ | ५ |
| ३ | ५ | ५ | १ | २ |
| ५ | १ | २ | ३ | ४ |
| २ | ३ | ४ | ५ | १ |
| ४ | ५ | १ | २ | ३ |

इस तप में आये हुए अङ्कों को सब तर्फ से अर्थात् किसी भी तर्फ से गिनने से पन्द्रह की संख्या आती है । इसलिए यह सर्वतो भद्र तप कहलाता है । आगे बताये जाने वाले सर्वतो भद्र तप की अपेक्षा यह छोटा है । इसलिए लघु सर्वतो भद्र तप कहलाता है ।

(७) वीर कृष्णा रानी—कोणिक राजा की छोटी माता और श्रेणिक राजा की सातवीं रानी का नाम वीरकृष्णा था । वह दीना लेकर अनेक प्रकार की तपस्या करती हुई विचरने लगी, तथा महामवतो भद्र तप किया । इस में एक उपवास से शुरु करके सात उपवास तक किये । दूसरे कोष्ठक में सातों अङ्कों के मध्य में आये हुए चार के अङ्क को लेकर अनुक्रम से शुरु किया अर्थात् चोला, पंचोला, छः, सात, उपवास, बेल्ला और तैला किया । इस प्रकार मध्य के अङ्क से शुरु करते हुए सातों पंक्तियाँ पूरी कीं । इसकी एक परिपाटी में १६६ दिन तपस्या के और ४६ दिन पारण के होते हैं अर्थात् आठ महीने और पाँच दिन होते हैं । इसकी चारों परिपाटियों में दो

महीने बीस दिन लगते हैं । इस तप का आकार इस प्रकार है—
महा सर्वतो भद्र तप ।

| १ | २ | ३ | ४ | ५ | ६ | ७ |
|---|---|---|---|---|---|---|
| ४ | ५ | ६ | ७ | १ | २ | ३ |
| ७ | १ | २ | ३ | ४ | ५ | ६ |
| ३ | ४ | ५ | ६ | ७ | १ | २ |
| ६ | ७ | १ | २ | ३ | ४ | ५ |
| २ | ३ | ४ | ५ | ६ | ७ | १ |
| ५ | ६ | ७ | १ | २ | ३ | ४ |

श्रीरक्षणा आर्या ने इस तप का सूत्रोक्त विधि से आराधन कर एक मास की संलग्नता करके अन्तिम समय में कैवलज्ञान, कैवलदर्शन उपार्जन कर मोक्ष पद को प्राप्त किया ।

(८) रामकृष्ण रानी— कौणिक राजा की छोटी माता और श्रेणिक राजा की आठवीं रानी का नाम रामकृष्ण था । दीक्षा धारण कर आर्या चन्दनवाला की आज्ञा प्राप्त कर वह भद्रोत्तर प्रतिमा तप अङ्गीकार कर विचरने लगी । इस तप में पाँच में शुरु करें नौ उपवास तक किये जाते हैं । मध्य में आये हुए अङ्क को लेकर अनुक्रम में पंक्ति पूरी की जाती है । इस तरह पाँच पंक्तियों को पूरी करने से एक परिपाटी पूरी होती है । इसकी एक परिपाटी में १७५ दिन तपस्या के और २५ दिन पारंगे के, सब मिला कर २०० दिन अर्थात् छः महीने बीस दिन लगते हैं । चारों परिपाटियों को पूर्ण करने में दो वर्ष दो महीने और बीस दिन लगते हैं । इस तप का आकार इस प्रकार है—

भद्रोत्तर प्रतिमा तप

| | | | | |
|---|---|---|---|---|
| ५ | ६ | ७ | = | ६ |
| ७ | = | ६ | ५ | ६ |
| ६ | ५ | ६ | ७ | = |
| ६ | ७ | = | ६ | ५ |
| = | ६ | ५ | ६ | ७ |

रामकृष्ण आर्या ने इस तप का सूत्रोक्त विधि से आराधन किया और अनेक प्रकार के तप करती हुई विचरने लगी। तत्पश्चात् रामकृष्ण आर्या ने अपने शरीर को तप के द्वारा अति दुर्बल हुआ जान एक मास की संलेखना की। अन्तिम समय में केवल ज्ञान, केवल दर्शन उपार्जन कर मोक्ष पद को प्राप्त किया।

(६-) प्रिय सेन कृष्ण रानी— कोणिक राजा की छोटी माता और श्रेणिक राजा की नयी रानी का नाम प्रियसेनकृष्ण था। दीक्षा के पश्चात् वह अनेक प्रकार का तप करती हुई विचरने लगी। तत्पश्चात् चन्दनवाला की ध्याना लेकर उसने मुक्तावली तप किया। इसमें एक उपवास से शुरु करके पन्द्रह उपवास तक किये जाते हैं और बीच बीच में एक एक उपवास किया जाता है। मध्य में १६ उपवास करके फिर क्रमशः उतरते हुए एक उपवास तक किया जाता है। इसका नकशा ३४८ में पृष्ठ पर दिया गया है।

इस प्रकार तप करती हुई प्रियसेन कृष्ण रानी ने देखा कि सब मेरा शरीर तपस्या से अति दुर्बल हो गया है तब तत्पश्चात् चन्दनवाला से ध्याना लेकर एक मास की संलेखना की। केवल ज्ञान, केवल दर्शन उपार्जन कर अन्त में मोक्ष पद प्राप्त किया।

॥ मु क्त व ली त ॥

इस तप की एक परिपाटी में तपस्या के दिन २८६ और पारणों के दिन ५६ होते हैं यानी ११ मास १५ दिन होते हैं । चारों परिपाटियों को पूर्ण करने में तीन वर्ष १० महीने होते हैं । पारणों की विधि सजावली तप के समान है ।

नोट—पारणों यद्विना गुणवली तप के दिन गिनते पर ११ मास ११ दिन होते हैं, किन्तु मूल पाठ में ११ मास १२ दिन गिराये हैं । टीकाकार ने भी इस बात को परायेसा है ।

(१०) महासेन कृष्ण—कोणिक राजा की छोटी माता और श्रेणिक राजा की दसवीं रानी का नाम महासेन कृष्ण था। उसने आर्या चन्दनवाला के पास दीक्षा लेकर आयंवल कर उपवास किया। इस की विधि इस प्रकार है— एक आयंवल कर उपवास किया जाता है, दो आयंवल कर एक उपवास किया जाता है। फिर तीन आयंवल कर एक उपवास किया जाता है। इस तरह एक सौ आयंवल तक बढ़ाते जाना चाहिए। बीच-बीच में एक उपवास किया जाता है। इस तप में १००० उपवास और ५०५० आयंवल होते हैं। यह तप चौदह वर्ष तीन महीने बीस दिन में पूर्ण होता है।

उपरोक्त तप की सुश्रोत विधि से आराधना कर महासेन कृष्ण आर्या अपनी आत्मा को भावती हुई तथा उदार (प्रधान) तप से अति ही शोभित होती हुई विचरने लगी। एक दिन अर्द्ध रात्रि ज्यतीत होने पर उसको ऐसा विचार उत्पन्न हुआ कि अब मेरा शरीर तपस्या से अति दुर्बल हो गया है, अतः जब तक मेरे शरीर में उत्थान, बल, दीर्घ्य, पुरुषाकार पराक्रम है तब तक संलेखना कर लेनी चाहिए।

प्रातः काल होने पर आर्या चन्दनवाला की आज्ञा लेकर संलेखना की। मरण की वाञ्छा न करती हुई तथा आर्या चन्दनवाला के पास से पढ़े हुए ग्यारह अंगों का स्मरण करती हुई धर्म ध्यान में तल्लीन रहने लगी। साठ भक्त शतशत का द्वादश कर और एक महीने की संलेखना कर जिस कार्य के लिए उसने दीक्षा ली थी उसे पूर्ण किया अर्थात् केवल ज्ञान, केवल दर्शन उपार्जन कर अन्तिम समय में मोक्ष पद प्राप्त किया।

इन दस ही आर्याओं के दीक्षा पर्याय का समय इस प्रकार है—
काली आर्या = वर्ष, न
श्यामा आर्या = वर्ष, महाकाली =

१० वर्ष, कृष्णा आर्या ११ वर्ष, मुकृष्णा आर्या १२ वर्ष, महा-
कृष्णा आर्या १३ वर्ष, वीरकृष्णा आर्या १४ वर्ष, रामकृष्णा
आर्या १५ वर्ष, प्रियसेनकृष्णा आर्या १६ वर्ष, महामेन कृष्णा
आर्या १७ वर्ष । (अन्तर्गद सूत्र आठवां अंश)

६.८—आवश्यक के दम नाम—

उपयोग पूर्वक आवश्यक सूत्र का अवलोकन करना, यतना पूर्वक
पहिलेदृष्टा वर्गरेड आवश्यक कार्य करना, सुवहं नाम पापों का
प्रतिक्रमण करना तथा माधु और आवश्यक के लिए शास्त्रों में बताए
गए कर्तव्य आवश्यक कहलाते हैं । हमारे दम नाम हैं—

आवन्मयं अवन्मकरगील्लं ध्रुव निग्गहो विमोहो यं ।

अज्जमयण्डवक वग्गो नाओ ओरादग्गो मग्गो ॥

(१) आवश्यक—जो अवलोकन करने योग्य हो उसे आवश्यक
अथवा आशामक कहते हैं । अथवा जो गुणों का आधार है
वह आवश्यक है या जो क्रिया आत्मा को ज्ञान आदि गुणों
के वज्र में कर्त्ता है वह आवश्यक है । जो आत्मा को ज्ञानादि
गुणों के मर्मपर ले जाता है, उसे गुणों द्वारा मुगन्धित करता
है उसे आशामक कहते हैं । अथवा जो आत्मा को ज्ञानादि वज्र
द्वारा मुगोमित करे, या जो आत्मा का दोषों में संलग्न हो
अथवा दोष न आने दे वह आशामक है ।

(२) अवलोक्यकर्गीय—मोक्षामिलार्थी व्यक्ति द्वारा जो अवलोकन
क्रिया जाता है उसे अवलोक्यकर्गीय कहते हैं ।

(३) ध्रुव—जो अर्थ में शाश्वत है ।

(४) निद्रह—जिममें इन्द्रिय और कर्पाय वर्गरेड माधु गुणों
का निद्रह अर्थात् दमन हो ।

(५) विगुदि—कर्म में मर्त्तान आत्मा की विगुदि का शास्त्र ।

(६) षट्पयसन—सामायिक आदि छः अध्ययन शाना । अन्त

जीव सत्त्व सुखावह वाद कहलाता है। इसमें प्राणियों के संयम का प्रतिपादन किया गया है। तथा इस वाद का अध्ययन मोक्ष का कारण माना गया है। इसीलिए यह सर्वप्राण भूत जीव सत्त्व सुखावह वाद कहलाता है। (टीकांग १० व. ३ सूत्र ७४२)

६८९- पड़ण्णा दस

तीर्थंकर या गणधरों के सिवाय सामान्य साधुओं द्वारा रचे गए ग्रन्थ पड़ण्णा (प्रकीर्णक) कहलाते हैं।

(१) चउसरण पड़ण्णा—इसमें ६३ गाथाएँ हैं। अरिहन्त, सिद्ध, साधु और केवलिप्ररूपित धर्म इन चार का शरण भट्टान् कल्याणकारी हैं। इनकी यथावत् आराधना करने से जीव को शाश्वत सुखों की प्राप्ति होती है। इस पड़ण्णा में अरिहन्त, सिद्ध, साधु और केवलिप्ररूपित धर्म के गुणों का कथन किया गया है।

(२) आउर पचकखण पड़ण्णा—इसमें ७० गाथाएँ हैं। बाल मरण, परिडनमरण और बालपरिडनमरण का स्वरूप काफी विस्तार के साथ बतलाया गया है। बालमरण से मरने वाले प्राणियों को बहुत काल तक संसार में परिभ्रमण करना पड़ता है। परिडनमरण से संसार के बन्धन टूट जाते हैं। इस लिए प्राणियों को परिडनमरण की आराधना करनी चाहिए।

(३) महा पचकखण पड़ण्णा—इसमें १४२ गाथाएँ हैं। इनमें बालमरण आदि का ही विस्तार के साथ वर्णन किया गया है। इनमें मरण को धीरपुरुष और कायर पुरुष दोनों को व्यवस्था प्राप्त होता है। दोनों दशा में धैर्य पूर्वक मरना ही श्रेष्ठ है जिससे श्रेष्ठ मोक्ष प्राप्त हो या मोक्ष की प्राप्ति हो। इस लिए अन्तिम अवस्था में जीव को त्याग कर निःशय हो सब जीवों को उन्माद में डालना चाहिए।

(४) पण्डित मरण मरना चाहिए। इस पड़ण्णा में १७२ गाथाएँ हैं। इस पड़ण्णा में

वर्णन हो अथवा तथ्य यानी - मन्थ पदार्थ का वर्णन जिनमें हो उसे तत्त्ववाद या तथ्यवाद कहते हैं।

(५) सम्यग्वाद— वस्तुओं के अविपरीत अर्थात् मन्थ स्वरूप को बतलाने वाला वाद सम्यग्वाद कहलाता है।

(६) धर्मवाद— वस्तुओं के पर्यायों को धर्म कहते हैं अथवा चाग्रि को भी धर्म कहते हैं। इनका जिनमें वर्णन हो उसे धर्मवाद कहते हैं।

(७) मापा विजय वाद— मन्था, अमन्था आदि मापाओं का निर्णय करने वाले या मापा की समृद्धि जिनमें बतलाई गई हो उसे मापा विजय वाद कहते हैं।

(८) पूर्वगत वाद— उत्पाद आदि चोदह पूर्वों का स्वरूप बतलाने वाला वाद पूर्वगत वाद कहलाता है।

(९) अनुयोगगत वाद—अनुयोग दो तरह का है। प्रथमानुयोग और गणितकानुयोग।

तीर्थङ्करों के पूर्व मव आदि का व्याख्यान जिन ग्रन्थ में किया गया हो उसे प्रथमानुयोग कहते हैं। मरुत चक्रवर्ती आदि वर्गजों के मोक्ष गमन का और अनुजर विमान आदि का वर्णन जिन ग्रन्थ में हो उसे गणितकानुयोग कहते हैं।

पूर्वगत वाद और अनुयोग गत वाद ये दोनों वाद दृष्टि वाद के ही अंग हैं किन्तु यहाँ पर अवयव में समुदाय को उपचार करके इन दोनों को दृष्टि वाद ही कहा गया है।

(१०) सर्व प्राण भूत जीव सत्त्व सुखादह वाद— इंद्रिय, अइन्द्रिय, अनुगिन्द्रिय प्राण कहलाते हैं। वृक्ष आदि वनेष्मति को भूत कहते हैं। पद्मेन्द्रिय प्राणी जीव कहलाते हैं और पृथ्वीकाय, अक्काय, नेत्रकाय और वायुकाय को मत्त्व कहते हैं। इन मव प्राणियों को समुह का देने वाला वाद सर्व प्राण भूत

कर सकता है। गच्छ में रहने का श्रेष्ठ फल, गच्छ, गणि और आचार्य का स्वरूप, गीतार्थ साधु के गुण वर्णन, गच्छ का आचार आदि विषयों का वर्णन भी इस पदरूपा में विस्तार पूर्वक किया गया है।

(८) गणिविज्ञा पदरूपा—इसमें ८२ गाथाएं हैं। तिथि, नक्षत्र आदि के शुभाशुभ से शङ्खों का विचार विस्तार पूर्वक बतलाया गया है। किन्ति तिथियों में किधर गमन करने से किस् अर्थ की प्राप्ति होती है इसका भी विचार किया गया है।

(९) देविंदधव पदरूपा—इसमें ३०७ गाथाएं हैं। देवेन्द्रों द्वारा की गई तीर्थङ्करों की स्तुति, देवेन्द्रों की गिनती, भवनपतियों के इन्द्र चमरेन्द्र आदि की स्थिति, वाणव्यन्तर, ज्योतिषी और वैमानिक देवों के भवनों का वर्णन, उनके इन्द्र की स्थिति, अल्प बहुत्व, सिद्धों के सुख आदि का विस्तार पूर्वक वर्णन किया गया है।

(१०) मरण समाहि—इस में ६६३ गाथाएं हैं। समाधि पूर्वक मरण कैसा होता है और वह किस प्रकार प्राप्त होता है यह इसमें बतलाया गया है। आराधना, आराधक अनाराधक का स्वरूप,

शल्योद्धार, आलोचना, ज्ञानादि में उद्यम, ज्ञान की महिमा, संलेखना, संलेखना की विधि, राग द्वेष का निग्रह, प्रमाद का त्याग, भ्रमत्व एवं भाव शल्य का त्याग, महाव्रतों की रक्षा, पण्डित मरण, उत्तम अर्थ की प्राप्ति, जिनवचनों की महिमा, जीव का दूसरी गति में गमन, पूर्वभय के दुःखों का स्मरण, जिनधर्म से विचलित न होने वाले राजसुकुमाल, चिलातिपुत्र, धन्वाजी, शालिभद्र, पाँच पाण्डव आदि के उष्टान्त, परीपह, उपसर्ग का सहन, पूर्वभय का चिन्तन, जीव की नित्यता, अनित्यता, एकत्व आदि भावनाएं इत्यादि विषयों का इस पदरूपा में विस्तार के साथ किया गया है।

भक्त परिजा, इंगिनी, पादपोषगमन आदि का स्वरूप बतलाया गया है। इसके अनिरीक्त नमस्कार, मिथ्यान्व न्याग, मम्यक्त्व, भक्ति, दया, मन्य, अर्चय्य, ब्रह्मचर्य्य, अपरिग्रह, निपाणा, इन्द्रिय दमन, कषाय, कषायों का विजय, वेदना इत्यादि विषयों का वर्णन भी इस पदएणा में है।

(५) तन्दुलवेयालीय— इसमें १३८ गाथाएँ हैं। इनमें मुख्यतः गर्भ में रहे हुए जीव की दशा, आहार आदि का वर्णन किया गया है। इसके मिथाय जीव की गर्भ में उत्पत्ति किम प्रकार होती है ? वह किम प्रकार आहार करता है ? उसमें मातृश्रद्ध और पितृश्रद्ध कौन कौन से हैं ? गर्भ की अवस्था, शरीर की उत्पत्ति का कारण, मनुष्य की दस दशाएँ, जोड़ा, मंहनन, संस्थान, प्रस्यक, आढक आदि का परिमाण, काया का अशुचिपन स्त्री के शरीर का विशेष अशुचिपन, स्त्री के ६३ नाम और उनकी ६३ उपमा आदि आदि विषय भी विस्तार के साथ वर्णित किये गये हैं। मरण के समय पुरुष को स्त्री, पुत्र, मित्र आदि सभी छोड़ देते हैं, केवल धर्म ही एक ऐसा परम मित्र है जो जीव के साथ जाता है। धर्म ही गुरुग रूप है। इस लिए ऐसा यत्न करना चाहिए जिससे सब दुःखों से छुटकारा होकर मोक्ष की प्राप्ति हो जाय।

(६) संथार पदएणा— इसमें १२३ गाथाएँ हैं, जिनमें मुख्य रूप से संथार (मारणान्तिक शय्या) का वर्णन किया गया है। संथार की महिमा, संथाग करने वाले का अनुमोदन, संथार की अशुद्धि और विशुद्धि, संथार में आहारन्याग, समा याचना, ममन्व न्याग आदि का वर्णन भी इसी पदएणा में है।

(७) गच्छाचार पदएणा— इसमें १३७ गाथाएँ हैं। इनमें बतलाया गया है कि श्रेष्ठ गच्छ में रह कर मुनि आत्मकन्याप

कर सकता है। गच्छ में रहने का श्रेष्ठ फल, गच्छ, गणि और आचार्य का स्वरूप, गीतार्थ साधु के गुण वर्णन, गच्छ का आचार आदि विषयों का वर्णन भी इस पदएणा में विस्तार पूर्वक किया गया है।

(८) गणिविज्ञा पदएणा—इसमें २२ गाथाएं हैं। तिथि, नक्षत्र आदि के शुभाशुभ से शकुनों का विचार विस्तार पूर्वक बतलाया गया है। किन्ति तिथियों में किधर गमन करने से किस अर्थ की प्राप्ति होती है इसका भी विचार किया गया है।

(९) देविंदधव पदएणा—इसमें ३०७ गाथाएं हैं। देवेन्द्रों द्वारा की गई तीर्थङ्करों की स्तुति, देवेन्द्रों की गिनती, भवनपतियों के इन्द्र चमरेन्द्र आदि की स्थिति, वाणव्यन्तर, ज्योतिषी और वैमानिक देवों के भवनों का वर्णन, उनके इन्द्र की स्थिति, अल्प हुत्त्व, सिद्धों के सुख आदि का विस्तार पूर्वक वर्णन किया गया है।

(१०) मरण समाहि—इस में ६६३ गाथाएं हैं। समाधि पूर्वक मरण कैसा होता है और वह किस प्रकार प्राप्त होता है यह इसमें बतलाया गया है। आराधना, आराधक अनाराधक का स्वरूप, शन्योद्धार, आलोचना, ज्ञानादि में उद्यम, ज्ञान की महिमा, संलेखना, संलेखना की विधि, राग द्वेष का निग्रह, प्रमाद का त्याग, प्रमत्त एवं भाव शन्य का त्याग, महाव्रतों की रक्षा, परिष्ठित मरण, उत्तम अर्थ की प्राप्ति, जिनवचनों की महिमा, जीव का दूसरी गति में गमन, पूर्वभवं के दुःखों का स्मरण, जिनधर्म से विचलित न होने वाले गजसुकुमाल, चिलातिषुद्र, धन्नाजी, शालिभद्र, पाँच पाण्डव आदि के दृष्टान्त, परीपह, उपसर्ग का सहन, पूर्वभवं का चिन्तन, जीव की नित्यता, अनित्यता, एकत्व आदि भावनाएं इत्यादि विषयों का वर्णन इस पदएणा में विस्तार के साथ किया गया है। अन्त में मोक्ष के सुखों का वर्णन और उनकी अपूर्वता बताई गई है।

(पदएणा इस)

६९.०—अम्याध्याय (आन्तरिक्ष) दस

वाचना, पृच्छना, परिचर्चना, धर्मकथा और अनुप्रेषा रूप पाँच प्रकार का म्याध्याय है। जिस काल में अध्ययन रूप स्वाध्याय नहीं किया जा सकता हो उसे अम्याध्याय कहते हैं। उसमें आन्तरिक्ष अर्थात् आकाश सम्बन्धी अम्याध्याय के दस भेद हैं—

(१) उक्तापान (उल्कापान)—पूछ वाले तारे आदि के टूटने का उल्कापान कहते हैं।

(२) दिग्मिदाघ (दिग्दाह)—दिशाओं में दाह का होना। इसका यह अभिप्राय है कि किसी एक दिशा में महानगर के दाह के समान प्रकाश का दिग्माह देना। जिसमें नीचे अन्धकार और ऊपर प्रकाश दिग्माह देता है।

(३) गज्जिते (गर्जित)—आकाश में गर्जना का होना। भगवती सूत्र शतक ३ उद्देशा ७ में 'गहगज्जित' यह पाठ है। उसका अर्थ है ग्रहों की गति के कारण आकाश में होने वाली कड़कड़ाहट या गर्जना।

(४) विज्जुने (विद्युन्)—विजली का चमकना।

(५) निग्याने (निर्घात)—मेघों में आच्छादित या अनाच्छादित आकाश के अन्दर व्यन्तर देवता कृत महान् गर्जने की ध्वनि होना निर्घात कहलाता है।

(६) जूपने (यूपक)—मन्थ्या की प्रमा और चन्द्र की प्रमा का जिस काल में सम्मिश्रण होता है वह यूपक कहलाता है। इसका यह अभिप्राय है कि चन्द्र प्रमा से आवृत मन्थ्या मानूस नहीं पड़ती। शुक्ल पक्ष की प्रतिपदा आदि तीन तिथियों में अर्थात् एकम, द्वि, और तृति को मन्थ्या का भान नहीं होता। मन्थ्या का यथावत् भान न होने के कारण इन तीन दिनों के अन्तः प्रादोषिक काल का ग्रहण नहीं किया जा सकता। अतः ए

तीन दिनों में कालिक दूधों का अस्वाध्याय होता है। ये तीन दिन अस्वाध्याय के हैं।

नोट—व्यवहार भाष्य में शुक्ल पक्ष की द्वितीया, तृतीया और चतुर्थी ये तीन तिथियाँ भी गृपक मानी गई हैं।

(७) जकखालिच (यक्षादीप्त)—कभी कभी किसी दिशा में बिजली के समान जो प्रकाश होता है वह व्यन्तर देव कृत अग्नि दीपन यक्षादीप्त कहलाता है।

(८) धूमिता (धूमिका)—कोहरा या धँवर जिसने धंधेरा सा छा जाता है।

(९) महिका—तुषार या बर्फ का पड़ना।

धूमिका और महिका कार्तिक आदि गर्भमासों में गिरती हैं और गिरने के बाद ही सूखने के कारण अण्काय स्वरूप हो जाती हैं।

(१०) रज उद्घाते (रज उद्घात)—स्वाभाविक परिणाम से रेणु (धूलि) का गिरना रज उद्घात कहलाता है।

उपरोक्त दस अस्वाध्यायों के समय को छोड़ कर स्वाध्याय करना चाहिए, क्योंकि इन अस्वाध्याय के समयों में स्वाध्याय करने से कभी कभी व्यन्तर जाति के देव कुछ उपद्रव कर देते हैं। अतः अस्वाध्याय के समय में स्वाध्याय नहीं करना चाहिए।

(आख्यान १० उ० ३ सूत्र ७६५)

ऊपर लिखे अस्वाध्यायों में से (१) उल्कापात (२) दिग्दाह (३) पिष्टुत् (४) गृपक और (५) यक्षादीप्त इन पाँच में एक पौर्णमी तक अस्वाध्याय रहता है। गर्जित में दो पौर्णमी तक। निषात में अहोरात्र तक। धूमिता, महिका और रज उद्घात में जितने समय तक ये गिरते रहे तभी तक अस्वाध्याय काल रहता है।

(व्यवहार भाष्य और निरुक्ति परेशा उ० (प्रवचनसंग्रह भाग २६८)

६९१- अम्वाध्याय (औदारिक) दम

औदारिक शरीर मम्यन्धी दम अम्वाध्याय है। यथा-
(१) अग्नि (२) मांस (३) शोणित (४) अगुचिसामन्त (५)
श्मशानसामन्त (६) चन्द्रोपराग (७) सूर्योपराग (८) पतन
(९) राजविग्रह (१०) मृत औदारिक शरीर।

(१) अग्नि (दृष्टी) (२) मांस (३) शोणित (रुधिर)- ये तीनों चीजें मनुष्य और नियंत्र के औदारिक शरीर में पाई जाती हैं। पञ्चेन्द्रिय नियंत्र की अपेक्षा द्रव्य, क्षेत्र, काल और मास में इस प्रकार अम्वाध्याय माना गया है।

द्रव्य में- नियंत्र पञ्चेन्द्रिय के अग्नि, मांस और रुधिर अम्वाध्याय के कारण हैं। किसी किसी ग्रन्थ में 'चर्म' भी लिखा है।

क्षेत्र में- साठ हाथ की दूरी तक ये अम्वाध्याय के कारण हैं।

काल में- उपरोक्त तीनों में से किसी के होने पर तीन पहर तक अम्वाध्याय काल माना गया है सिन्तु बिनाश (माजोर) आदि के द्वारा बड़े आदि के मार देने पर एक दिन रात तक अम्वाध्याय माना गया है।

मास में- नन्दी आदि कोई वृत्त अम्वाध्याय काल में नहीं पड़ना चाहिये।

मनुष्य मम्यन्धी अग्नि आदि के होने पर मो इनी तरह समझना चाहिये केवल इतनी विवेचना है कि क्षेत्र की अपेक्षा में एक मो हाथ की दूरी तक।

काल की अपेक्षा- एक अहोरात्रि अर्थात् एक दिन और रात और महीना में भी के सम्मिलन होने पर तीन दिन का अम्वाध्याय होता है। सड़की पड़ा होने पर आठ दिन और लड़का पड़ा होने पर मात दिन तक अम्वाध्याय रहता है। दृष्टियों की अपेक्षा में ऐसा जानना चाहिये की जीर द्वारा शरीर को छोड़ दिया

जाने पर यानी पुरुष की मृत्यु हो जाने पर यदि उसकी हड्डियाँ न जलें तो बारह वर्ष तक सौ हाथ के अन्दर अस्वाध्याय का कारण होती हैं। किन्तु अग्नि द्वारा दाह संस्कार कर दिये जाने पर या पानी में वह जाने पर हड्डियाँ अस्वाध्याय का कारण नहीं रहती। हड्डियों को जमीन में दफना देने पर (गाढ़ देने पर) अस्वाध्याय माना गया है।

(४) अशुचि सामन्त— अशुचि रूप मूत्र और पुरीष (विष्टा) यदि नजदीक में पड़े हुए हों तो अस्वाध्याय होता है। इसके लिए ऐसा माना गया है कि जहाँ रुधिर, मूत्र और विष्टा आदि अशुचि पदार्थ दृष्टि गोचर होते हों तथा उनकी दुर्गन्धि आती हो वहाँ तक अस्वाध्याय माना गया है।

(५) श्मशान सामन्त— श्मशान के नजदीक यानी जहाँ मनुष्य आदि का मृतक शरीर पड़ा हुआ हो। उसके आसपास कुछ दूरी तक (१०० हाथ तक) अस्वाध्याय रहता है।

(६) चन्द्रग्रहण और (७) सूर्य ग्रहण के समय भी अस्वाध्याय माना गया है। इसके लिए समय का परिमाण इस प्रकार माना गया है। चन्द्र या सूर्य का ग्रहण होने पर यदि चन्द्र और सूर्य का सम्पूर्ण ग्रहण (प्राप्ति) हो जाय तो प्रसिद्ध होने के समय से लेकर चन्द्रग्रहण में उस रात्रि और दूसरा एक दिन रात छोड़ कर तथा सूर्य ग्रहण में वह दिन और दूसरा एक दिन रात छोड़ कर स्वाध्याय करना चाहिये किन्तु यदि उसी रात्रि अथवा दिन में ग्रहण से छुटकारा हो जाय तो चन्द्र ग्रहण में उस रात्रि का शेष भाग और सूर्यग्रहण में उस दिन का शेष भाग और उस रात्रि तक अस्वाध्याय रहता है।

चन्द्र और सूर्यग्रहण का अस्वाध्याय आन्तरिक यानी आकाश सम्बन्धी होने पर भी यहाँ पर इसकी विवेचना नहीं की गई है किन्तु

चन्द्र और सूर्य का विमान पृथ्वीकायिक होने से इनकी गिनती आँदारिक सम्बन्धी अम्वाध्याय में की गई है।

(८) पतन—पतन नाम मरण का है। राजा, मन्त्री, सेनापति या ग्राम के ठाकुर की मृत्यु हो जाने पर अम्वाध्याय माना गया है। राजा की मृत्यु होने पर जब तक दूसरा राजा नहीं पर न बैठे तब तक किसी प्रकार का भय होने पर अथवा निर्मय होने पर भी अम्वाध्याय माना गया है। दूसरे राजा के होजाने पर और शहर में निर्मय की घोषणा (हिंदोरा) हो जाने पर भी एक अहोरात्र अर्थात् एक दिन रात तक अम्वाध्याय रहता है। अतः उस समय तक व्याध्याय नहीं करना चाहिये।

ग्राम के किसी प्रतिष्ठित पुरुष की या अधिकार सम्पन्न पुरुष की अथवा शय्यातर और अन्य किसी पुरुष की भी उपाश्रय में मति घरे के अन्दर यदि मृत्यु हो जाय तो एक दिन रात तक अम्वाध्याय रहता है अर्थात् व्याध्याय नहीं किया जाता है।

यहाँ पर किसी आचार्य का यह भी मत है कि ऐसे समय में व्याध्याय चन्द्र करने की आवश्यकता नहीं है, किन्तु धर्म धर्म मन्द स्वर में व्याध्याय करना चाहिए, उच्च स्वर में नहीं क्योंकि उच्च स्वर में व्याध्याय करने पर लोक में निन्दा होने की सम्भावना रहती है।

(९) राज विग्रह—राजा, सेनापति, ग्राम का ठाकुर या किसी बड़े अर्थात् प्रतिष्ठित पुरुष के आपसी मझ युद्ध होने पर या अन्य राजा के साथ संग्राम होने पर अम्वाध्याय माना गया है। जिस देश में जितने समय तक राजा आदि का संग्राम चलता रहे तब तक अम्वाध्याय काल माना गया है।

(१०) मृत आँदारिक नर्तक—उपाश्रय के समीप में अथवा उपाश्रय के अन्दर मनुष्यादि का मृत आँदारिक नर्तक पड़ा हुआ

हो तो एक सौ हाथ तक अस्वाध्याय माना गया है ।
 का शरीर खुला पड़ा हो तो सौ हाथ तक अस्वाध्याय है ।
 यदि ढका हुआ हो तो भी उसके कुत्सित होने से सौ हाथ तक
 हाथ जमीन छोड़ कर ही स्वाध्याय करना चाहिए ।
 (ठाकुराण १६)

नोट—असज्जाओं का अधिक विस्तार व्यवहार में
 और निर्युक्ति उद्देशक ७ से जानना चाहिए ।

६९२— धर्म दस

वस्तु के स्वभाव, ग्राम नगर वगैरह के रीति

वगैरह के कर्तव्य को धर्म कहते हैं । धर्म दस

(१) ग्रामधर्म—हर एक गाँव के रीति

व्यवस्था अलग अलग होती है । इसी को

(२) नगरधर्म—शहर के आचार को

भी हर एक नगर का प्रायः भिन्न भिन्न

(३) राष्ट्रधर्म—देश का आचार ।

(४) पाखण्ड धर्म—पाखण्डी अध्याय

का आचार ।

(५) कुलधर्म—उग्र कुल आदि कुलों

के समूह रूप चान्द्र वगैरह कुलों का

(६) गणधर्म—मल्ल वगैरह गणों

के कुलों का समुदाय गण कहल

(७) संघधर्म—संघ वगैरह का

इकट्ठे होकर जिस व्यवस्था को

के साधु, साध्वी, आवक, आधि

(८) धृतधर्म—धुन अध्याय

पढ़ते हुए प्राणी को ऊपर ३

ती
 है ।
 तण
 है ।
 तथा
 करवे
 वगैरह
 खना
 भी
 और

(६) चारित्र्यधर्म—मंचित कर्मों को जिन उपायों से रित्त अर्थात् खाली किया जाय उसे चारित्र्यधर्म कहते हैं ।

(१०) अस्त्रिकायधर्म—अस्ति अर्थात् प्रदेशों की काय अर्थात् राशि को अस्त्रिकाय कहते हैं । काल के सिवाय पाँच द्रव्य अस्त्रिकाय हैं । उनके स्वभाव को अस्तिकाय धर्म कहते हैं । जैसे धर्मास्तिकाय का स्वभाव जीव और पुद्गल को गति में सहायता देना है ।

(टाण्ण १० ३० ३ सूत्र ७६०)

नोट—दस धर्मों की विम्बुन व्याख्या 'हितेच्छु श्रावक मण्डल खलाम(मालवा)' द्वारा प्रकाशित धर्मव्याख्या नामक पुस्तक में है ।

६९३.—सम्यक्त्व प्राप्ति के दस बोल

जीव अजीव आदि पदार्थों के वास्तविक स्वरूप पर श्रद्धा करने को सम्यक्त्व कहते हैं । जीवों के स्वभाव भेद के अनुसार इसकी प्राप्ति दस प्रकार से होती है ।

निमग्गुवण्णरुद्धं आणारुद्धं मुत्तरीयरुद्धमेव ।

अभिगमविन्यारुद्धं किरियामण्वेवधम्मरुद्धं ॥

(१) निमग्गुरुचि— जीवादि तत्त्वों पर जाति स्मरणादि ज्ञान द्वारा जान कर श्रद्धान करना निमग्गुरुचि सम्यक्त्व है । अर्थात् मिथ्यात्वमोहनीय का चयोपशम, चय या उपशम होने पर गुरु आदि के उपदेश के बिना स्वयमेव जाति स्मरण या प्रतिमा आदि ज्ञान द्वारा जीव आदि तत्त्वों का स्वरूप द्रव्य, क्षेत्र, काल और माव से अथवा नाम, स्थापना, द्रव्य और माव, इन चार निषेधों द्वारा जान कर उन पर श्रद्धा करना तथा जिनेंद्र भगवान् द्वारा बताए गए जीवादि तत्त्व ही यथार्थ हैं, सत्य हैं, वैसे ही हैं, इस प्रकार विश्वास होना निमग्गुरुचि है ।

(२) उपदेगुरुचि— केवली भगवान् अथवा द्वयस्य गुरुओं का उपदेश सुन कर जीवादि तत्त्वों पर श्रद्धा करना उपदेगुरुचि है ।

(३) आज्ञा रुचि— राग, द्वेष, मोह तथा अज्ञान से रहित गुरु की आज्ञा से तत्त्वों पर श्रद्धा करना आज्ञारुचि है । जिस जीव के मिथ्यात्व और कर्मायों की मन्दता होती है, उसे आचार्य की आज्ञा मात्र से जीवादि तत्त्वों पर श्रद्धा हो जाती है, इसी को आज्ञा रुचि कहते हैं ।

(४) सूत्ररुचि— अंगप्रविष्ट तथा अंगवाह्य सूत्रों को पढ़ कर जीवादि तत्त्वों पर श्रद्धान करना सूत्ररुचि है ।

(५) बीजरुचि— जिस तरह जल पर तेल की बूंद फैल जाती है । एक बीज बाने से सैकड़ों बीजों की प्राप्ति हो जाती है । उसी तरह त्रयोपशम के बल से एक पद, हेतु या दृष्टांत से अपने आप बहुत पद हेतु तथा दृष्टान्तों को समझ कर श्रद्धा करना बीजरुचि है ।

(६) अभिगम रुचि— ग्यारह अंग, दृष्टिवाद तथा दूसरे सभी सिद्धांतों को अर्थ सहित पढ़ कर श्रद्धा करना अभिगम रुचि है ।

(७) विस्ताररुचि— द्रव्यों के सभी भावों को बहुत से प्रमाण तथा नयों द्वारा जानने के बाद श्रद्धा होना विस्ताररुचि है ।

(८) क्रियारुचि— चारित्र, तप, विनय, पाँच समितियों तथा तीन गुणियों आदि क्रियाओं का शुद्ध रूप से पालन करते हुए सम्पत्त्व की प्राप्ति होना क्रियारुचि है ।

(९) संक्षेपरुचि— दूसरे मत मतान्तरों तथा शास्त्रों वर्गों का ज्ञान न होने पर भी जीवादि पदार्थों में श्रद्धा रखना संक्षेपरुचि है । अथवा बिना अधिक पढ़ा लिखा होने पर भी श्रद्धा का शुद्ध होना संक्षेपरुचि है ।

(१०) धर्मरुचि— धीतराग द्वारा प्रतिपादित द्रव्य और शास्त्र का ज्ञान होने पर श्रद्धा होना धर्मरुचि है ।

(उपसाराध्ययन काध्ययन २२ गाथा १६-२४)

६९.४—मराग सम्यग्दर्शन के दस प्रकार

जिस जीव के मोहनीय कर्म उपशान्त या क्षीण नहीं हुआ है उसका तत्त्वार्थ श्रद्धा को मराग सम्यग्दर्शन कहते हैं। इस के निसर्ग रुचि में लेकर धर्म रुचि तक ऊपर लिखे अनुसार दस भेद हैं। (टाण्णंग १० २० ३ सूत्र ७४१) (अष्टवक्का पद १ सू० ३३)

६९.५—मिथ्यात्व दस

जो बात जैसी हो उसे वैसा न मानना या विपरीत मानना मिथ्यात्व है। इसके दस भेद हैं—

- (१) अधर्म को धर्म समझना ।
- (२) वाप्नविक्र धर्म को अधर्म समझना ।
- (३) संसार के मार्ग को मोक्ष का मार्ग समझना ।
- (४) मोक्ष के मार्ग को संसार का मार्ग समझना ।
- (५) अजीव को जीव समझना ।
- (६) जीव को अजीव समझना ।
- (७) कुमायु को सुमायु समझना ।
- (८) सुमायु को कुमायु समझना ।
- (९) जो व्यक्ति राग द्वेष रूप संसार में मुक्त नहीं हुआ है उसे मुक्त समझना ।
- (१०) जो महापुरुष संसार में मुक्त हो चुका है, उसे संसार में लिप्त समझना ।

(टाण्णंग १० २० ३ सूत्र ७३४)

६९.६—दस प्रवृत्तियों का शस्त्र

जिससे प्राणिमोक्ष प्रसार के बजाए रक्तपात के दो प्रकार का शस्त्र हो उसे शस्त्र कहते हैं। ये शस्त्र दस प्रकार के हैं।
 (१) अग्नि—

जो भी मांस शस्त्र के भेद के भेद बतलाये जाते हैं।

१. अग्नि की धरणा

स्वकाय शस्त्र है। पृथ्वीकाय अप्कायादि की अपेक्षा परकाय शस्त्र है।

(२) विष— स्थावर और जंगम के भेद से विष दो प्रकार का है।

(३) लवण—नमक (४) स्नेह—तेल, घी आदि। (५) खार।

(६) अम्ल— काज्जी अर्थात् एक प्रकार का खट्टा रस जिसे हरे शाक वगैरह में डालने से वह अचित्त हो जाता है। ये छः द्रव्य शस्त्र हैं। आगे के चार भाव शस्त्र हैं। वे इस प्रकार हैं— (७)

दुष्प्रयुक्त मन (८) दुष्प्रयुक्त वचन (९) दुष्प्रयुक्त शरीर।

(१०) अविरति— किसी प्रकार का प्रत्याख्यान न करना अप्रत्याख्यान या अविरति कहलाता है। यह भी एक प्रकार का शस्त्र है।

(टाण्णंग १०३. ३ सूत्र ७४३)

६९७—शुद्ध वागनुयोग के दस प्रकार

वाक्य में आए हुए जिन पदों का वाक्यार्थ से कोई सम्बन्ध नहीं है उसे शुद्धवाक् कहते हैं। जैसे 'इत्थिअं सयणाणि य' यहाँ पर 'य'। इस प्रकार के शुद्धवाक् का प्रयोग शास्त्रों में बहुत स्थानों पर आता है। उसका अनुयोग अर्थात् वाक्यार्थ के साथ सम्बन्ध का विचार दस प्रकार से होता है। यद्यपि उन के बिना वाक्य का अर्थ करने में कोई बाधा नहीं पड़ती, किन्तु वे वाक्य के अर्थ को व्यवस्थित करते हैं। वे दस प्रकार से प्रयुक्त होते हैं—

(१) चकार—प्राकृत में 'च' की जगह 'य' आता है। समाहार इतरतरयोग, समुच्चय, अन्वाचय, अवधारण, पादपूरण और अधिक वचन वगैरह में इसका प्रयोग होता है। जैसे—'इत्थिअं सयणाणि य' यहाँ पर स्त्रियाँ और शब्द इन अर्थ में 'च' समुच्चय के लिए हैं अर्थात् दोनों के अपरिभोग की समान रूप से बताने के लिए कहा गया है।

(२) मकार—'मा' का अर्थ है निर्देश। जैसे 'समयं दा मात्तयं'

में भगवान् ऋषभदेव के लिए आया है 'मन्त्रे देविन्दे देवराया
वदति नर्ममनि' अर्थात् देवों का राजा देवेन्द्र शक्र वन्दना
करता है, नमस्कार करता है । ऋषभदेव के भूत काल में होने
पर भी यहाँ क्रिया में वर्तमान काल है । यद्यपि इस तरह का
भेद होता है, फिर भी यह निर्देश तीनों कालों में इस
की समानता बताने के लिए किया गया है अर्थात् वे
काल में तीर्थङ्करों को वन्दना करते थे, वर्तमान काल में करते
हैं और भविष्यकाल में करेंगे । इन तीनों कालों को
के लिए काल का भेद होने पर भी सामान्य रूप से
काल दे दिया गया है । (टाण्णंग १० व. ३ सूत्र ७४४)

६९८—मत्पदचन के दस प्रकार

जो वस्तु जैसी है, उसे वैसी ही बताना मत्पदचन है ।
जगह एक शब्द किसी अर्थ को बताना है और दूसरी
दूसरे अर्थ को । ऐसी हालत में अगर वक्ता की विवक्षा
है तो दोनों ही स्थानों में वह शब्द मत्पद है । इन प्रकार
के भेद ने मत्पद चन दस प्रकार का है—

- (१) जनपद मत्पद—जिन देश ने जिन वस्तु का जो
उस देश में वह नाम मत्पद है । इनके किसी देश में उन
का दूसरा अर्थ होने पर भी किसी भी विवक्षा में वह
नहीं है । जैसे— बोगरा देश में जाली को चिन्ध कहते हैं
किसी देश में सिगा को भारे, बातु को झूझ इत्यादि कावे
झूझ और भारे का दूसरा अर्थ होने पर भी उन देश में मत्पद
नहीं ।
- (२) मत्पदचन—इसमें प्रत्येक अर्थ के अर्थों में
एक ही अर्थ मान लिया है उस अर्थ में वह शब्द मत्पद
नहीं है । जैसे— देश का यौग्य शब्द है कोचक ने देश
कोचक ।

कोचक, वस्तु कोचक ।

(७) पृथक्त्व— भेद अर्थात् द्विवचन और बहुवचन । जैसे—
'धम्मत्थिकाये धम्मत्थिकायदेसे धम्मत्थिकायपदेसा' यहाँ पर
'धम्मत्थिकायपदेसा' यह बहुवचन उन्हें असंख्यात बताने के
लिए दिया है ।

(८) संयूथ—इकट्ठे किए हुए या समस्त पदों को संयूथ कहते हैं ।
जैसे—'सम्यग्दर्शन शुद्धं' यहाँ पर सम्यग्दर्शन के द्वारा शुद्ध, उसके
लिए शुद्ध, सम्यग्दर्शन से शुद्ध इत्यादि अनेक अर्थ मिले हुए हैं ।

(९) संक्रामित—जहाँ विभक्ति या वचन को बदल कर वाक्य
का अर्थ किया जाता है । जैसे—साहूयं वंदणेयं नासति पावं
असंकिया भावा' । यहाँ 'साधूनाम्' इस पंथी को 'साधुम्यः'
पञ्चमी में बदल कर फिर अर्थ किया जाता है 'साधुओं की
वन्दना से पाप नष्ट होता है और साधुओं से भाव अशंकित
होते हैं ।' अथवा 'अच्छन्दो जे न भुञ्जन्ति, न से चाइत्ति बुच्चइ'
यहाँ 'वह त्यागी नहीं होता' इस एक वचन को बदल कर बहु-
वचन किया जाता है— 'वे त्यागी नहीं कहे जाते ।'

(१०) भिन्न—क्रम और काल आदि के भेद से भिन्न अर्थों
विसदृश । जैसे— 'तिविहं तिविहेणं, मणेणं वायाए काएणं ।'
यहाँ पर तीन करण और तीन योग से त्याग होता है । मन,
वचन और काया रूप तीन योगों का करना, कराना और
अनुमोदन रूप तीन करणों के साथ क्रम रखने से मन से करना,
वचन से कराना और काया से अनुमोदन करना यह अर्थ हो
जायगा । इस लिए यह क्रम छोड़ कर तीनों करणों का सम्बन्ध
प्रत्येक योग से होता है अर्थात् मन से करना, कराना और अनुमोदन
करना । इसी प्रकार वचन से तथा काया से करना, कराना और
अनुमोदन रूप अर्थ किया जाता है । इसी को क्रम भिन्न कहते हैं ।
इसी प्रकार काल भिन्न होता है । जैसे—जम्बूद्वीपपरपृथिवि आदि

वा' यहाँ मकार निषेध अर्थ में प्रयुक्त है। 'जेणामेव ममणे भगवं महावीरे तेणामेव' यहाँ मकार का प्रयोग सौन्दर्य के लिये ही किया गया है। 'जेणेव' करने में भी वही अर्थ निकल जाता है। (३) अपि— इसका प्राकृत में पि हो जाता है। इसके अर्थ सम्भावना, निवृत्ति, अपेक्षा, समुच्चय, गद्दी, शिष्यामर्पण, ५. और प्रश्न। जैसे—'एवं पि ण्णे आसामे' यहाँ पर अपि प्रकारान्तर के समुच्चय के लिए है और बताता है, 'इस प्रकार भी और दूसरी तरह से भी।'

(४) सेयंकार— से शब्द का प्रयोग अथ के लिए किया जाता है। अथ का प्रयोग प्रक्रिया (नए प्रकरण या ग्रन्थ का करना), प्रश्न, आनन्तर्य (इस प्रकार के बाद अमुक शुरू किया जाता है), मंगल, प्रतिवचन (हाँ का उत्तर देना, जैसे 'हाँ' में आता है, अथ किम् !) और समुच्चय के लिए होता है 'वह' और 'उमके' अर्थ में भी इस का प्रयोग होता है।

अथवा इसकी संस्कृत श्रेयस्कर है। इसका अर्थ है जैसे— 'मेयं मे अहिज्झितं अज्झयणं'।

मेय शब्द का अर्थ भविष्यत्काल भी है, जैसे— 'मेयं अकम्मं दावि मवई' यहाँ पर मेय शब्द का अर्थ भविष्यत्काल है।

(५) मार्यंकार— मार्य का अर्थ है मन्य। तथावचन, और प्रश्न इन तीन अर्थों में इसका प्रयोग होता है।

(६) एकन्व— बहुत सी चीजें जहाँ मिल कर किसी एक वस्तु प्रति कारण हों यहाँ एक वचन का प्रयोग होता है। जैसे 'दशेन ज्ञान चाग्निशानि मोक्षमार्गः' यहाँ अगर 'मार्गः' कर दिया जाता तो इसका अर्थ हो जाता ज्ञान, दर्शन और चार अलग अलग मोक्ष के मार्ग हैं। ये तीनों मिल कर मोक्ष का मार्ग हैं, अलग अलग नहीं, यह बताने के लिए मार्ग एक वचन कहा गया है।

(७) पृथक्त्व— भेद अर्थात् द्विवचन और बहुवचन । जैसे—
'धम्मत्थिकाये धम्मत्थिकायदेसे धम्मत्थिकायपदेसा' यहाँ पर
'धम्मत्थिकायपदेसा' यह बहुवचन उन्हें असंख्यात बताने के
लिए दिया है ।

(८) संयूथ—इकट्ठे किए हुए या समस्त पदों को संयूथ कहते हैं ।
जैसे—'सम्यग्दर्शन शुद्धं' यहाँ पर सम्यग्दर्शन के द्वारा शुद्ध, उसके
लिए शुद्ध, सम्यग्दर्शन से शुद्ध इत्यादि अनेक अर्थ मिले हुए हैं ।

(९) संक्रामित—जहाँ विभक्ति या वचन को बदल कर वाक्य
का अर्थ किया जाता है । जैसे—'साहूणं बंदणेणं नासति पावं
असंकिया भावा' । यहाँ 'साधूनाम्' इस पंथी को 'साधुम्यः'
पञ्चमी में बदल कर फिर अर्थ किया जाता है 'साधुओं की
वन्दना से पाप नष्ट होता है और साधुओं से भाव अशंकित
होते हैं ।' अथवा 'अण्डज्जेन भुञ्जन्ति, न से चाइत्ति बुच्चइ'
यहाँ 'वह त्यागी नहीं होता' इस एक वचन को बदल कर बहु-
वचन किया जाता है— 'वे त्यागी नहीं कहे जाते ।'

(१०) भिन्न—क्रम और काल आदि के भेद से भिन्न अर्थात्
विसदृश । जैसे— 'तिविहं तिबिहेणं, मणेणं चायाए काएणं ।'
यहाँ पर तीन करण और तीन योग से त्याग होता है । मन,
वचन और काया रूप तीन योगों का करना, कराना और
अनुमोदन रूप तीन करणों के साथ क्रम रखने से मन से करना,
वचन से कराना और काया से अनुमोदन करना यह अर्थ हो
जायगा । इस लिए यह क्रम छोड़ कर तीनों करणों का सम्यन्त्र
प्रत्येक योग से होता है अर्थात् मन से करना, कराना और अनुमोदन
करना । इसी प्रकार वचन से तथा काया से करना, कराना और
अनुमोदन रूप अर्थ किया जाता है । इसी को क्रम भिन्न कहते हैं ।

इसी प्रकार काल भिन्न होता है । जैसे—'जम्बूद्वीपसण्डण्डि

में भगवान् अपमदेव के लिए आया है 'मक्के देविदे' २ ॥
 वंदति नमंमति' अर्थात् देवों का गजा देवेन्द्र गुरु २॥
 करता है, नमस्कार करता है । अपमदेव के भूत काल में होने
 पर भी यहाँ किया में वर्तमान काल है । यद्यपि इस तरह काल
 में भेद होता है, फिर भी यह निर्देश तीनों कालों में इस बात
 की समानता बताने के लिए किया गया है अर्थात् देवेन्द्र भूत
 काल में तीर्थङ्गों को वन्दना करते थे, वर्तमान काल में करते
 हैं और भविष्यकाल में करेंगे । इन तीनों कालों को बताने
 के लिए काल का भेद होने पर भी सामान्य रूप में वर्तमान
 काल दे दिया गया है । (टाङ्ग १० उ.३ सू. ७४१)

६१.८—मन्यवचन के दस प्रकार

जो वस्तु जैसी है, उसे वैसी ही बताना मन्यवचन है । एक
 जगह एक शब्द किसी अर्थ को बताना है और दूसरी जगह
 दूसरे अर्थ को । ऐसी हालत में अगर वक्ता की विवधा ठीक
 है तो दोनों ही अर्थों में वह शब्द मन्य है । इस प्रकार विवधाओं
 के भेद से मन्य वचन दस प्रकार का है—

(१) जनपद मन्य— जिस देश में जिस वस्तु का जो नाम है,
 उस देश में वह नाम मन्य है । दूसरे किसी देश में उस शब्द
 का दूसरा अर्थ होने पर भी किसी भी विवधा में वह अमन्य
 नहीं है । जैसे— बोरंग देश में पानी को पिच्छ कहते हैं ।
 किसी देश में पिता को भाटे, मामु को आटे इत्यादि कहते हैं ।
 भाटे और आटे का दूसरा अर्थ होने पर भी उस देश में मन्य ही है ।

(२) सम्मतमन्य— प्राचीन आचार्यों अथवा विद्वानों ने जिस
 शब्द का जो अर्थ मान लिया है उस अर्थ में वह शब्द सम्मत-
 मन्य है । जैसे पंरुज का योगिक अर्थ है कीचड़ से पैदा होने
 वाली वस्तु । कीचड़ से मेटक, गूबाल, कलम आदि बहुत सी

वस्तुएं उत्पन्न होती हैं, फिर भी शब्द शास्त्र के विद्वानों ने पङ्कज शब्द का अर्थ सिर्फ कमल मान लिया है। इस लिए पङ्कज शब्द से कमल ही लिया जाता है, मेंढक आदि नहीं। यह सम्मत सत्य है।

(३) स्थापनासत्य—सदृश या विसदृश आकार वाली वस्तु में किसी की स्थापना करके उसे उस नाम से कहना स्थापना सत्य है। जैसे—शतरंज के मोहरों को हाथी, घोड़ा आदि कहना। अथवा 'क' इस आकार विशेष को क कहना। वास्तव में क आदि वर्ण ध्वनिरूप हैं। पुस्तक के अक्षरों में उस ध्वनि की स्थापना की जाती है, अथवा आचारांग आदि श्रुत ज्ञान रूप हैं, लिखे हुए शास्त्रों में उन की स्थापना की जाती है। जम्बूद्वीप के नक्षत्रों को जम्बूद्वीप कहना सदृश आकार वाले में स्थापना है।

(४) नामसत्य—गुण न होने पर भी व्यक्ति विशेष का या वस्तु विशेष को वैसा नाम रख कर उसे नाम से पुकारना नामसत्य है। जैसे—किसी ने अपने लड़के का नाम कुलवर्द्धन रक्खा, लेकिन उसके पैदा होने के बाद कुल का हास होने लगा। फिर भी उसे कुलवर्द्धन कहना नामसत्य है। अथवा अमरावती देवों की नगरी का नाम है। वैसी बातें न होने पर भी किसी गाँव को अमरावती कहना नाम सत्य है।

(५) रूपसत्य—वास्तविकता न होने पर भी रूप विशेष को धारण करने से किसी व्यक्ति या वस्तु को उस नाम से पुकारना। जैसे—साधु के गुण न होने पर भी साधु वेश वाले इरूप को साधु कहना।

(६) प्रतीतसत्य अर्थात् अपेक्षानसत्य—किसी अपेक्षा से दूसरी वस्तु को छोटी बड़ी आदि कहना अपेक्षानसत्य या प्रतीतसत्य है। जैसे मध्यमा अंगुली की अपेक्षा अनामिका को छोटी कहना।

(७) व्यवहारसत्य—जो बात व्यवहार में चली जाती है। जैसे—पर्वत पर पड़ी हुई लकड़ियों के जलने पर भी पर्वत जलता है, य

कहना । रान्ने के स्थिर होने पर भी कहना, यह मार्ग अमुक नगर को जाता है । गाड़ी के पहुँचने पर भी कहना कि गाँव आगया ।

(८) भावसन्ध- निश्चय की अपेक्षा कई बातें होने पर भी किसी एक की अपेक्षा से उसमें बड़ी बनाना । जैसे नौते में कई रंग होने पर भी उसे हरा कहना ।

(९) योगसन्ध- किसी चीज के सम्यन्ध से व्यक्ति विशेष को उस नाम से पुकारना । जैसे- लकड़ी होने बातों को लकड़ी के नाम से पुकारना ।

(१०) उपमासन्ध- किसी बात के समान होने पर एक वस्तु की दूसरी से तुलना करना और उसे उस नाम से पुकारना ।

(आखण्ड १० उ० ३ सूत्र ७४१) (पञ्चमहा सूत्र भाष्य ११ सूत्र ११४)
(वर्णमण्ड अष्टाध्याय ३ श्लोक ४१ की टीका उ० १२१)

६३९.- सत्यामृषा (मिथ्र) भाषा के दस प्रकार -

जिस भाषा में कुछ अंग सत्य तथा कुछ असत्य हो उसे सत्यामृषा (मिथ्र) भाषा कहते हैं । इसके दस भेद हैं-

(१) उन्वन्नमिथ्रिता- मन्त्रा पूरी करने के लिए नहीं उन्वन्न हुआ के साथ उन्वन्न हुआ को मिला देना । जैसे- किसी गाँव में कम या अधिक शालुक उन्वन्न होने पर भी 'दस शालुक उन्वन्न हुए' यह कहना ।

(२) विगतमिथ्रिता- इसी प्रकार नरक के विषय में करना ।

(६) उत्पन्नविगतमिथ्रिता- जन्म और मृत्यु दोनों के विषय में अथर्थात् कहना ।

(४) जीवामिथ्रिता- जीवित तथा मरे हुए बहुत से गुण आदि के देर को देना कर यह कहना अहाँ ! यह कितना बड़ा जीवों का देर है । जीवितों को लेकर सत्य तथा मरे हुए को लेने में असत्य होने से यह भाषा जीवामिथ्रिता कथ्याहता है ।

(५) अजीवमिश्रिता— उसी राशि को अजीबों का ढेर बताना ।

(६) जीवाजीवमिश्रिता— उसी राशि में अय्यार्थ रूप से यह बताना कि इतने जीव हैं और इतने अजीव ।

(७) अनन्तमिश्रिता—अनन्तकायिक तथा प्रत्येकशरीरी वनस्पति काय के ढेर को देख कर कहना कि यह अनन्तकाय का ढेर है ।

(८) प्रत्येकमिश्रिता— उसी ढेर को कहना कि यह प्रत्येक वनस्पति काय का ढेर है ।

(९) अद्धामिश्रिता— दिन या रात वगैरह काल के विषय में मिश्रित वाक्य बोलना । जैसे जल्दी के कारण कोई दिन रहते कहे—उठो रात होगई । अथवा रात रहते कहे, सूरज निकल आया ।

(१०) अद्धाद्धामिश्रिता—दिन या रात के एक भाग को अद्धाद्धा कहते हैं । उन दोनों के लिए मिश्रित वचन बोलना अद्धाद्धा मिश्रित है, जैसे जल्दी करने वाला कोई मनुष्य दिन के पहले पहर में भी कहे, दोपहर हो गया ।

(पञ्चवर्णा भाषावत् ११ सू. १६५) (दायणां १० ३० ३ सूत्र ७५१)

(धर्मसंग्रह आधिकार ३ श्लोक ४१ की टीका पृष्ठ १२२)

७००— मृपावाद दस प्रकार का

असत्यवचन को मृपावाद कहते हैं । इसके दस भेद हैं—

(१) क्रोधनिःसृत— जो असत्य वचन क्रोध में बोला जाय । जैसे क्रोध में कोई दूसरे को दास न होने पर भी दास कह देता है ।

(२) माननिःसृत—मान अर्थात् घमण्ड में बोला हुआ वचन । जैसे घमण्ड में आकर कोई गरीब भी अपने को धनवान् कहने लगता है ।

(३) मायानिःसृत— कपट से अर्थात् दूसरे को धोखा देने के लिए बोला हुआ भ्रुष्ट ।

(४) लोभनिःसृत— लोभ में आकर बोला हुआ वचन, जैसे कोई दुकानदार थोड़ी कीमत में खरीदी हुई वस्तु को कीमत की बता देता है ।

तक ब्रह्मचारी को उस आसन या जगह पर न बैठना चाहिये।
घी के घड़े को अग्नि का दृष्टान्त।

(४) स्त्रियों के मनोहर और मनोरम (सुन्दर) अङ्ग प्रत्यङ्गों को आसक्तिपूर्वक न देखे। कारी कराई हुई कच्ची आँख को सूर्य का दृष्टान्त।

(५) त्रास आदि की टाटी, भौत और वस्त्र (पदी) आदि के अन्दर होने वाले स्त्रियों के विषयोत्पादक शब्द, रोने के शब्द, गीत, हँसी, आक्रन्द और विलाप आदि के शब्दों को न सुने। मोर को बादल की गर्जना का दृष्टान्त।

(६) पहले भोगे हुए काम भोगों का स्मरण न करे। मुसाफिरों को बुढ़िया की छाछ का दृष्टान्त।

(७) प्रणीत भोजन न करे अर्थात् जिसमें से घी की चूँदें टपक रही हों ऐसा सरस और काम को उन्नेजित करने वाला आहार ब्रह्मचारी को न करना चाहिए। सन्निपात के रोगी को दूध मिश्री के भोजन का दृष्टान्त।

(८) शास्त्र में बतलाए हुए परिमाण से अधिक आहार न करे। शास्त्र में पुरुष के लिए ३२ कबल और स्त्री के लिए २८ कबल आहार का परिमाण बतलाया गया है। जीर्ण कोषली का दृष्टान्त।

(९) स्नान मंजत आदि करके अपने शरीर को अलंकृत न करे। अलंकृत शरीर वाला पुरुष स्त्रियों द्वारा प्रार्थनीय होता है। जिससे ब्रह्मचर्य भङ्ग होने की सम्भावना रहती है। रंक के हाथ में गए हुए रत्न का दृष्टान्त।

(१०) सुन्दर शब्द, रूप, रस, गन्ध और स्पर्श में आसक्त न बने।

उपरोक्त बातों का पालन करने से ब्रह्मचर्य की रक्षा होती है। इसी लिए ये ब्रह्मचर्य के समाधि स्थान कहे जाते हैं।

(ब्रह्मचर्य के समाधि स्थान)

७०२- क्रोध कषाय के दस नाम

(१) क्रोध (२) कोष (३) गोष (४) दोष (५) अवमा (६) मंज्वलन (७) कलह (८) चाण्डिक्य (९) मंडन (१०) विवाद ।
(मनवाक्यांग ४०)

७०३- अहंकार के दस कारण

दस कारणों में अहंकार की उत्पत्ति होती है । वे ये हैं—
(१) जातिमद (२) कुलमद (३) बलमद (४) श्रुतमद (५) ऐश्वर्यमद (६) रूपमद (७) तपमद (८) लब्धिमद (९) नागमुवर्गमद (१०) अवधि ज्ञान दर्शनमद ।

मेरी जाति मय जातियों में उत्तम है । मैं श्रेष्ठ जाति वाला हूँ । जाति में मेरी बराबरी करने वाला कोई दूसरा व्यक्ति नहीं है । इस प्रकार जाति का मद करना जातिमद कहलाता है । इसी तरह कुल, बल आदि मदों के लिए भी समझ लेना चाहिए ।
(८) नाग मुवर्गमद—मेरे पास नाग कुमार, मुवर्ग कुमार आदि जाति के देव आते हैं । मैं किनना तेजस्वी हूँ कि देवता भी मेरी सेवा करते हैं । इस प्रकार मद करना ।

(१०) अवधिज्ञान दर्शनमद—मनुष्यों को सामान्यतः जो अवधि ज्ञान और अवधि दर्शन उपन्य होता है उसमें मुझे अत्यधिक विशेष ज्ञान उत्पन्न हुआ है । मेरे में अधिक अवधिज्ञान किसी भी मनुष्यादि को हो नहीं सकता । इस प्रकार मैं अवधिज्ञान और अवधि दर्शन का मद करना ।

इस सब में जिस बात का मद किया जायगा, आगामी भव में वह प्राणी उस बात में हीनता को प्राप्त करेगा । अतः आत्मादी पुरुषों को किसी प्रकार का मद नहीं करना चाहिए ।

(टाळग १० उ. ३ मूत्र ७१०)

७०४- प्रत्याख्यान (पञ्चक्खाण) दस

अमुक समय के लिए पहले से ही किसी वस्तु के त्याग कर देने को प्रत्याख्यान कहते हैं। इसके दस भेद हैं-

अणागममतिक्रान्तं कोटीसहितं नियन्त्रितं चैव ।

सागारमणागारं परिमाणकडं निरवसेसं ॥

संकेयं चैव अद्वाए पञ्चक्खाणं दसविहं तु ॥

(१) अनागत- किसी आने वाले पर्व पर निश्चित किए हुए पञ्चक्खाण को उस समय बाधा पड़ती देख पहिले ही कर लेना। जैसे पर्युषण में आचार्य या ग्लान तपस्वी की सेवा सुश्रूषा करने के कारण होने वाली अन्तराय को देख कर पहिले ही उपवास बगैरह कर लेना ।

(२) अतिक्रान्त- पर्युषणादि के समय कोई कारण उपस्थित होने पर बाद में तपस्या बगैरह करना अर्थात् गुरु तपस्वी और ग्लान की वैयावृत्त्य आदि कारणों से जो व्यक्ति पर्युषण बगैरह पर्वों पर तपस्या नहीं कर सकता, वह यदि बाद में उसी तप को करे तो उसे अतिक्रान्त कहते हैं ।

(३) कोटी सहित- जहाँ एक प्रत्याख्यान की समाप्ति तथा दूसरे का प्रारम्भ एक ही दिन में हो जाय उसे कोटी सहित कहते हैं ।

(४) नियन्त्रित- जिस दिन जिस पञ्चक्खाण को करने का निश्चय किया है उस दिन उसे नियमपूर्वक करना, बीमारी बगैरह की बाधा आने पर भी उसे नहीं छोड़ना नियन्त्रित प्रत्याख्यान है ।

प्रत्येक मास में जिस दिन जितने काल के लिए जो तप स्वीकार किया है उसे अवश्य करना, बीमारी बगैरह बाधाएं उपस्थित होने पर भी प्राण रहते उसे न छोड़ना नियन्त्रित तप । यह प्रत्याख्यान चौदह पूर्वधर, जिनकल्पी, ५

मंढनन धानों के ही होना है। पहिले स्थविरकल्पी भी इसे करते थे, लेकिन अब विच्छिन्न हो गया है।

(५) सागार प्रत्याख्यान—जिम प्रत्याख्यान में कुछ आगार अर्थात् अपवाद रक्खा जाय, उन आगारों में से किसी के उपस्थित होने पर न्यागी हुई वस्तु न्याग का समय पूरा होने में पहिले भी काम में लेली जाय तो पञ्चक्याण नहीं टूटता। जैसे नव-कारमी, पोंगिमी आदि पञ्चक्याणों में अनामोग वर्गरह आगार हैं।

(६) अणागार प्रत्याख्यान—जिम पञ्चक्याण में मढनगार वर्गरह आगार न हों। अनामोग और मढमाकार तो उस में भी होते हैं क्योंकि मुँह में अङ्गुली वर्गरह के अनुपयोग पूर्वक पढ़ जाने में आगार न होने पर पञ्चक्याण के टूटने का दर है।

(७) परिमाणकृत—दधि, रुबन, घर, भित्ता या मोजन के टुक्यों की संख्या करना परिमाणकृत पञ्चक्याण है।

(८) निर्वशेष—अशन, पान आदिम और स्वादिम चारों प्रकार के आहार का सर्वथा न्याग करना निर्वशेष पञ्चक्याण है।

(९) मंकेत पञ्चक्याण—अंगूठा, मुट्ठी, गाँठ वर्गरह के चिह्न को लेकर जो न्याग किया जाता है, उसे मंकेत प्रत्याख्यान कहते हैं।

(१०) अदाप्रत्याख्यान—अदा अर्थात् काल को लेकर जो न्याग किया जाता है, जैसे पोंगिमी, दो पोंगिमी वर्गरह।।

(टाणण १० ३० ३ सूत्र ५२) (मगधनोशन ५ उद्देश २ सू २५)

७०५—अद्धा पञ्चक्याण के दम भेद

कुछ काल के लिए अशनादि का न्याग करना अद्धा प्रत्याख्यान (पञ्चक्याण) है। इसके दम भेद हैं—

(१) नमृफारमहिय मुट्ठिमहिय पञ्चक्याण—घुर्गोटय में लेकर दो पहर अर्थात् ४८ मिनिट तक चारों आहारों का न्याग करना नमृफारमहिय मुट्ठिमहिय पञ्चक्याण है।

नमुकारसहिय करने का पाठ

उग्राए सूरं नमुकारसहियं पञ्चक्खाइ चउन्विहं पि आहारं
अन्नणं पाणं खाइमं साइमं अन्नन्धणाभोगेणं सहसागारेणं
चोसिरइ ।

नोट—अगर स्वयं पञ्चक्खाण करना हो तो 'पञ्चक्खाइ' की जगह
'पञ्चक्खामि' और 'चोसिरइ' की जगह 'चोसिरामि' कहना चाहिए ।
दूसरे को पञ्चक्खाण कराते समय ऊपर लिखा पाठ बोलना चाहिए ।

(२) पोरिसी, साठ पोरिसी पञ्चक्खाण—सूर्योदय से लेकर एक
पहर (दिन का चौथा भाग) तक चारों आहारों का त्याग करने को
पोरिसी पञ्चक्खाण और डेढ़ पहर तक त्याग करने को साठ
पोरिसी कहते हैं ।

पोरिसी करने का पाठ

पोरिसि पञ्चक्खाइ उग्राए सूरं चउन्विहं पि आहारं अन्नणं
पाणं खाइमं साइमं अन्नन्धणाभोगेणं सहसागारेणं
पच्छन्नकालेणं दिनमोहेणं साहुचयेणं सज्जसमाहिषत्तियागारेणं
चोसिरइ ।

पोरिसी के आहारों की व्याख्या दूसरे भाग के श्रौत नं० ४=३
में दी गई है ।

नोट—अगर साठ पोरिसी का पञ्चक्खाण करना हो तो 'पोरिसि' की
जगह 'साठपोरिसि' बोलना चाहिए ।

(३) पुरिमइ शवइ पञ्चक्खाण—सूर्योदय से लेकर दो पहर तक
चारों आहारों का त्याग करने को पुरिमइ पञ्चक्खाण कहते हैं और
तीन पहर तक चारों आहारों का त्याग करने को शवइ कहते हैं ।

पुरिमइ करने का पाठ

उग्राए सूरं पुरिमइ पञ्चक्खाइ चउन्विहं पि आहारं अन्नणं
पाणं खाइमं साइमं अन्नन्धणाभोगेणं सहसागारेणं

पञ्चनकालेण दिमामोहेण माहुवयणेण महत्तरागारेण
सञ्चममाहिवत्तियागारेण वोमिरह ।

पुरिमड्ड पचक्याण के आगारों की व्याख्या इसके दूसरे भाग
के सातवें बोलमंत्र के बोल नं० ५१६ में दी गई है ।

नोट— अगर अबड्ड पचक्याण करना हो तो पुरिमड्ड की जगह अबड्ड
बोलना चाहिए । पुरिमड्ड को दो पोरिमी और अबड्ड को तीन
पोरिमी भी कहते हैं ।

(४) एकासन, वियामन का पचक्याण—पोरिमी या दो पोरिमी
के बाद दिन में एक बार भोजन करने को एकामन कहते हैं । यदि
दो बार भोजन किया जाय तो वियामन पचक्याण हो जाता है ।
एकासन और वियामन में अचित्त भोजन और पके पानी का
ही सेवन किया जाता है ।

एकासन करने का पाठ

एगामण पचक्याऽ निविहं पि आहारं अमणं ग्राहमं मादमं
अन्नत्थणामोणेणं महमागारेणं मागारियागारेणं आउंटण-
पसारणेणं गुरुअब्भुट्ठाणेणं पारिट्टावणियागारेणं* महत्तरागारेणं
सञ्चममाहिवत्तियागारेणं वोमिरह ।

एकासन के आगारों की व्याख्या बोल नं० ५२७ में दी है ।

* इसमें श्रावक को 'पारिट्टावणियागारेणं' नहीं बोलना चाहिए ।

नोट— अगर वियामन करना हो 'एगामण' की जगह 'वियामण'
बोलना चाहिए ।

(५) एगट्ठाण का पचक्याण— हाथ और मुँह के सिवाय शेष
अङ्गों को बिना हिलाए दिन में एक ही बार भोजन करने को
एगट्ठाण पचक्याण कहते हैं । इसकी सारी विधि एकामना के
समान है । केवल हाथ पैर हिलाने का आगार नहीं रहता । इसी
लिए इसमें 'आउंटणपसारणेणं' नहीं बोला जाता । भोजन प्रारंभ
करते समय जिस आसन में बैठे, उठकर वही बैठे रहना चाहिए ।

एगडाण करने का पाठ

एकासणं एगडाणं पञ्चकखाद ति विहं पि आहारं असणं
खाइमं साइमं अनत्थणाभोगेणं सहसागारेणं गुरुअब्भुडाणेणं
पारिद्धावणियागारेणं* महत्तरागारेणं सव्वसमाहिवत्तिथागारेणं
वोसिरइ ।

*इस में भी श्रावक को 'पारिद्धावणियागारेणं' नहीं बोलना चाहिए।
(६) आयंवल का पञ्चकखाण—एक बार नीरस और विगय
रहित आहार करने को आयंम्विल कहते हैं। शास्त्र में इस पञ्च-
कखाण को चावल, उड़द या सत्त आदि से करने का विधान है।
इसका दूसरा नाम 'गोण्ण' तप है।

आयंवल करने का पाठ

आयंवलं पञ्चकखाइ अनत्थणाभोगेणं सहसागारेणं
लेवालेवेणं गिहत्थसंसहेणं उक्खित्तविवेगेणं पारिद्धावणिया-
गारेणं* महत्तरागारेणं सव्वसमाहिवत्तिथागारेणं वोसिरइ ।

आयंवल के आहारों का स्वरूप बोल नं० ५८८ में है।
*इस में भी श्रावक को 'पारिद्धावणियागारेणं' नहीं बोलना चाहिए।
(७) अभत्तट्ट (उपवास) का पञ्चकखाण—यह पञ्चकखाण दो
प्रकार का है—(क) सूर्योदय से लेकर दूसरे दिन सूर्योदय तक
चारों आहारों का त्याग चौविहार अभत्तट्ट कहलाता है। (ख) पानी
का आहार रख कर तीन आहारों का त्याग करना त्रिविहार
अभत्तट्ट है।

(क) चौविहार उपवास करने का पाठ

उग्गाए सरे अभत्तट्टं पञ्चकखाइ चउविहं पि आहारं
असणं पाणं खाइमं साइमं अनत्थणाभोगेणं सहसा

पारिद्धावग्नियागारंगं* मद्भक्षगगारंगं मन्वममादिवत्तियागारंगं
बोमिग्द ।

(ख) निविहार उपवास करने का पाठ

उगगए मूरं अन्मत्तट्टं पच्चकयाड् निविहं पि आहारं अमगं
ग्याडमं माडमं अन्नन्थगाभोगेगं महमागारंगं पारिद्धावग्नियागारंगं*
मद्भक्षगगारंगं मन्वममादिवत्तियागारंगं पाणम्म लेवाडेगं वा
अलेवाडेगं वा अळ्ळेगं वा वडलेगं वा ममिन्येगं वा अमिन्येगं
वा बोमिग्द ।

*'पारिद्धावग्नियागारंगं' श्रावक को न बोलना चाहिए ।
(=) चरिम पच्चकयाण- यह दो प्रकार का है । (क) दिवम-
चरिम- सूर्य अस्त होने में पहिले दूसरे दिन सूर्योदय तक चागे
या तीनों आहारों का न्याग करना दिवमचरिम पच्चकयाण है ।
(ख) भवचरिम- पच्चकयाण करने के समय में लेकर यावर्जीव
आहारों का न्याग करना भवचरिम पच्चकयाण है ।

दिवमचरिम (गत्रिचोविहार) करने का पाठ

दिवमचरिमं पच्चकयाड् चउच्चिहं पि आहारं अमगं पाणं
ग्याडमं माडमं अन्नन्थगाभोगेगं महमागारंगं मन्वममादिवत्तिया-
गारंगं बोमिग्द ।

अगर मत को निविहार पच्चकयाण करना हो तो 'चउच्चिहं' की
जगह 'निविहं' कहना चाहिए और 'पाणं' न बोलना चाहिए ।

भवचरिम करने का पाठ

भवचरिमं पच्चकयाड् चउच्चिहं पि आहारं अमगं पाणं ग्याडमं
माडमं अन्नन्थगाभोगेगं महमागारंगं बोमिग्द ।

भवचरिम में अपनी इच्छानुसार आहार तथा आहारों की
संख्या घटाई बढ़ाई जा सकती है ।

(९) अभिग्रह पञ्चखाण— उपवास के बाद या बिना उपवास के अपने मन में निश्चय कर लेना कि अमुक बातों के मिलने पर ही पारणा या आहारादि ग्रहण करूँगा, इस प्रकार की प्रतिज्ञा को अभिग्रह कहते हैं। जैसे भगवान् महावीर स्वामी ने पाँच मास के उपरान्त अभिग्रह किया था—कोई सती राजकुमारी उड़दों को लिए बैठी हो। उसका सिर मुँडा हुआ हो। पैरों में बँड़ी हो। एक पैर देहली अन्दर तथा एक बाहर हो। आखों में आँसू हों इत्यादि सब बातें मिलने पर राजकन्या के हाथ से उवाले हुए उड़दों का ही आहार लेना। जब तक सारी बातें न मिलें पारना न करना।

अभिग्रह में जो बातें धारणी हों उन्हें मन में या वचन द्वारा निश्चय कर लेने के बाद नीचे लिखा पञ्चक्खाण किया जाता है।

अभिग्रह करने का पाठ

अभिग्रहं पञ्चक्खाइ अन्नत्थणाभोगेणं सहसाराणं महत्तराणारणं सन्नसमाहिवात्तियाणारणं वोसिरइ ।

अगर अप्रावरण अर्थात् वस्त्र रहित अभिग्रह किया हो तो 'चोलपट्टाणारणं' अधिक बोलना चाहिए।

(१०) निव्विगइ पञ्चक्खाण— विमर्शों के त्याग को निव्विगइ पञ्चक्खाण कहते हैं।

निव्विगइ करने का पाठ

निव्विगइयं पञ्चक्खाइ अन्नत्थणाभोगेणं सहसाराणं लेवालेवेणं गिहत्थमंगट्टेणं उप्पिन्नविपेगेणं पडुच्चमच्चिखण्णं पारिद्धावणियाणारणं महत्तराणारणं सन्नसमाहिवात्तियाणारणं वोसिरइ ।

निव्विगइ के नौ आगारों का स्वरूप इसी भाग के बोल नं० ६२६ में दे दिया गया है।

इस में भी श्रावक को 'पारिद्धायणियागारंग' नर्ही धोना चाहिए।

(प्रवचनमार्गद्वार द्वार ४ गा० २०१)

(हरि० आचर्यक अ. ६ निर्युक्ति गा० १४६७ पृष्ठ २७१)

७०६— विगय दम

शरीर में विकार उत्पन्न करने वाले पदार्थों को विगय (विकृति) कहते हैं। ये दम हैं—

(१) दूध (२) दही (३) मक्खन (४) घी (५) तेल (६) गुड़ (७) मधु (८) मद्य (शराब) (९) मांस (१०) पक्वान्न (मिठाई)।

दूध पाँच तरह का होता है गाय का, भैंस का, बकरी का, भेड़ का और ऊँटनी का।

दही, घी और मक्खन चार तरह के होते हैं। ऊँटनी के दूध का दही नहीं होता। उर्मालिण मक्खन और घी भी नहीं होते।

तेल चार तरह का होता है। तिलों का, अलसी का, कृमुम्भ का और सरसों का। ये चारों तेल विगय में गिने जाते हैं। बाकी तेल विगय नहीं माने जाते। लेप करने वाले होते हैं।

मद्य दो तरह का होता है— काट में बनाया हुआ और ईग आदि में तैयार किया हुआ।

गुड़ दो तरह का होता है— द्रव अर्थात् पिघला हुआ और पिट अर्थात् घृता।

मधु (शहद) तीन तरह का होता है— (१) माक्षिक अर्थात् मक्षिग्यों द्वारा इकट्ठा किया हुआ। (२) कौन्तिक कुंत नाम के जन्तु विशेष द्वारा इकट्ठा किया हुआ। (३) आमर-भ्रमरों द्वारा इकट्ठा किया हुआ।

(हरि० आचर्यक अ. ६ निर्युक्ति गा० १६०१ पृष्ठ २८२)

७०७— वेयावस (वेयावस्य) दम

अपने में बड़े या असमर्थ की सेवा सुधरा करने को वेयावस (वेयावस्य) कहते हैं। इस के दम भेद हैं—

(८) संघ का विनय ।

(९) आत्मा, परलोक मोक्ष आदि हैं, ऐसी प्ररूपणा करना क्रियाविनय है ।

(१०) साधर्मिक का विनय ।

नोट- भगवती सूत्र में दर्शन विनय के दो भेद बताए हैं- शुश्रूषा विनय और अनाशातना विनय । शुश्रूषा विनय के अनेक भेद हैं । अनाशातना विनय के पैंतालीस भेद हैं । ऊपर के दस तथा पाँच ज्ञान, इन पन्द्रह बोलों की (१) अनाशातना (२) भक्ति और (३) बहुमान, इस प्रकार प्रत्येक के तीन भेद होने से पैंतालीस हो जाते हैं । दर्शनविनय के दस भेद भी प्रसिद्ध होने के कारण दसवें बोल संग्रह में ले लिए गए हैं और यहाँ दस ही बताए गए हैं ।

(भगवती सूत्र शतक २५ उद्देशा ७ सूत्र ८०२)

७१०- संवर दस

इन्द्रिय और योगों की अशुभ प्रवृत्ति से आते हुए कर्मों को रोकना संवर है । इसके दस भेद हैं-

(१) श्रोत्रेन्द्रियसंवर (२) चक्षुरिन्द्रियसंवर (३) घ्राणेन्द्रियसंवर (४) रसनेन्द्रियसंवर (५) स्पर्शनेन्द्रियसंवर (६) मनसंवर (७) वचनसंवर (८) कायसंवर (९) उपकरणसंवर (१०) सूत्री-कुशाग्रसंवर

पाँच इन्द्रियाँ और तीन योगों की अशुभ प्रवृत्ति को रोकना तथा उन्हें शुभ व्यापार में लगाना क्रम से श्रोत्रेन्द्रिय वगैरह आठ संवर हैं ।

(९) उपकरणसंवर- जिन वस्तुओं के पहनने में हिंसा हो या जहाँ जो वस्त्रादि न कल्पते हों, उन्हें न लेना उपकरण संवर है । अथवा चित्तरे हुए वस्त्रादि को नमेट कर रखना उपकरणसंवर है । यह उपकरणसंवर समस्त आधिक उपधि की अपेक्षा बढ़ा गया है । जो वस्त्र पात्रादि उपधि एक बार ग्रहण करके वापिस

की प्राप्ति होती है ।

- (५) संज्ञने—पञ्चक्याग में संयम की प्राप्ति होती है ।
- (६) अण्णङ्गे—संयम में अनाश्रय की प्राप्ति होती है अर्थात् नवीन कर्मों का आगमन नहीं होता ।
- (७) तवे—इसके बाद अनशन आदि बाह्य प्रकार के तप की ओर प्रवृत्ति होती है ।
- (८) बोधगे—तप में पूर्वकृत कर्मों का नाश होता है अथवा आत्मा में गहरे हुए पूर्वकृत कर्मरूपी कचरों की शुद्धि हो जाती है ।
- (९) अकिण्ण्य—इसके बाद आत्मा अक्रिय हो जाता है अर्थात् मन, वचन और काया रूप योगों का निर्गम हो जाता है ।
- (१०) निज्यागे—योगनिर्गम के पश्चात् जीव का निर्वाण हो जाता है अर्थात् जीव पूर्वकृत कर्म विकारों में गड़ित हो जाता है । कर्मों में छूटने ही जीव सिद्धगति में चला जाता है । सिद्धगति को प्राप्त करना ही जीव का अन्तिम प्रयोजन है ।

(तात्पार्ग्य ३ उद्देश्य ३ सू० ११०)

७००.—दर्शनविनय के दस भेद

वैतनाग देव, निग्रन्थ गुरु और केवली भाषित धर्म में अष्टा ग्वना दर्शन या सम्यक्त्व है । दर्शन के विनय, मार्ग और अष्टा को दर्शनविनय कहते हैं । इनके दस भेद हैं—

- (१) अग्निहन्तों का विनय ।
- (२) अग्निहन्त प्रमपित धर्म का विनय ।
- (३) आचार्यों का विनय ।
- (४) उपाध्यायों का विनय ।
- (५) श्यामिणों का विनय ।
- (६) कुल का विनय ।
- (७) गण का विनय ।

(=) संव का विनय ।

(६) आत्मा, परलोक मोक्ष आदि हैं, ऐसी प्ररूपणा करना क्रियाविनय है ।

(१०) साधर्मिक का विनय ।

नोट- भगवती सूत्र में दर्शन विनय के दो भेद बताए हैं— शुश्रूषा विनय और अनाशातना विनय । शुश्रूषा विनय के अनेक भेद हैं । अनाशातना विनय के पैंतालीस भेद हैं । ऊपर के दस तथा पाँच ज्ञान, इन पन्द्रह बोलों की (१) अनाशातना (२) भक्ति और (३) बहुमान, इस प्रकार प्रत्येक के तीन भेद होने से पैंतालीस हो जाते हैं । दर्शनविनय के दस भेद भी प्रसिद्ध होने के कारण दसवें बोल संग्रह में ले लिए गए हैं और यहाँ दस ही बताए गए हैं ।

(भगवती सूत्र सतक २५ उद्देश ७ सूत्र २०२)

७१०— संवर दस

इन्द्रिय और योगों की अशुभ प्रवृत्ति से आते हुए कर्मों को रोकना संवर हैं । इसके दस भेद हैं—

(१) श्रोत्रेन्द्रियसंवर (२) चक्षुरिन्द्रियसंवर (३) घ्राणेन्द्रियसंवर (४) रसनेन्द्रियसंवर (५) स्पर्शनेन्द्रियसंवर (६) मनसंवर (७) वचनसंवर (=) कायसंवर (८) उपकरणसंवर (१०) वृत्ती-कुशाग्रसंवर

पाँच इन्द्रियाँ और तीन योगों की अशुभ प्रवृत्ति को रोकना तथा उन्हें शुभ व्यापार में लगाना क्रम से श्रोत्रेन्द्रिय पंगैरह आठ संवर हैं ।

(६) उपकरणसंवर— जिन वस्तुओं के पहनने में हिंसा हो अथवा जो वस्त्रादि न कल्पते हों, उन्हें न लेना उपकरण संवर है । अथवा बिखरे हुए वस्त्रादि को समेट कर रखना उपकरणसंवर है । यह उपकरणसंवर समस्त सांप्रतिक उपधि की अपेक्षा गया है । जो वस्त्र पात्रादि उपधि एक बार प्रदत्त करके

न लौटाई जाय उमे अधिक कहते हैं ।

(१०) सूचीकुशाग्रमंवर—सूई और कुशाग्र वर्गरह वस्तुएं जिन के बिगुरे रहने में शरीर में चुमने वर्गरह का डर है, उन सब को ममेष्ट कर रगना । सामान्य रूप से यह मंवर मारी आपग्रहिक उपधि के लिए है । जो वस्तुएं आवश्यकता के समय गृहस्थ में लेकर काम होने पर वापिस कर दी जायें उन्हें आपग्रहिक उपधि कहते हैं । जैसे सूई वर्गरह ।

अन्त के दो द्रव्य संवर हैं । पहले आठ मावमंवर ।

(टाण्णग १० उ० ३ मूत्र ७०६)

७११—अमंवर दस

मंवर से विपरीत अर्थात् कर्मों के आगमन को अमंवर कहते हैं । इसके भी संवर की तरह दस भेद हैं । इन्द्रिय, योग और उपकरणादि को वश में न रख कर खुले रखना अथवा बिगुरे पड़े रहने देना क्रमशः दस प्रकार का अमंवर है ।

(टाण्णग १० उ० ३ मूत्र ७०६)

७१२ संज्ञा दस

वेदनीय और मोहनीय कर्म के उदय में तथा घ्राणावरणीय और दर्शनावरणीय कर्म के क्षयोपशम में पैदा होने वाली आहारादि की प्राप्ति के लिये आत्मा की क्रिया विशेष को संज्ञा कहते हैं अथवा जिन बातों से यह जाना जाय कि जीव आहार आदि को चाहता है उसे संज्ञा कहते हैं । किमी के मत में मानसिक ज्ञान ही संज्ञा है अथवा जीव का आहारादि विषयक चिन्तन संज्ञा है । इसके दस भेद हैं—

(१) आहार संज्ञा—क्षुधावेदनीय के उदय में कबलादि आहार

लिए पुद्गल ग्रहण करने की क्रिया को आहार संज्ञा कहते हैं ।

(२) मय संज्ञा—मयवेदनीय के उदय में व्याकृत विषयाने

पुरुष का भयभीत होना, घबराना, रोमाञ्च, शरीर का काँपना वगैरह क्रियाएं भय संज्ञा हैं ।

(३) मैथुन संज्ञा— पुरुषवेदादि के उदय से स्त्री आदि के अंगों को देखने, छूने वगैरह की इच्छा तथा उससे होने वाले शरीर में कम्पन आदि को, जिन से मैथुन की इच्छा जानी जाय, मैथुन संज्ञा कहते हैं ।

(४) परिग्रह संज्ञा— लोभरूप कषाय मोहनीय के उदय से संसार-बन्ध के कारणों में आसक्ति पूर्वक सचित्त और अचित्त द्रव्यों को ग्रहण करने की इच्छा परिग्रह संज्ञा कहलाती है ।

(५) क्रोध संज्ञा— क्रोध के उदय से आवेश में भर जाना, गुँह का सूखना, आँखें लाल हो जाना और काँपना वगैरह क्रियाएं क्रोध संज्ञा हैं ।

(६) मान संज्ञा— मान के उदय से आत्मा के अहङ्कारादिरूप परिणामों को मान संज्ञा कहते हैं ।

(७) माया संज्ञा— माया के उदय से बुरे भाव लेकर दूसरे को उगाना, झूठ बोलना वगैरह माया संज्ञा हैं ।

(८) लोभ संज्ञा— लोभ के उदय से सचित्त या अचित्त पदार्थों को प्राप्त करने की लालसा करना लोभ संज्ञा है ।

(९) ओष संज्ञा— मतिज्ञानावरण वगैरह के क्षयोपशम से शब्द और अर्थ के सामान्य ज्ञान को ओष संज्ञा कहते हैं ।

(१०) लोक संज्ञा— सामान्यरूप से जानी हुई बात को विशेष रूप से जानना लोकसंज्ञा है । अर्थात् दर्शनोपयोग को ओष संज्ञा तथा ज्ञानोपयोग को लोकसंज्ञा कहते हैं । किसी के मत से ज्ञानोपयोग ओष संज्ञा है और दर्शनोपयोग लोकसंज्ञा । सामान्य प्रवृत्ति को ओषसंज्ञा कहते हैं तथा लोकवृत्ति को लोकसंज्ञा कहते हैं, यह भी एक मत है ।

(टिप्पणी— १० ड. ३ मृष ७४२) (भगवती सूत्र ७ चर्चा— ३)

७१३- दस प्रकार का शब्द

(१) निर्हारी शब्द- आवाज युक्त शब्द । जैसे घण्टा झोलार आदि का शब्द होता है ।

(२) पिण्डम शब्द- आवाज (घोंप) में रहित शब्द । जैसे दक्का (ढमरू) आदि का शब्द होता है ।

(३) रुच शब्द- रुखा शब्द । जैसे कौण का शब्द होता है ।

(४) भिन्न शब्द- कुट् अर्थात् कोढ़ आदि रोग से पीड़ित पुरुष का जो कंपता हुआ शब्द होता है उसे भिन्न शब्द कहते हैं ।

(५) जर्जरित शब्द- करटिका आदि बाद्य विशेष का शब्द ।

(६) दीर्घ शब्द- दीर्घ वर्णों में युक्त जो शब्द हो, अथवा जो शब्द बहुत दूर तक सुनाई देता हो उसे दीर्घ शब्द कहते हैं । जैसे मंघादि का शब्द (गाजना) ।

(७) ह्रस्व शब्द- ह्रस्व वर्णों में युक्त अथवा दीर्घ शब्द की अपेक्षा जो लघु हो उसे ह्रस्व शब्द कहते हैं । जैसे वीणा आदि का शब्द ।

[८] पृथक् शब्द- अनेक प्रकार के वाद्यों (वाजों) का जो मिला हुआ शब्द होता है, वह पृथक् शब्द कहलाता है । जैसे दो शंखों का मिला हुआ शब्द ।

[९] काकणी शब्द- मूत्रम कण्ठ में जो गीत गाया जाता है उसे काकणी या कारुली शब्द कहते हैं ।

[१०] किंकिणी शब्द- छोटे छोटे घूँघरों जो बेलों के गल में बाँधे जाते हैं अथवा नाचने वाले पुरुष (भोपे आदि) अपने पैरों में बाँधते हैं, उन घूँघरों के शब्द को किंकिणी शब्द कहते हैं ।

(टागारा १० उ. ५ मूल ७०५)

७१४-संकलेश दस

मनाधि (शान्ति) पूर्वक मंगल का पालन करते हुए सुनिर्गो के चित्त में जिन कारणों से संक्षोभ (अशान्ति) पैदा हो जाता

हैं उसे संक्लेश कहते हैं। संक्लेश के दस कारण हैं—

(१) उपधिसंक्लेश—वस्त्र, पात्र आदि संयमोपकरण उपधि कहलाते हैं। इनके विषय में संक्लेश होना उपधिसंक्लेश कहलाता है।

(२) उपाश्रय संक्लेश—उपाश्रय नाम स्थान का है। स्थान के विषय में संक्लेश होना उपाश्रय संक्लेश कहलाता है।

(३) कपायसंक्लेश—कपाय यानी क्रोध मान माया लोभ से चित्त में अशान्ति पैदा होना कपाय संक्लेश है।

(४) भक्तपान संक्लेश—भक्त (आहार) पान आदि से होने वाला संक्लेश भक्त पान संक्लेश कहलाता है।

(५-६-७) मन, वचन और काया से किसी प्रकार चित्त में अशान्ति का होना क्रमशः (५) मन संक्लेश (६) वचन संक्लेश और (७) काया संक्लेश कहलाता है।

(८-९-१०) ज्ञान, दर्शन और चारित्र्य में किसी तरह की अशुद्धता का आना क्रमशः (८) ज्ञान संक्लेश (९) दर्शन संक्लेश और (१०) चारित्र्य संक्लेश कहलाता है। (ठाण्णंग १० अ. ३ सूत्र ७३६)

७१५—असंक्लेश दस

संयम का पालन करते हुए मुनियों के चित्त में किसी प्रकार की अशान्ति (असमाधि) का न होना असंक्लेश कहलाता है। इसके दस भेद हैं—

(१) उपधि असंक्लेश (२) उपाश्रय असंक्लेश (३) कपाय असंक्लेश (४) भक्त पान असंक्लेश (५) मन असंक्लेश (६) वचन असंक्लेश (७) काया असंक्लेश (८) ज्ञान असंक्लेश (९) दर्शन असंक्लेश (१०) चारित्र्य असंक्लेश (ठाण्णंग १० अ. ३ सूत्र ७३६)

७१६—लज्जस्थ दस बातों को नहीं देख सकता

दस स्थानों को जीव सर्व भाव से जानता या देखता

यानि अतिशय ज्ञान रहित छद्मस्थ सर्व भाव में इन बातों को जानना देखता नहीं है। यहाँ पर अतिशय ज्ञान रहित विशेषण देने का यह अभिप्राय है कि अत्राधि ज्ञानी छद्मस्थ होने हुए भी अतिशय ज्ञानी होने के कारण परमाणु आदि को यथार्थ रूप में जानता और देखता है किन्तु अतिशय ज्ञान रहित छद्मस्थ नहीं जान या देख सकता। वे इस बात से हैं—

(१) धर्मात्मिकाय (२) अधर्मात्मिकाय (३) आकाशात्मिकाय (४) वायु (५) शरीर रहित जीव (६) परमाणु पृष्ठल (७) गृध्र (८) गन्ध (९) यह पुरुष प्रत्यक्ष ज्ञानशाली केवली होगा या नहीं (१०) यह पुरुष सर्वदुःखों का अन्न कर मिष्ट बुद्ध यावत् मुक्त होगा या नहीं।

इन इस बातों को निरातिशय ज्ञानी छद्मस्थ सर्व भाव में न जानता है और न देख सकता है किन्तु केवल ज्ञान और केवल दर्शन के धारक अरिहन्त जिन केवली उपरोक्त इस ही बातों को सर्व भाव में जानते और देखते हैं।

(टिप्पणी १० व ३ सूत्र ४४५) (भगवती मत ८ = चरेखा ८)

७१७—आनुपूर्वी दम

क्रम, परिशदी या पूर्वापरीभाव को आनुपूर्वी कहते हैं। क्रम में क्रम तीन वस्तुओं में ही आनुपूर्वी होती है। एक या दो वस्तुओं में प्रथम मध्यम और अन्तिम का क्रम नहीं हो सकता। अतएव आनुपूर्वी के अन्तर्गत नहीं है। आनुपूर्वी के दम में है—

(१) नामानुपूर्वी— गुणों की अपेक्षा बिना किणु सर्जित या निर्जित वस्तु का नाम आनुपूर्वी होना नामानुपूर्वी है।

(२) व्यापनानुपूर्वी—आनुपूर्वी के महेश आकार बाने या किसी रूप के आकार बाने चित्र आदि में आनुपूर्वी की व्यापना करना अर्थात् उसे आनुपूर्वी मान लेना व्यापनानुपूर्वी है।

(३) द्रव्यानुपूर्वी— जो वस्तु पहले कभी आनुपूर्वी के रूप में परिणत हो चुकी हो या भविष्य में होने वाली हो उसे द्रव्यानुपूर्वी कहते हैं ।

(४) क्षेत्रानुपूर्वी— क्षेत्र विषयक पूर्वापरीभाव को क्षेत्रानुपूर्वी कहते हैं । जैसे इस गाँव के बाद वह गाँव है और उसके बाद वह इत्यादि ।

(५) कालानुपूर्वी— काल विषयक पौर्वापर्य को कालानुपूर्वी कहते हैं । जैसे अमुक व्यक्ति उससे बड़ा है या छोटा है इत्यादि ।

(६) उत्कीर्तनानुपूर्वी— किसी क्रम को लेकर कई पुरुष या वस्तुओं का उत्कीर्तन अर्थात् नाम लेना उत्कीर्तनानुपूर्वी है ।

(७) गणनानुपूर्वी— एक दो तीन आदि को किसी क्रम से गिनना गणनानुपूर्वी है ।

(८) संस्थानानुपूर्वी— जीव और अजीवों की रचना विशेष को संस्थान कहते हैं । समचतुरस्र आदि संस्थानों के क्रम को संस्थानानुपूर्वी कहते हैं ।

(९) समाचार्यनुपूर्वी— शिष्ट अर्थात् साधुओं के द्वारा किए गए क्रियाकलाप को समाचार्यनुपूर्वी कहते हैं ।

(१०) भावानुपूर्वी— औदयिक आदि परिणामों को भाव कहते हैं । उनका क्रम अथवा परिपाटी भावानुपूर्वी कही जाती है ।

इन आनुपूर्वियों के भेद प्रभेद तथा स्वरूप विस्तार के साथ अनुयोगद्वारा सूत्र में दिए गए हैं । (अनुयोग शास्त्र सूत्र ७१-११६)

७१८— द्रव्यानुयोग दस

सूत्र का अर्थ के साथ ठीक ठीक सम्बन्ध बैठाना अनुयोग कहलाता है । इस के चार भेद हैं— चरणकरणानुयोग, धर्म-कथानुयोग, गणितानुयोग और द्रव्यानुयोग ।

चरण करण अर्थात् साधुधर्म और श्रावकभक्त का प्रतिपादन

करने वाले अनुयोग को चरणकरणानुयोग कहते हैं ।

धर्मकथानुयोग— तीर्थङ्कर, माधु, मुख्य आवक, चरम शरीरी आदि उत्तम पुरुषों का कथाविषयक अनुयोग धर्मकथानुयोग है ।

गणितानुयोग—चन्द्र सूर्य आदि ग्रह और नक्षत्रों की गति तथा गणित के दूसरे विषयों को बताने वाला गणितानुयोग कहलाता है ।

द्रव्यानुयोग— जीव आदि द्रव्यों का विचार जिसमें हो उसे द्रव्यानुयोग कहते हैं । इस के दस भेद हैं—

(१) द्रव्यानुयोग—जीवादि पदार्थों को द्रव्य क्यों कहा जाता है, इत्यादि विचार को द्रव्यानुयोग कहते हैं । जैसे— जी उच्चोत्तर पर्यायों को प्राप्त हो और गुणों का आधार हो उसे द्रव्य कहते हैं । जीव मनुष्यन्व देवन्व वर्गैरह भिन्न भिन्न पर्यायों को प्राप्त करता है । एक जन्म में भी बान्धु युवादि प्रयाय प्रतिक्षण बदलते रहते हैं । काल के टाग होने वाली ये अवस्थाएँ जीव में होती ही रहती हैं तथा जीव के ज्ञान वर्गैरह महमात्री गुण हमेशा रहते हैं, जीव उनके बिना कभी नहीं रहता । इसलिये गुण और पर्यायों वाला होने से जीव द्रव्य है ।

(२) मातृकानुयोग— उत्पाद, व्यय और ध्राव्य इन तीन पदों को मातृकापद कहते हैं । इन्हें जीवादि द्रव्यों में घटाना मातृकानुयोग है । जैसे— जीव उत्पाद वाला है, क्योंकि बान्ध्यादि नवीन पर्याय प्रतिक्षण उत्पन्न होते रहते हैं । यदि प्रतिक्षण नवीन पर्याय उत्पन्न न हो तो वृद्ध वर्गैरह अवस्थाएँ न आर्य, क्योंकि वृद्धावस्था कभी एक ही साथ नहीं आती । प्रतिक्षण परिवर्तन होता रहता है । जीवद्रव्य व्यय वाला भी है क्योंकि बान्धु वर्गैरह अवस्थाएँ प्रतिक्षण नष्ट होती रहती हैं । यदि व्यय न हो तो जीव मदा बान्धु अवस्था में ही बना रहे । जीव द्रव्य रूप में ध्रुव भी है अर्थात् हमेशा बना रहता है । यदि ध्राव्यगुण वाला न हो, हमेशा विन्दुन नया

उत्पन्न होता रहे तो काम करने वाले को फल प्राप्त न होगा क्योंकि काम करने वाला काम करते ही नष्ट हो जाएगा। जिसने कुछ नहीं किया उसे फल प्राप्त होगा। पहले देखी हुई बात का स्मरण नहीं हो सकेगा। उसके लिए अभिलाषा भी न हो सकेगी। इस लोक तथा परलोक के लिए की जाने वाली धार्मिक क्रियाएं व्यर्थ हो जाएंगी। इसलिए किसी एक वस्तु का पूर्वापर सभी पर्यायों में रहना अवश्य मानना चाहिए। इस तरह द्रव्य में उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य को सिद्ध करना मातृकापदानुयोग है।

(३) एकार्थिकानुयोग—एक अर्थ वाले शब्दों का अनुयोग करना अथवा समान अर्थ वाले शब्दों की व्युत्पत्ति द्वारा वाच्यार्थ में संगति बैठाना एकार्थिकानुयोग है। जैसे—जीव द्रव्य के वाचक पर्याय शब्द हैं—जीव, प्राणी, भूत, सत्त्व वगैरह। जीवन अर्थात् प्राणों के धारण करने से वह जीव कहलाता है। प्राण अर्थात् धाम लेने से प्राणी कहा जाता है। हमेशा होने से भूत कहा जाता है। हमेशा सत् होने से सत्त्व है इत्यादि।

(४) करणानुयोग—करण अर्थात् क्रिया के प्रति साधक कारकों का विचार। जैसे जीव द्रव्य भिन्न भिन्न क्रियाओं को करने में काल, स्वभाव, नियति और पहले किए हुए कर्मों की अपेक्षा रखता है। अकेला जीव कुछ नहीं कर सकता। अथवा मिट्टी से पढ़ा बनाने में कुम्हार को चक्र, चीवर, दण्ड आदि करणों की आवश्यकता होती है। इस प्रकार तात्त्विक बातों के करणों की पर्यालोचना करना करणानुयोग है।

(५) अपरितानर्पितानुयोग—विशेषण महित वस्तु को अपरित कहते हैं। जैसे—द्रव्य सामान्य है, विशेषण लगाने पर जीव द्रव्य, फिर विशेषण लगाने पर संसारी जीवद्रव्य। फिर वस्तु, पुरुषेन्द्रिय, मनुष्य इत्यादि। अनर्पित अर्थात् बिना विशेषण के सामान्य।

जैसे जीव द्रव्य । अपिंत और अनपिंत के विचार को अपिंतानुपिंतानुयोग कहते हैं ।

(६) भाविताभावितानुयोग—जिसमें दूसरे द्रव्य के संमर्ग में उसकी वामना आगई हो उसे भावित कहते हैं । यह दो तरह का है—प्रशम्भभावित और अप्रशम्भभावित । संविप्रभावित अर्थात् मुक्ति की इच्छा होना, संसार में ग्लानि होना आदि प्रशम्भ भावित है । इसके विपरीत संसार की ओर झुकाव होना अप्रशम्भभावित है । इन दोनों के दो दो भेद हैं—वामनीय और अवामनीय । किसी संमर्ग में पैदा हुए जो गुण और दोष दूसरे संमर्ग में दूर हो जायँ उन्हें वामनीय अर्थात् वमन होने योग्य कहते हैं । जो दूर न हों वे अवामनीय हैं ।

जिसमें किसी दूसरी वस्तु का संमर्ग प्राप्त न हुआ हो या संमर्ग होने पर भी किसी प्रकार का अनर न हो उसे अभावित कहते हैं । इसी प्रकार घटादि द्रव्य भी भावित और अभावित दोनों प्रकार के होते हैं । इस प्रकार के विचार को भाविताभावितानुयोग कहते हैं ।

(७) बायाबायानुयोग—बाय अर्थात् विलक्षण और अबाय अर्थात् समान के विचार को बायाबायानुयोग कहते हैं । जैसे—जीव द्रव्य बाय है क्योंकि चैतन्य वाला होने में आकाशाग्नि-काय वर्गरह में विलक्षण है । यह अबाय भी है, क्योंकि अनरी होने में आकाशाग्नि-काय आदि के समान है । अथवा चैतन्य गुण वाला होने में जीवाग्नि-काय में अबाय है । अथवा घट वर्ग-रह द्रव्य बाय है और कर्म चैतन्य वर्गरह अबाय है, क्योंकि आध्यात्मिक है । इस प्रकार के अनुयोग को बायाबायानुयोग कहते हैं ।

(८) शाश्वताशाश्वतानुयोग—शाश्वत अर्थात् निरन्तर और अशाश्वत अर्थात् अनिरन्तर । जैसे जीव द्रव्य निरन्तर है, क्योंकि इसकी कभी उत्पत्ति नहीं हुई और न कभी अन्न होगा । मनुष्य वर्गरह

पर्यायों से युक्त जीव अनित्य है, क्योंकि पर्याय बदलते रहते हैं। इस विचार को शाश्वताशाश्वतानुयोग कहते हैं।

(६) तथाज्ञानानुयोग—जैसी वस्तु है, उसके वैसे ही ज्ञान वाले अर्थात् सम्यग्दृष्टि जीव को तथाज्ञान कहते हैं। अथवा वस्तु के यथार्थ ज्ञान को तथाज्ञान कहते हैं। इसी विचार को तथाज्ञानानुयोग कहते हैं। जैसे घट को घट रूप से, परिणामी को परिणामी रूप से जानना।

(१०) अतथाज्ञान—मिथ्यादृष्टि जीव या वस्तु के विपरीत ज्ञान को अतथाज्ञान कहते हैं। जैसे—कथञ्चित् नित्यानित्य वस्तु को एकान्त नित्य या एकान्त अनित्य कहना। (अण्णंग १० उ. ३ सूत्र ७२७)

७१९ नाम दस प्रकार का

वस्तु के संकेत या अभिधान को नाम कहते हैं। इसके दस भेद हैं—

(१) गौण—जो नाम किसी गुण के कारण पड़ा हो। जैसे—चमरा गुण से युक्त होने के कारण साधु चमरा कहलाते हैं। तपने के कारण सूर्य तपन कहलाता है। जलने के कारण अग्नि ज्वलन कहलाती है। इसी प्रकार दूसरे नाम भी जानने चाहिए।

(२) नोगौण—गुण न होने पर भी जो वस्तु उस गुण वाली कही जाती है, उसे नोगौण कहते हैं। जैसे कुन्त नामक हथियार के न होने पर भी पत्नी को सकुन्त कहा जाता है। मुद्ग अर्थात् मूँग न होने पर भी कपूर बगैर रखने के डब्बे को समुद्ग कहते हैं। मुद्रा अर्थात् अँगुठी न होने पर भी सागर को समुद्र कहा जाता है। लालाओं के न होने पर भी घात विरोध को पत्ताल कहा जाता है। इसी प्रकार कुलिका (भोंत) न होने पर भी चिड़िया को सउलिपा (शकुनिका) कहा जाता है। पल अर्थात् क...

अहदा लाला राज भद्रजान' इस प्रकार पुनर्निर्माण करने से राजा बनता है। इसी का सादृश्य में 'पत्ताल' हो जाता है।

मान को खाने वाला न होने पर भी टाक का पचा पलाश कहा जाता है, इत्यादि ।

(३) आदानपद— जिस पद में जो शास्त्र या प्रकरण आरम्भ हो, उम्मी नाम से उसे पुकारना आदानपद है । जैसे— आचारांग के पाँचवें अध्ययन का नाम 'आर्वेती' है । वह अध्ययन 'आर्वेती के यार्वेती' इस प्रकार 'आर्वेती' पद से शुरू होता है । इस लिए इस का नाम भी 'आर्वेती' पढ़ गया । उच्चारण्ययन के तीसरे अध्ययन का नाम 'चाउरंगिज' है । इसका प्रारम्भ 'चचारि परमंगाणि, दुद्धहाणीहि जंतुणो' इस प्रकार चार अँगों के वर्णन से होता है । उच्चारण्ययन के चौथे अध्ययन का नाम 'अमंस्त्रयं' है, क्योंकि वह 'अमंस्त्रयं जीविय मा पमायण' इस प्रकार 'अमंस्त्रयं' शब्द से शुरू होता है । इसी प्रकार उच्चारण्ययन, दशर्वकालिक और सूर्यगंडांग वर्गैरह के अध्ययनों का नाम जानना चाहिए ।

(४) विपक्षपद— विवक्षित वस्तु में जो धर्म है, उसमें विपरीत धर्म बनाने वाले पद को विपक्ष पद नाम कहते हैं । जैसे भृगाली अग्निवा (अमङ्गल) होने पर भी उसे गिवा कहा जाता है । अमङ्गल का परिहार करने के लिए इस प्रकार शब्दों का परिवर्तन नौ स्थानों में होता है । ग्राम, आकर (लोहे वर्गैरह की ग्यान) नगर, गेह (गेड़ा जिसका परकोटा घूर्ती का बना हुआ हो) कर्वट (गराव नगर) मडम्ब (गाँव में दूर दूरी आवादी) टोणमृग— जिस स्थान पर पहुँचने के लिए जल और स्थल दोनों प्रकार के मार्ग हों । पचन— जहाँ बाहर के देशों से आदि हुई वस्तुएँ बेची जाती हों । वह दो तरह का होता है— जलपचन और स्थल पचन । आश्रम (तपस्वियों के रहने का स्थान) । मन्नाय (विविध प्रकार के लोगों के भीड़ मड़कक का स्थान) । मन्निवेग (भील आदि लोगों के रहने का स्थान) । उपगन्त ग्राम आदि जिन नए पमाए जाते

हैं तो मङ्गल के लिए अशिवा को भी शिवा कहते हैं। इन स्थानों को छोड़ कर बाकी जगह कोई नियम नहीं है अर्थात् भजना है। इसी प्रकार किसी कारण से कोई आग को ठण्डा तथा विष को मीठा कहने लगता है। कलाल के घर में अम्ल शब्द कहने पर शराब खराब होजाती है इस लिए वहाँ खट्टे को भी स्वादिष्ट कहा जाता है। ऊपर लिखे शब्द विशेष स्थानों पर विपरीत अर्थ में प्रयुक्त होते हैं। कुछ ऐसे भी हैं जो सामान्य रूप से विपरीत अर्थ में प्रयुक्त होते हैं। जैसे—लज्ज (रक्त-लाल) होने पर भी अलज्ज (अलक्तक—स्त्रियाँ जिससे पैर रंगती हैं) कहा जाता है। लावु (जलादि वस्तु को लाकर रखने वाली) तुम्बी भी अलावु कही जाती है। सुम्भक (शुभ वर्ण वाला) होने पर भी कुमुम्भक कहा जाता है। बहुत अधिक लपन (बकवाद) न करने पर भी 'आलपन' कहा जाता है। बहुत कुछ सारहीन अण्ड वण्ड बोलने पर भी वक्ता को कहा जाता है, इन्हें कुछ नहीं कहा। इत्यादि सभी नाम विपक्षपद हैं। अर्गौण में गुण रहित वस्तु का भी उस गुण से युक्त नाम रखो जाता है। विपक्ष पद में नाम बिङ्कुल उल्टा होता है।

(५) प्रधानतापद—बहुत ती घातें होने पर भी किसी प्रधान को लेकर उस नाम से पुकारना। जैसे—किसी उद्यान में धोड़े से आम आदि के वृक्ष होने पर भी अशोक वृक्ष अधिक होने से वह अशोकवन कहलाता है। इसी प्रकार किसी वन में समपर्ण अधिक होने से वह तप्तपर्णवन कहलाता है। गौण पद में घमा आदि गुण से युक्त होने के कारण नाम दिया जाता है। वह नाम पूरे अर्थ को व्याप्त करता है। प्रधानतापद सिर्फ प्रधान वस्तु को व्याप्त करता है। वह सन्ध्या वस्तु को व्याप्त नहीं करता। गौण नाम का व्यवहार जिस गुण के कारण दिया जाता है वह गुण

उम नाम वाले हर एक में पाया जाता है। प्रधान नाम अधिक संख्या के कारण पड़ता है, इस लिए वह अमर्त्या अर्थ में अधिक संख्या में पाया जाता है, मय में नहीं। जैसे— वसा गुण वसा कहलाने वाले मय में होता है किन्तु थोड़े से आम के पेट होने पर भी अधिक अगोचर होने के कारण किसी वन को अगोचर वन कहा जाता है, वहाँ अधिक की मुख्यता है।

(६) अनादिमिद्वान्त— जहाँ गृह्य और उमका वाच्य अनादि काल में मिट्ट हो, ऐसे नाम को अनादिमिद्वान्त कहते हैं। जैसे धर्मात्मिकाय आदि।

(७) नाम में नाम— दादा, परदादा आदि किसी पूर्वज के नाम में पौत्र या प्रपौत्र आदि का गहरा गया नाम।

(८) अवयव में नाम— गरीर के किसी अवयव में मांग अवयवी का नाम रख लेना। जैसे— मांग वाले को गृही, गिग्रा (चोटी) वाले को गिम्बी, विपाण (मींग) वाले को विपागी, दादा वाले को दादी, पैर वाले को पैसी, मुख वाले को मुखी, नय वाले को नगी, अच्छे केश वाले को मुखंगी, दो पैर वाले को द्विपद (मनुष्यादि), चार पैर वाले को चतुष्पद, बहुत पैर वाले को बहुपद, पाँच वाले को लाङ्गुली, कमर (कन्ध के बान) वाले को कमगी, तथा कट् (बेल के कन्ध पर उठी हुई गाँठ) वाले को कटुबान कहा जाता है। नलदार आदि बाँध कर मंनिक मर्गनि करके पहनने में किसी व्यक्ति को मुखंगी कह दिया जाता है। विंगेय प्रकार के गृह्य और वेगभूषा में भी जानी जाती है। एक शत्रु को देखकर बटनोरे के मांगे बादलों के परने का ज्ञान दिया जाता है। काव्य की एक गाथा में मांग काव्य के मातृ के पता लग जाता है। किसी एक बात को देखने में थोड़ा, गी, बादलों का परना, वाच्य की मनुष्यता आदि का ज्ञान होने में

ये भी अवयव से दिए गए नाम हैं। गौण नाम किसी गुण के कारण सामान्य रूप से प्रवृत्त होता है और इसमें अवयव की प्रधानता है।

(६) संयोग— किसी वस्तु के सम्बन्ध से जो नाम पड़ जाता है, उसे संयोग कहते हैं। इसके चार भेद हैं— द्रव्यसंयोग, क्षेत्र संयोग, काल संयोग और भाव संयोग। द्रव्यसंयोग के तीन भेद हैं— सचित्त, अचित्त और मिश्र। सचित्त वस्तु के संयोग से नाम पड़ना सचित्तद्रव्यसंयोग है। जैसे— गाय वाले को गोमान्, भैंस वाले को महिषवान् इत्यादि कहा जाता है। ये नाम सचित्त गाय आदि पदार्थों के नाम से पड़े हैं।

अचित्त वस्तु के संयोग से पड़ने वाला नाम अचित्तद्रव्यसंयोग है। जैसे— छत्र वाले को छत्री, दण्ड वाले को दण्डी कहना।

सचित्त और अचित्त दोनों के संयोग से पड़ने वाले नाम को मिश्रसंयोग कहते हैं। जैसे हल से हालिक। यहाँ अचित्त हल और सचित्त बैल दोनों से युक्त व्यक्ति को हालिक कहा जाता है। इसी तरह शकट अर्थात् गाड़ी वाला शाकटिक, रथवाला रथी कहलाता है।

क्षेत्र संयोग— भरतादि क्षेत्रों से पड़ने वाला नाम। जैसे— भरत से भारत, मगध से मागध, महाराष्ट्र से मरहट्टा इत्यादि।

काल संयोग— काल विशेष में उत्पन्न होने से पड़ने वाला नाम। जैसे— सुपमसुपमा में उत्पन्न व्यक्ति सुपमसुपमक कहलाता है। अथवा पावस (वर्षा ऋतु) में उत्पन्न पावसक कहलाता है।

भावसंयोग— अच्छे या बुरे विचारों के संयोग से नाम पड़ जाना। इसके दो भेद हैं— प्रशस्तभावसंयोग और अप्रशस्तभाव-संयोग। ज्ञान से ज्ञानी, दर्शन से दर्शनी आदि प्रशस्तभावसंयोग हैं। क्रोध से क्रोधी, मान से मानी आदि अप्रशस्त भावसंयोग हैं।

(१०) प्रमाण— जिस से वस्तु का सम्यग्ज्ञान हो उसे प्रमाण

गिरि में कुटज और कदम्ब गिने हैं उसे 'पृष्पितकुटजकदम्ब' कहा जाता है। यहाँ भूमन् पदों के अनिग्निक गिरि अर्थ प्रधान है।

(ग) कर्मधारय—समानाधिकरण तन्पुरुष को कर्मधारय कहते हैं।

जैसे— घवल्लुपम (मन्दै घल) ।

(घ) द्विगु—जिम समाम का पहला पद मंग्यावाचक हो उसे द्विगु कहते हैं। जैसे— त्रिमपुर, पञ्चमूली ।

(ङ) तन्पुरुष—उत्तरपद प्रधान द्वितीयादि विभक्त्यन्त पदों के समाम को तन्पुरुष कहते हैं। जैसे— तीर्थकाक इत्यादि ।

(च) अज्ययीभाव—जिममें पहले पद का अर्थ प्रधान हो उसे अज्ययीभाव कहते हैं। जैसे— अनुग्रामम् (ग्राम के समीप) अनुनदि (नदी के समीप) इत्यादि ।

(छ) एकशेष— एक विभक्ति वाले पदों का बह समाम जिम में एक पद के सिवाय दूसरे पदों का लोप हो जाता है, एक शेष कहलाता है। जैसे— पुर्या (पुरुषश्च पुरुषश्च) दो पुरुष ।

तद्धितज— जहाँ तद्धित में व्युत्पत्ति करके नाम रक्खा जाय उसे तद्धितज भावप्रमाण कहते हैं। इसके आठ भेद हैं—

(क) कर्म— जैसे द्रव्य अर्थात् कपड़े का व्यापारी टाँपित कहलाता है। घृत बेचने वाला माँत्रिक इत्यादि ।

(गु) शिन्पत्र— जिमका कपड़े बुनने का शिन्प है उसे शिन्पिक कहा जाता है। तन्त्री बजाने वाले को तान्त्रिक इत्यादि ।

(ग) श्लाघाज—प्रशंसनीय अर्थ के बोधक पद। जैसे—श्रमग आदि।

(घ) संयोगज—जो नाम दो पदों के संयोग में हो। जैसे—रात्रा का मगुर। मगिनीपति इत्यादि ।

(ङ) समीपज— जैसे गिरि के समीप वाले नगर को गिरिनगर कहा जाता है। विदिशा के समीप का वैदिश इत्यादि ।

(च) संयुज— जैसे ऋद्धवर्तकार इत्यादि ।

(छ) ऐश्वर्यज—जैसे राजेश्वर आदि ।

(ज) अपत्यज—जैसे तीर्थङ्कर जिसका पुत्र है उसे तीर्थङ्कर माता कहा जाता है ।

धातुज—‘भू’आदि धातुओं से बने हुए नाम धातुज कहलाते हैं । जैसे भावकः ।

नैरुक्त—नाम के अक्षरों के अनुसार निश्चित अर्थ का बताना निरुक्त है । निरुक्त से बनाया गया नाम नैरुक्त कहलाता है । जैसे जो सही(पृथ्वी)पर सोवे उसे सहिप कहा जाता है इत्यादि ।
(अनुयोगद्वार सूत्र १३०)

७२०—अनन्तक दस

जिस वस्तु का संख्या आदि किसी प्रकार से अन्त न हो उसे अनन्तक कहते हैं । इसके दस भेद हैं—

(१) नामानन्तक—सचेतन या अचेतन जिस वस्तु का ‘अनन्तक’ यह नाम है उसे नामानन्तक कहा जाता है ।

(२) स्थापनानन्तक—अक्ष वगैरह में ‘अनन्तक’ की स्थापना करना स्थापनानन्तक है ।

(३) द्रव्यानन्तक—जीव और पुद्गल द्रव्य में रहने वाली अनन्तता को द्रव्यानन्तक कहते हैं । जीव और पुद्गल दोनों द्रव्य की अपेक्षा अनन्त हैं ।

(४) गणनानन्तक—एक, दो, तीन, संख्यात, असंख्यात, अनन्त इस प्रकार केवल गिनती करना गणनानन्तक है । इस में वस्तु की विवक्षा नहीं होती ।

(५) प्रदेशानन्तक—आकाश के प्रदेशों में रहने वाले आनन्त्य को प्रदेशानन्तक कहते हैं ।

(६) एकतोऽनन्तक—भूतकाल या भविष्यत् काल को एकतोऽनन्तक कहते हैं, क्योंकि भूत काल आदि की अपेक्षा अनन्त है ।

संख्या में गुणा करके दो में भाग दे दे, योगफल निकल आएगा।
जैसे— १० तक का योगफल निकालने के लिए दस संख्या को
एक अधिक अर्थात् ११ में गुणा कर दे। गुणनफल ११० हुआ
उसको दो में भाग देने पर '५५' निकल आए।

(७) वर्ग— किसी संख्या को उसी में गुणा करना वर्गसंख्या
है— जैसे दो को दो में गुणा करने पर चार हुए।

(८) घन— एक मरीची तीन संख्याएँ रखकर उन्हें उत्तरोत्तर
गुणा करना घनसंख्या है। जैसे— २, २, २। यहाँ २ को २ में
गुणा करने पर ४ हुआ। ४ को २ में गुणा करने पर ८ हुआ।

(९) वर्गवर्ग— वर्ग अर्थात् प्रथम संख्या के गुणनफल को उसी
वर्ग में गुणा करना वर्गवर्गसंख्या है। जैसे २ का वर्ग हुआ
४। ४ का वर्ग १६। १६ संख्या २ का वर्गवर्ग है।

(१०) कल्प— आगे में लकड़ी को काट कर उसका परिमाण
जानना कल्पसंख्या है। (टांगण १० अ. ३ सूत्र ४४७)

७२२— वाद के दस दोष

गुरु शिष्य या वादी प्रतिवादी के आपस में श्राव्यार्थ करने
को वाद कहते हैं। इसके नीचे निम्ने दस दोष हैं—

(१) तज्जातिदोष— गुरु या प्रतिवादी के जन्म, कुल, जाति या
पेशे आदि किसी निजी बात में दोष निकालना अर्थात् व्यक्त-
गत आक्षेप करना। अथवा प्रतिवादी के द्वारा शोध में आकर
किया गया सुगम्यन्मन आदि दोष, जिसमें सोचने सोचने दूसरे
की जवान बन्द हो जाय।

(२) मतिभंग दोष— अपनी ही मति अर्थात् पृथि का भंग हो
जाना। जाना हुई बात को भूल जाना या उसका समय पर न
बुझना मतिभंग दोष है।

(३) प्रशास्त्रदोष—सभा की व्यवस्था करने वाले सभापति या किसी प्रभावशाली सभ्य द्वारा पक्षपात के कारण प्रतिवादी को विजयी बना देना, अथवा प्रतिवादी के किसी बात को भूल जाने पर उसे बता देना ।

(४) परिहरण दोष—अपने सिद्धान्त के अनुसार अथवा लोक-रुढ़ि के कारण जिस बात को नहीं कहना चाहिए, उसी को कहना परिहरण दोष है । अथवा सभा के नियमानुसार जिस बात को कहना चाहिए उसे न कहना या वादी के द्वारा दिए गए दोष का ठीक ठीक परिहार बिना किए जात्युत्तर देना परिहरण दोष है । जैसे—किसी बौद्ध वादी ने अनुमान बनाया 'शब्द अनित्य है क्योंकि कृतक अर्थात् किया गया है । जैसे घड़ा ।' शब्द को नित्य मानने वाला मीमांसक इसका खण्डन नीचे लिखे अनुसार करता है—शब्द को अनित्य सिद्ध करने के लिए कृतकत्व हेतु दिया है, यह कृतकत्व कौनसा है ? घट में रहा हुआ कृतकत्व या शब्द में रहा हुआ ? यदि घटगत कृतकत्व हेतु है तो यह शब्द में नहीं है, इस लिए हेतु पक्ष में न रहने से असिद्ध हो जायगा । यदि शब्दगत कृतकत्व हेतु है तो उसके साथ अनित्यत्व की व्याप्ति नहीं है इस लिए हेतु का साध्य के साथ अविनाभाव न होने से हेतु असाधारणानैकान्तिक हो जायगा ।

बौद्धों के अनुमान के लिए मीमांसकों का यह उच्चार ठीक नहीं है, क्योंकि इस तरह कोई भी अनुमान न बन सकेगा । भूएँ से आग का अनुमान भी न हो सकेगा । 'पर्वत में आग है क्योंकि भूमी है, जैसे रसोईघर में ।' इस अनुमान में भी विकल्प किए जा सकते हैं ।

अग्नि को सिद्ध करने के लिए दिए गए भूमरूप हेतु में कौनसा भूम विवक्षित है, पर्वत में रहा हुआ भूम या रसोई वाला भूम ? यदि पर्वत वाला, तो उसकी व्याप्ति अग्नि के साथ नहीं ।

है, इस लिए हेतु अमावास्यानिकान्तिक हो जायगा । यदि रमोई घर वाला, तो अमिद है क्योंकि वह धृष्टो पर्वत में नहीं है । हेतु में इस प्रकार के दोष देना पण्डितग दोष है ।

(५) लक्षण दोष— बहुत से पदार्थों में किसी एक पदार्थ को अलग करने वाला धर्म लक्षण कहलाता है । जैसे जीव का लक्षण उपयोग । जीव में उपयोग ऐसी विशेषता है जो इसे मय अर्थात् में अलग कर देती है । अथवा, जिसमें अपना और दूसरे का मया ज्ञान हो उसे प्रमाण कहते हैं । यहाँ अपना और पराया मया ज्ञान स्पष्ट लक्षण प्रमाण को दूसरे मय पदार्थों में अलग करता है । लक्षण के तीन दोष हैं— (क) अज्यामि (ग) अनि ज्यामि और ग। अमन्मय ।

(क) अज्यामि— जिस पदार्थ के मन्त्रिधान और अमन्त्रिधान में ज्ञान के प्रतिभाम में फरक हो जाता है, उसे स्वलक्षण अर्थात् विशेष पदार्थ कहते हैं । यह स्वलक्षण का लक्षण है किन्तु यह इन्द्रिय ग्रन्थ को लेकर ही कहा जा सकता है योगिग्रन्थ को लेकर नहीं, क्योंकि योगिग्रन्थ के लिए पदार्थ के पान होने की आवश्यकता नहीं है । इस लिए स्वलक्षण का यह लक्षण मनी स्वलक्षणों को ज्यामि नहीं करता । इसी को अज्यामि दोष कहते हैं अर्थात् लक्षण यदि लक्ष्य जिसका लक्षण किया जायके एक देश में रहे और एक देश में नहीं तो उसे अज्यामि दोष कहते हैं ।

(ग) अनिज्यामि—लक्षण का लक्ष्य और अलक्ष्य (लक्ष्य के विनाय दूसरे पदार्थ) दोनों में रहना अनिज्यामि दोष है । जैसे— 'पदार्थों की उपलब्धि के हेतु को प्रमाण कहते हैं।' पदार्थों की उपलब्धि के आगे, देही चारल गाना आदि बहुत से हेतु हैं । वे सभी प्रमाण हो जायेंगे । इस लिए यहाँ अनिज्यामि दोष है ।

(ग) अमन्मय—लक्षण का लक्ष्य में विस्तृत न रहना अमन्मय

दोष हैं। जैसे मनुष्य का लक्षण सींग।

नोट—ठाणांग सूत्र की टीका में लक्षण के दो ही दोष बताए हैं, अव्याप्ति और अतिव्याप्ति। किन्तु न्याय शास्त्र के ग्रन्थों में तीनों लक्षण प्रचलित हैं।

अथवा दृष्टान्त को लक्षण कहते हैं और दृष्टान्त के दोष को लक्षण दोष। साध्यविकल, साधनविकल, अभयविकल आदि दृष्टान्तदोष के कई भेद हैं। जिस दृष्टान्त में साध्य न हो उसे साध्यविकल कहते हैं। जैसे शब्द नित्य है, क्योंकि मूर्त है। जैसे घड़ा। यहाँ घड़े में नित्यत्व रूप साध्य नहीं है।

(६) कारणदोष—जिस हेतु के लिए कोई दृष्टान्त न हो। परोक्ष अर्थ का निर्णय करने के लिए सिर्फ उपपत्ति अर्थात् युक्ति को कारण कहते हैं। जैसे सिद्ध निरुपम सुख वाले होते हैं क्योंकि उनकी ज्ञान दर्शन आदि सभी बातें अव्याघात और अनन्त हैं। यहाँ पर साध्य और साधन दोनों से युक्त कोई दृष्टान्त लोक प्रसिद्ध नहीं है। इस लिए इसे उपपत्ति कहते हैं। दृष्टान्त होने पर यही हेतु हो जाता।

साध्य के बिना भी कारण का रह जाना कारण दोष है। जैसे—चेद अपौरुषेय है, क्योंकि चेद का कोई कारण नहीं सुना जाता। कारण का न सुनाई देना अपौरुषेयत्व को छोड़ कर दूसरे कारणों से भी हो सकता है।

(७) हेतुदोष—जो साध्य के होने पर हो और उनके बिना न हो तथा अपने अस्तित्व में साध्य का ज्ञान करावे उसे हेतु कहते हैं। हेतु के तीन दोष हैं—(क) असिद्ध (ख) विरुद्ध (ग) अनैकान्तिक।

(क) असिद्ध—यदि पक्ष में हेतु का रहना वादी, प्रतिवादी या दोनों को असिद्ध हो तो असिद्ध दोष है। जैसे—शब्द अनित्य है, क्योंकि ओलों से जाना जाता है। पड़े की तरह। यही शब्द

(पक्ष) में आँगों के ज्ञान का विषय होना (हेतु) अमिद्व है ।

(ख) विरुद्ध— जो हेतु माध्य में उल्टा मिद्व करे । जैसे— 'शब्द नित्य है, क्योंकि कृतक है । घड़े की तरह ।' यहाँ कृतकत्व (हेतु) निन्यत्व (साध्य) में उल्टे अनिन्यत्व को मिद्व करता है । क्योंकि जो वस्तु की जाती है वह निन्य नहीं होती ।

(ग) अनैकान्तिक—जो हेतु साध्य के साथ तथा उसके बिना भी रहे उसे अनैकान्तिक कहते हैं । जैसे शब्द नित्य है, क्योंकि प्रमेय है, आकाश की तरह । यहाँ प्रमेयत्व हेतु निन्य तथा अनिन्य सभी पदार्थों में रहता है इस लिए वह निन्यत्व को मिद्व नहीं कर सकता ।

(८) संक्रामण— प्रस्तुत विषय को छोड़ कर अप्रस्तुत विषय में चले जाना अथवा अपना मत कहते कहते उसे छोड़ कर प्रतिवाद के मत को स्वीकार कर लेना तथा उसका प्रतिपादन करने लगना संक्रामण दोष है ।

(९) निग्रह—छल आदि में दूसरे को पराजित करना निग्रह दोष है ।

(१०) वस्तुदोष— जहाँ साधन और माध्य रहें ऐसे पक्ष को वस्तु कहते हैं । पक्ष के दोषों को वस्तुदोष कहते हैं । प्रत्यक्ष-निराकृत, आगमनिराकृत, लोकार्जनिराकृत आदि इसके कई भेद हैं । जो पक्ष प्रत्यक्ष में बाधित हो उसे प्रत्यक्षनिराकृत कहते हैं । जैसे— शब्द अवगुणेंद्रिय का विषय नहीं है । यह कहना प्रत्यक्ष बाधित है, क्योंकि शब्द का कान में सुना जाना प्रत्यक्ष है । इसी प्रकार दूसरे दोष भी समझ लेने चाहिए । (टाण्णग १० उ. ३ सू. ७४३ टीका)

७२३— विशेष दोष दस

जिसके कारण वस्तुओं में भेद हो अर्थात् सामान्य रूप से ग्रहण की हुई वस्तु में वस्तुओं में से किसी व्यक्ति विशेष को पहिचाना जाय उसे विशेष कहते हैं । विशेष का अर्थ है व्यक्ति या भेद । पहले सामान्य रूप में बात के दस दोष बताए गए हैं ।

यहाँ उन्हीं के विशेष दोष बताए जाते हैं। वे दस हैं—

(१) वस्तु—पक्ष के दोष को वस्तु दोष कहते हैं। दोष सामान्य की अपेक्षा वस्तु दोष विशेष है। वस्तुदोष में भी प्रत्यक्षनिराकृत आदि कई विशेष हैं। उनके उदाहरण नीचे लिखे अनुसार हैं—

(क) प्रत्यक्षनिराकृत— जो पक्ष प्रत्यक्ष से बाधित हो। जैसे— शब्द कान का विषय नहीं है।

(ख) अनुमाननिराकृत— जो पक्ष अनुमान से बाधित हो। जैसे— शब्द नित्य है। यह बात शब्द को अनित्य सिद्ध करने वाले अनुमान से बाधित हो जाती है।

(ग) प्रतीतिनिराकृत— जो लोक में प्रसिद्ध ज्ञान से बाधित हो। जैसे— शशि चन्द्र नहीं है। यह बात सर्वसाधारण में प्रसिद्ध शशि और चन्द्र के ऐक्यज्ञान से बाधित है।

(घ) स्ववचननिराकृत— जो अपने ही वचनों से बाधित हो। जैसे— मैं जो कुछ कहता हूँ झूठ कहता हूँ। यहाँ कहने वाले का उक्त वाक्य भी उसी के कथनानुसार मिथ्या है।

(ङ) लोकरूढिनिराकृत— जो लोकरूढि के अनुसार ठीक न हो। जैसे— मनुष्य की खोपड़ी पवित्र है।

(२) तज्जातदोष— प्रतिवादी की जाति या कुल आदि को लेकर दोष देना तज्जातदोष है। यह भी सामान्य दोष की अपेक्षा विशेष है। जन्म, कर्म, मर्म आदि से इसके अनेक भेद हैं।

(३) दोष— पहले कहे हुए मतिभंग आदि वाक्यों के आठ दोषों को सामान्य रूप से न लेकर आठ भेद लेने से यह भी विशेष है अथवा दोषों के अनेक प्रकार यहाँ दोष रूप विशेष में लिए गए हैं।

(४) एकार्थिक— एक अर्थ वाला शब्द एकार्थिक विशेष है। जैसे— घट शब्द एकार्थिक है और गो शब्द अनेकार्थिक है। गो शब्द के दिशा, दृष्टि, वाणी, जल, पृथ्वी, आकाश, वन, किरण

आदि अनेक अर्थ हैं अथवा समान अर्थ वाले शब्दों में सममिच्छ और गवम्भूत नय के अनुसार भेद डाल देना एकाधिक विशेष है। जैसे— शक्र और पुरन्दर दोनों शब्दों का एक अर्थ होने पर भी किसी कार्य में शक्र अर्थात् समय होने समय ही शक्र और पुरों का दारण (नाश) करने समय ही पुरन्दर कहना।

(५) कारण—कार्य कारण रूप वस्तु समूह में कारण विशेष है। इसी तरह कार्य भी विशेष हो सकता है, अथवा कारणों के भेद कारणविशेष हैं। जैसे घट का पश्चिमी कारण मिट्टी है, अपेक्षाकारण दिशा, देश, काल, आकाश, पृथ्वी, चक्र आदि हैं। अथवा मिट्टी वर्गरह उपादान कारण है, कुलाल (कुम्हार) आदि निमित्त कारण हैं और चक्र, चीवर (होग) आदि सहकारी कारण हैं।

(६) प्रत्युत्पन्न दोष—प्रत्युत्पन्न का अर्थ है वर्तमानकालिक या जो पहले कर्मों न हुआ हो। अर्थात् या भविष्यकाल को छोड़ कर वर्तमानकाल में लगने वाला दोष प्रत्युत्पन्नदोष है। अथवा प्रत्युत्पन्न स्वीकार की हुई वस्तु में दिए जाने वाले अकृत्याभ्यागम, कृतप्रमाण आदि दोष प्रत्युत्पन्न दोष हैं।

(७) निन्ददोष—जिम दोष के आदि और अन्त न हों। जैसे अमन्य जीवों के मिथ्यात्व आदि दोष। अथवा वस्तु को एकान्त निन्द्य मानने पर जो दोष लगते हैं, उन्हें निन्द्य दोष कहते हैं।

(८) अधिक दोष—दूरे को ज्ञान करने के लिए प्रतिज्ञा, हेतु उदाहरण आदि जितनी बातों की आवश्यकता है उसमें अधिक कहना अधिक दोष है।

(९) आत्मकृत—जो दोष स्वयं किया हो उसे आत्मकृत दोष कहते हैं।

(१०) उपनीत—जो दोष दूर से डाग लगाया गया हो उसे उपनीत दोष कहते हैं। (टिप्पण १० व. ३ मंत्र ४१)

७२४— प्राण दस

जिन से प्राणी जीवित रहें उन्हें प्राण कहते हैं। वे दस हैं—
(१) स्पर्शनेन्द्रिय बल प्राण (२) रसनेन्द्रिय बल प्राण (३) घ्राणेन्द्रिय बल प्राण (४) चक्षुरिन्द्रिय बल प्राण (५) श्रोत्रेन्द्रिय बल प्राण (६) काय बल प्राण (७) वचन बल प्राण (८) मन बल प्राण (९) श्वासोच्छ्वास बल प्राण (१०) आयुष्य बल प्राण।

इन दस प्राणों में से किसी प्राण का विनाश करना हिंसा है। जैन शास्त्रों में हिंसा के लिए प्रायः प्राणातिपात शब्द का ही प्रयोग होता है। इसका अभिप्राय यही है कि इन दस प्राणों में से किसी भी प्राण का अतिपात (विनाश) करना ही हिंसा है। (ठाण्णं १ सूत्र ४८ की टीका) (प्रवचनसारोद्धार द्वार १७० गाथा १०६६)

एकेन्द्रिय जीवों में चार प्राण होते हैं—स्पर्शनेन्द्रिय बल प्राण, काय बल प्राण, श्वासोच्छ्वास बल प्राण, आयुष्य बल प्राण। द्वीन्द्रिय में छः प्राण होते हैं—चार पूर्वोक्त तथा रसनेन्द्रिय और वचन बल प्राण। त्रीन्द्रिय में सात प्राण होते हैं—छः पूर्वोक्त और घ्राणेन्द्रिय। चक्षुरिन्द्रिय में आठ प्राण होते हैं—पूर्वोक्त सात और चक्षुरिन्द्रिय। असंज्ञी पञ्चेन्द्रिय में नौ प्राण होते हैं—पूर्वोक्त आठ और श्रोत्रेन्द्रिय। संज्ञी पञ्चेन्द्रिय में दस प्राण होते हैं—पूर्वोक्त नौ और मन बल प्राण।

७२५— गति दस

गतियाँ दस बतलाई गई हैं। वे निम्न प्रकार हैं—

(१) नरकगति—नरक गति नाम कर्म के उदय से नरक पर्याय की प्राप्ति होना नरकगति कहलाती है। नरक गति को निरय गति भी कहते हैं। अय नाम शुभ, उससे रहित जो गति हो वह निरय गति कहलाती है।

(२) नरक विग्रह गति—नरक में जाने वाले जीवों की जो गति

गति श्चतु (मरल-मार्थि) रूप में या वक्र (टेंढ़े) रूप में होती है, उसे नरक विग्रह गति कहते हैं ।

इसी तरह (३) निर्यश्च गति (४) निर्यश्च विग्रह गति (५) मनुष्य गति (६) मनुष्य विग्रह गति (७) देव गति (८) देव विग्रह गति समझनी चाहिये । इन सब की विग्रह गति श्चतु रूप में या वक्र रूप में होती है ।

(९) मिद्व गति— आठ कर्मों का सर्वथा क्षय करके लोकाग्र पर स्थित मिद्वि (मोक्ष) की प्राप्ति करना मिद्वगति कहलाती है ।

(१०) मिद्व विग्रह गति—अष्ट कर्म में विमुक्त प्राणी की आकाश प्रदेशों का अनिक्रमण (उल्लंघन) रूप जो गति अर्थात् लोकान्त प्राप्ति वह मिद्व विग्रह गति कहलाती है ।

कहीं कहीं पर विग्रह गति का अपरनाम वक्र गति कहा गया है । यह नरक, निर्यश्च, मनुष्य और देवों के लिए तो उपयुक्त है, क्योंकि उनकी विग्रह गति श्चतु रूप में और वक्र रूप में दोनों तरह होती है किन्तु अष्ट कर्म में विमुक्त जीवों की विग्रह गति वक्र नहीं होती । अथवा इस प्रकार व्याख्या करनी चाहिये कि पहले जो मिद्व गति बतलाई गई है वह सामान्य मिद्व गति कही गई है और दूसरी मिद्वविग्रह गति अर्थात् मिद्वों की अविग्रह-अवक्र (मरल-मार्थी) गति होती है । यह विशेष की अपेक्षा में कथित मिद्वविग्रह गति है । अतः मिद्व गति और मिद्वविग्रहगति सामान्य और विशेष की अपेक्षा में कही गई है ।

(शास्त्राग १० ३ ३ सूत्र ४१४)

७२६— दस प्रकार के सर्व जीव

(१) पृथ्वीकाय (२) अप्काय (३) नेत्र काय (४) वायुराय (५) वनस्पति काय (६) डीन्द्रिय (७) श्रान्द्रिय (८) श्चतुर्गिन्द्रिय (९) पञ्चगिन्द्रिय (१०) अग्निन्द्रिय । मिद्व जीव अग्निन्द्रिय कहलाते हैं ।

(शास्त्राग १० ३ ३ सूत्र ४१५)

७२७- दस प्रकार के सर्व जीव

- | | |
|------------------------|-------------------------|
| (१) प्रथम समय नैरयिक | (२) अप्रथम समय नैरयिक |
| (३) प्रथम समय तिर्यञ्च | (४) अप्रथम समय तिर्यञ्च |
| (५) प्रथम समय मनुष्य | (६) अप्रथम समय मनुष्य |
| (७) प्रथम समय देव | (८) अप्रथम समय देव |
| (९) प्रथम समय सिद्ध | (१०) अप्रथम समय सिद्ध । |
- (ठाण्णंग १० उ. ३ सूत्र ७७१)

७२८- संसार में आने वाले प्राणियों के दस भेद

- | | |
|----------------------------|------------------------------|
| (१) प्रथम समय एकेन्द्रिय | (२) अप्रथम समय एकेन्द्रिय |
| (३) प्रथम समय द्वीन्द्रिय | (४) अप्रथम समय द्वीन्द्रिय |
| (५) प्रथम समय त्रीन्द्रिय | (६) अप्रथम समय त्रीन्द्रिय |
| (७) प्रथम समय चतुरिन्द्रिय | (८) अप्रथम समय चतुरिन्द्रिय |
| (९) प्रथम समय पञ्चेन्द्रिय | (१०) अप्रथम समय पञ्चेन्द्रिय |
- (ठाण्णंग १० उ. ३ सूत्र ७७१)

७२९- देवों में दस भेद

दस प्रकार के भवनवासी, आठ प्रकार के व्यन्तर, पाँच प्रकार के ज्योतिषी और चारह प्रकार के वैमानिक देवों में प्रत्येक के दस दस भेद होते हैं। अर्थात् प्रत्येक देव योनि दस विभागों में विभक्त है।

(१) इन्द्र- सामानिक शादि सभी प्रकार के देवों का स्वामी इन्द्र कहलाता है।

(२) सामानिक- आयु आदि में जो इन्द्र के बराबर होते हैं उन्हें सामानिक कहते हैं। केवल इन में इन्द्रत्व नहीं होता शेष सभी बातों में इन्द्र के समान होते हैं, यन्त्रिक इन्द्र के लिए वे अमात्य, माता, पिता एवं गुरु आदि की तरह पूज्य होते हैं।

(३) वायसिन्ध- जो देव मन्त्री और पुरोहित का काम

वे प्रायश्चित्त कहलाते हैं ।

(४) पारिषद्य- जो देव इन्द्र के मित्र मरीच्ये होते हैं वे पारिषद्य कहलाते हैं ।

(५) आन्मरत्तक- जो देव शस्त्र लेकर इन्द्र के पीछे गढ़े रहते हैं वे आन्मरत्तक कहलाते हैं । यद्यपि इन्द्र को किसी प्रकार की तकलीफ या अनिष्ट होने की सम्भावना नहीं है तथापि आन्मरत्तक देव अपना कर्तव्य पालन करने के लिए हर समय हाथ में शस्त्र लेकर गढ़े रहते हैं ।

(६) लोकपाल-मीमा (मरुद्द) की रक्षा करने वाले देव लोकपाल कहलाते हैं ।

(७) अनीक- जो देव सैनिक अथवा सेना नायक का काम करते हैं वे अनीक कहलाते हैं ।

(८) प्रकीर्णक- जो देव नगर निवासी अथवा मायागण जनता की तरह रहते हैं, वे प्रकीर्णक कहलाते हैं ।

(९) आभियोगिक- जो देव काम के ममान होते हैं वे आभियोगिक (मेधक) कहलाते हैं ।

(१०) किन्चिपिक-अन्यत्र (बाण्डाल) के ममान जो देव होते हैं वे किन्चिपिक कहलाते हैं । (तत्त्वावधिगमभाष्य अध्याय ४ सूत्र ४)

७३०- भवनवामी देव दम

भवनवामी देवों के नाम-(१) अमरकृमार (२) नागकृमार (३) सुवर्ग (सुवर्ग) कृमार (४) विद्युतकृमार (५) अग्निहृमार (६) र्द्वीपकृमार (७) उदधिकृमार (८) दिशकृमार (९) वायुकृमार (१०) म्पानितकृमार ।

ये देव प्रायः भवनों में रहते हैं इसलिए भवनवामी कहलाते हैं । इस प्रकार की व्युत्पत्ति अमरकृमारों की अपेक्षा समझनी चाहिए, क्योंकि विष्णुपुत्रः ये ही भवनों में रहते हैं । नागकृमार आदि

देव तो आवासों में रहते हैं।

भवनवासी देवों के भवन और आवासों में यह फरक होता है कि भवन तो बाहर से गोल और अन्दर से चतुष्कोण होते हैं।

उनके नीचे का भाग कमल की कर्णिका के आकार वाला होता है।

शरीर प्रमाण बड़े, मणि तथा रत्नों के दीपकों से चारों दिशाओं को प्रकाशित करने वाले मंडप आवास कहलाते हैं।

भवन वासी देव भवनों तथा आवासों दोनों में रहते हैं।

(पञ्चवर्णा पद १ सू. ३८) (ठायांग १० उ. ३ सूत्र ७३६) (भगवती शतक २ उद्देशा ७ सू. ११५) (जीवाभि० प्रतिपत्ति ३ उद्देशा १ सूत्र ११५)

७३१- असुरकुमारों के दस अधिपति

असुरकुमार देवों के दस अधिपति हैं। उनके नाम (१) चम-

रेन्द्र (असुरेन्द्र, असुरराज) (२) सोम (३) यम (४) वरुण (५)

वैश्रमण (६) बलि (वैरोचनेन्द्र, वैरोचनराज, बलीन्द्र) (७) सोम

(८) यम (९) वरुण (१०) वैधमण।

असुर कुमारों के प्रधान इन्द्र दो हैं। चमरेन्द्र और बलीन्द्र

इन दोनों इन्द्रों के चार दिशाओं में चार चार लोकपाल हैं। पूर्व

दिशा में सोम, दक्षिण दिशा में यम, पश्चिम दिशा में वरुण और

उत्तर दिशा में वैश्रमण देव। दोनों इन्द्रों के लोकपालों के नाम

एक सरीखे हैं।

इन लोकपाल देवों की बहुत सी श्रद्धा है। इन चारों लोक-

पालों के चार विमान हैं। (१) सन्ध्या प्रभ (२) वरशिष्ट (३)

स्वयंज्वल (४) वल्गु। इनमें सोम नाम के लोकपाल का सन्ध्या-

प्रभ विमान दूसरे लोकपालों के विमानों की अपेक्षा बहुत बड़ा

है। इसकी अधीनता में अनेक देव रहते हैं और ये सब देव

सोम नामक लोकपाल की आज्ञा का पालन करते हैं।

(भगवती शतक ३ उद्देशा = सू. १६६)

७३.२- नागकुमारों के दस अधिपति

नागकुमार जाति के देवों में दो इन्द्र हैं—(१) धरणेन्द्र और (२) भूतानन्द । इन दोनों इन्द्रों के चारों दिशाओं में चार चार लोकपाल होते हैं । (१) पूर्व दिशा में कालपाल (२) दक्षिण में कोलपाल (३) पश्चिम में शूलपाल (४) उत्तर दिशा में शंखपाल ।

इस प्रकार धरणेन्द्र (नागकुमारेन्द्र, नागकुमारराज) और भूतानन्द (नागकुमारेन्द्र) ये दो इन्द्र और आठ लोकपाल, सब मिल कर नागकुमारों के दस अधिपति हैं । (भगवतो श० ३ व. = मू. १६६)

७३.३- सुपर्णकुमार देवों के दस अधिपति

सुपर्णकुमार जाति के देवों के दो इन्द्र हैं—(१) वेणुदेव और (२) विचित्रपच । इन दोनों इन्द्रों के चार चार लोकपाल (दिग्पाल) हैं । (१) पूर्व में वेणुपाल (२) दक्षिण में चित्र (३) पश्चिम में विचित्र (४) उत्तर में चित्रपच । (भग. श० ३ व. = मू. १६६).

७३.४- विद्युत्कुमार देवों के दस अधिपति

हरिकान्त और सुप्रमकान्त ये दो इनके इन्द्र हैं । इन दोनों के चार चार लोकपाल हैं—(१) पूर्व में हरिमह (२) दक्षिण में प्रम (३) पश्चिम में सुप्रम (४) उत्तर में प्रमाकान्त ।

(भगवतो शतक ३ वरेशा = मू० १६६)

७३.५-अमिकुमार देवों के दस अधिपति

अग्निकुमार देवों के दो इन्द्र हैं—(१) अग्निमिह और (२) तेजप्रम । इन दोनों इन्द्रों के चारों दिशाओं में चार चार लोकपाल हैं । (१) पूर्व दिशा में अग्नि माग्व । (२) दक्षिण दिशा में तेज (३) पश्चिम दिशा में तेजमिह (४) उत्तर दिशा में तेजप्रमकान्त ।

(भगवतो शतक ३ वरेशा = मू० १६६)

७३६- द्वीपकुमार देवों के दस अधिपति

द्वीपकुमारों के दो इन्द्र हैं— (१) पूर्ण और (२) रूपप्रभ । इनके चार चार लोकपाल हैं । (१) पूर्व में विशिष्ट (२) दक्षिण में रूप (३) पश्चिम में रूपाश (४) उत्तर में रूपकान्त ।

(भगवती शतक ३ उद्देशा = सूत्र. १६६)

७३७- उदधिकुमारों के दस अधिपति

उदधिकुमारों के दो इन्द्र हैं— (१) जलकान्त (२) जलप्रभ । इन दोनों इन्द्रों के चारों दिशाओं में चार चार लोकपाल होते हैं । (१) पूर्व दिशा में जलप्रभ (२) दक्षिण दिशा में जल (३) पश्चिम दिशा में जलरूप (४) उत्तर दिशा में जलकान्त । इस तरह उदधिकुमारों के कुल दस अधिपति हैं ।

(भगवती श० ३ उ० = सू. १६६)

७३८- दिक्कुमार देशों के दस अधिपति

अमितगति और सिंहविक्रमगति दिक्कुमार देवों के इन्द्र हैं । प्रत्येक इन्द्र के पूर्व, दक्षिण, पश्चिम और उत्तर दिशा में क्रमशः (१) अमितवाहन (२) तूर्यगति (३) क्षिप्रगति (४) सिंहगति नामक चार लोकपाल हैं । इस प्रकार दिक्कुमार देवों के दस अधिपति हैं ।

(भगवती शतक ३ उद्देशा = सू. १६६)

७३९- वायुकुमारों के दस अधिपति

बेलम्ब और रिष्ट ये दो इनके इन्द्र हैं । प्रत्येक इन्द्र के चारों दिशाओं में चार लोकपाल हैं । यथा— (१) पूर्व दिशा में प्रभञ्जन (२) दक्षिण दिशा में काल (३) पश्चिम दिशा में महाकाल (४) उत्तर दिशा में अञ्जन ।

इस प्रकार दो इन्द्र और आठ लोकपाल ये दस वायुकुमारों के अधिपति हैं ।

(भगवती शतक ३ उद्देशा = सू. १६६)

७४०- स्ननिन कुमार देवों के दस अधिपति

घोष और महानन्द्यावर्त ये दो स्ननिनकुमार देवों के इन्द्र हैं।
 प्रत्येक इन्द्र के चारों दिशाओं में चार लोकपाल हैं। यथा—
 (१) पूर्व दिशा में महाघोष (२) दक्षिण दिशा में आवर्त (३)
 पश्चिम दिशा में न्यावर्त (४) उत्तर दिशा में नन्द्यावर्त।

इस प्रकार दो इन्द्र और आठ लोकपाल ये दस स्ननिनकुमार
 देवों के अधिपति हैं। (भगवती गीता ३ उद्देशा = सू. १६६)

७४१- कल्पोपपन्न इन्द्र दस

कल्पोपपन्न देवलोक बारह हैं। उनके दस इन्द्र ये हैं—
 (१) सुधर्म देवलोक का इन्द्र सौधमेन्द्र या शुक्रेन्द्र कहलाता है।
 (२) ईशान देवलोक का इन्द्र ईशानेन्द्र कहलाता है। (३) मनन्तुमार
 (४) माहेन्द्र (५) ब्रह्मलोक (६) लान्तक (७) शुक्र (८) महामार
 (९) आरात (१०) प्राणत (११) आरग (१२) अच्युत।

इन देवलोकों के इन्द्रों के नाम अपने अपने देवलोक के समान
 ही हैं। नवें और दसवें देवलोक का प्राणत नामक एक ही इन्द्र
 होता है। ग्यारहवें और बारहवें देवलोक का भी अच्युत नामक
 एक ही इन्द्र होता है। इस प्रकार बारह देवलोकों के दस इन्द्र होते हैं।
 इन देवलोकों में छोटे बड़े का कल्प (व्यवहार) होता है और इनके
 इन्द्र भी होते हैं। इसलिये ये देवलोक कल्पोपपन्न कहलाते हैं।

(टिप्पणी १० उ. ३ सू. ७६६)

७४२- जृम्भक देवों के दस भेद

अपनी इच्छानुसार स्युतन्त्र प्रवृत्ति करने वाले अर्थात् निरन्तर
 क्रीड़ा में रत रहने वाले देव जृम्भक कहलाते हैं। ये अति प्रसन्न
 चित्त रहते हैं और मैथुन सेवन की प्रवृत्ति में आसक्त बने रहते
 हैं। ये त्रिद्वे लोके में रहते हैं। त्रिन मनुष्यों पर ये प्रसन्न हो

जाते हैं उन्हें धन सम्पत्ति आदि से सुखी कर देते हैं और जिन पर ये कुपित हो जाते हैं उन को कई प्रकार से हानि पहुँचा देते हैं। इनके दस भेद हैं—

- (१) अन्नजृम्भक— भोजन के परिमाण को बढ़ा देने, घटा देने, सरस कर देने या नीरस कर देने आदि की शक्ति (सामर्थ्य) रखने वाले अन्नजृम्भक कहलाते हैं।
 - (२) पाणजृम्भक— पानी को घटा देने या बढ़ा देने वाले देव।
 - (३) वस्त्रजृम्भक— वस्त्र को घटाने बढ़ाने की शक्ति रखने वाले देव।
 - (४) लयणजृम्भक— घर मकान आदि की रक्षा करने वाले देव।
 - (५) शयनजृम्भक— शय्या आदि की रक्षा करने वाले देव।
 - (६) पुष्पजृम्भक— फूलों की रक्षा करने वाले देव।
 - (७) फलजृम्भक— फलों की रक्षा करने वाले देव।
 - (८) पुष्पफलजृम्भक— फूलों और फलों की रक्षा करने वाले देव।
- कहीं कहीं इसके स्थान में 'मन्त्रजृम्भक' पाठ भी मिलता है।
- ९) विद्याजृम्भक— विद्याओं की रक्षा करने वाले देव।
 - १०) अव्यक्तजृम्भक— सामान्य रूप से सब पदार्थों की रक्षा करने वाले देव। कहीं कहीं इसके स्थान में 'अधिपतिजृम्भक' पाठ भी आता है। (भगवती शास्त्र १४ वरेशा = सूत्र ४३३)

४३— दस महर्क्षिक देव

महान् वैभवशाली देव महर्क्षिक देव कहलाते हैं। उनके नाम—
 (१) जम्बूद्वीप का अधिपति अनाद्यन देव (२) सुदर्शन (३) पद्मदर्शन (४) पाण्डरीक (५) महापाण्डरीक और पाँच गरुड पुत्र देव कहे गये हैं। (दाशग १० ६० ३ सूत्र ४६४)

४४— दस विमान

गारुड देवतों के दस इन्द्र होते हैं। यह

बुका है। इन दस इन्द्रों के दस विमान होते हैं। वे इस प्रकार हैं—

- (१) प्रथम सुवर्म देवलोक के इन्द्र (शक्रेन्द्र) का पालक विमान है।
- (२) दूसरे ईशान देवलोक के इन्द्र (ईशानेन्द्र) का पुष्पक विमान है।
- (३) तीसरे मनन्कुमार देवलोक के इन्द्र का ममनम विमान है।
- (४) चौथे माहेन्द्र देवलोक के इन्द्र का श्रीवन्म विमान है।
- (५) पाँचवें ब्रह्मलोक देवलोक के इन्द्र का नन्दिकावर्ण विमान है।
- (६) छठे लान्तक देवलोक के इन्द्र का कामकम नामक विमान है।
- (७) सातवें शुक्र देवलोक के इन्द्र का प्रीतिगम नामक विमान है।
- (८) आठवें महस्वार देवलोक के इन्द्र का मनोगम विमान है।
- (९) नवें आणन और दसवें प्राणन देवलोक का एक ही इन्द्र है और उम का विमलवर नामक विमान है।
- (१०) ग्यारहवें आरग और बारहवें अन्युत देवलोक का एक ही इन्द्र है। उसका सर्वतोमद्र नामक विमान है।

इन विमानों में दस इन्द्र रहते हैं। ये विमान नगर के आकार वाले होते हैं। ये शाश्वत हैं। (टि० १० द. ३ सूत्र ५६१)

७२५.— तृण वनस्पतिकाय के दस भेद

वृक्ष के समान जो वनस्पति हो उसे वृक्ष वनस्पति कहते हैं। बादर की अपेक्षा में वनस्पति की वृक्ष के माय मावर्पता (ममानता) बतलाई गई है। बादर की अपेक्षा में ही इसके दस भेद होते हैं सूक्ष्म की अपेक्षा में नहीं। वृक्ष वनस्पति के दस भेद ये हैं—

- (१) मूल— जटा यानि जड़।
- (२) कन्द— मूल के नीचे का भाग।
- (३) मूकन्ध— धड़ को मूकन्ध कहते हैं।
- (४) गच्छ— वृक्ष का यानि छान।
- (५) शाला— शाखा को शाला कहते हैं।
- (६) प्रवाल— अंकुर। (७) पत्र— पत्ते।

(८) पुष्प- फूल । (९) फल । (१०) बीज ।
(ठाण्णंग १० उ. ३ सूत्र ७७३)

७४६- दस सूक्ष्म

सूक्ष्म दस प्रकार के होते हैं । वे ये हैं-

(१) प्राण सूक्ष्म (२) पनक सूक्ष्म (३) बीज सूक्ष्म (४) हरित सूक्ष्म (५) पुष्प सूक्ष्म (६) अण्ड सूक्ष्म (७) लयन सूक्ष्म (उत्तिग सूक्ष्म) (८) स्नेह सूक्ष्म (९) गणित सूक्ष्म (१०) भङ्ग सूक्ष्म ।

इन में से आठ की व्याख्या तो इसी भाग के आठवें चोल संग्रह के चोल नं० ६११ में दे दी गई है ।

(९) गणित सूक्ष्म- गणित यानि संख्या की जोड़ (संकलन) आदि को गणित सूक्ष्म कहते हैं, क्योंकि इसका ज्ञान भी सूक्ष्म बुद्धि द्वारा ही होता है ।

(१०) भङ्ग सूक्ष्म-वस्तु विकल्प को भङ्ग कहते हैं । यह भङ्ग दो प्रकार का है । स्थान भङ्ग और क्रम भङ्ग । जैसे हिंसा के विषय में स्थानभङ्गकल्पना इस प्रकार है-

- (क) द्रव्य से हिंसा, भाव से नहीं ।
- (ख) भाव से हिंसा, द्रव्य से नहीं ।
- (ग) द्रव्य और भाव दोनों से हिंसा ।
- (घ) द्रव्य और भाव दोनों से हिंसा नहीं ।

हिंसा के ही विषय में क्रम भङ्ग कल्पना इस प्रकार है-

- (क) द्रव्य और भाव से हिंसा ।
- (ख) द्रव्य से हिंसा, भाव से नहीं ।
- (ग) भाव से हिंसा, द्रव्य से नहीं ।
- (घ) न द्रव्य से हिंसा, न भाव से हिंसा ।

यह भङ्ग सूक्ष्म कहलाता है क्योंकि इनमें विकल्प विरोध होते

के कारण इसके गहन (गूढ़) भाव सूक्ष्म वृद्धि में ही जाने जा सकते हैं ।
(आश्विन १० च. ३ सूत्र ३१६)

७२७— दम प्रकार के नारकी

समय के व्यवधान (अन्तर) और अन्तरवधान आदि की अपेक्षा नारकी जीवों के दम भेद कहे गये हैं । वे इस प्रकार हैं—

(१) अनन्तगोपदमक— अन्तर व्यवधान को कहते हैं । जिन नारकी जीवों को उत्पन्न हुए अभी एक समय भी नहीं बीता है अर्थात् जिनकी उत्पत्ति में अभी एक समय का भी अन्तर नहीं पड़ा है वे अनन्तगोपदमक नारकी कहलाते हैं ।

(२) परम्पगोपदमक— जिन नारकी जीवों को उत्पन्न हुए दो तीन आदि समय बीत गये हैं । उनको परम्पगोपदमक नारकी कहते हैं । ये दोनों भेद काल की अपेक्षा में हैं ।

(३) अनन्तगदगाद— विवक्षित प्रदेश (स्थान) की अपेक्षा में अनन्तर अर्थात् अन्तरवहित प्रदेशों के अन्दर उत्पन्न होने वाले अथवा प्रथम समय में क्षेत्र का अदगाहन करने वाले नारक जीव अनन्तगदगाद कहलाते हैं ।

(४) परम्पगदगाद— विवक्षित प्रदेश की अपेक्षा व्यवधान में पैदा होने वाले अथवा दो तीन समय के पश्चात् उत्पन्न होने वाले नारकी परम्पगदगाद कहलाते हैं ।

ये दोनों भेद क्षेत्र की अपेक्षा में मनननं आदिष्ट ।

(५) अनन्तगहादक— अनन्तर (अन्तरवहित) अर्थात् व्यवधान रहित जीव प्रदेशों में आक्रान्त अथवा जीव प्रदेशों या स्थान करने वाले पृथ्वी का आहार करने वाले नारकी जीव अनन्तगहादक कहलाते हैं । अथवा उत्पत्ति के प्रथम समय में आहार ग्रहण करने वाले जीवों को अनन्तगहादक कहते हैं ।

(६) परम्पगहादक— जो नारकी जीव अपने क्षेत्र में आर. हुए

पहले व्यवधान वाले पुद्गलों का आहार करते हैं या जो प्रथम समय में आहार ग्रहण नहीं करते हैं वे परम्पराहारक कहलाते हैं।

उपरोक्त दोनों भेद द्रव्य की अपेक्षा से हैं।

(७) अनन्तर पर्याप्तक— जिनके पर्याप्त होने में एक समय का भी अन्तर नहीं पड़ा है, वे अनन्तर पर्याप्तक या प्रथम समय पर्याप्तक कहलाते हैं।

(८) परम्परा पर्याप्तक— अनन्तर पर्याप्तक से विपरीत लक्षण वाले अर्थात् उत्पत्ति काल से दो तीन समय पश्चात् पर्याप्तक होने वाले परम्परा पर्याप्तक कहलाते हैं।

ये दोनों भेद भाव की अपेक्षा से हैं।

(९) चरम— वर्तमान नारकी का भव समाप्त करने के पश्चात् जो जीव फिर नारकी का भव प्राप्त नहीं करेंगे वे चरम अर्थात् अन्तिम भव नारक कहलाते हैं।

(१०) अचरम— वर्तमान नारकी के भव को समाप्त करके जो फिर भी नरक में उत्पन्न होंगे वे अचरम नारक कहलाते हैं।

ये दोनों भेद भी भाव की अपेक्षा से हैं क्योंकि चरम और अचरम ये दोनों पर्याय जीव के ही होते हैं।

जिस प्रकार नारकी जीवों के ये दस भेद बतलाए गए हैं वैसे ही दस दस भेद चाँचीस ही दण्डकों के जीवों के होते हैं।

(छायांग १० उ. ३ सूत्र ७५५)

७४८— नारकी जीवों की वेदना दस

(१) शीत— नरक में अत्यन्त शीत (ठण्ड) होती है।

(२) उष्ण (गरमी) (३) शुष्ण (भूख) (४) पिपासा (प्यास)

(५) कण्डू (खुजली) (६) परतन्त्रता (परवशता) (७) भय (डर)

(८) शोक (दीनता) (९) जरा (बुढ़ापा) (१०) व्याधि (रोग)।

उपरोक्त दस वेदनाएँ नरकों के अन्दर अत्यन्त

उन्कुष्ट रूप में होती हैं। इन वेदनाओं को विशेष विवरण सातवें बोल संग्रह के बोल नं० ४६० में दिया गया है।

(टांगुंग १० उ ३ मृत्र ७४३)

७४९-- जीव परिणाम दस

एक रूप को छोड़ कर दूसरे रूप में परिवर्तित हो जाना परिणाम कहलाता है। अथवा विद्यमान पर्याय को छोड़ कर नवीन पर्याय को धारण कर लेना परिणाम कहलाता है। जीव के दस परिणाम बतलाए गए हैं—

(१) गति परिणाम— नरकगति, निर्यञ्चगति, मनुष्यगति और देवगति में से जीव को किसी भी गति को प्राप्ति होना गति-परिणाम है। गति नामकर्म के उदय से जीव जब जिस गति में होता है तब वह उर्मा नाम से कहा जाता है। जैसे नरकगति का जीव नारक, देवगति का जीव देव आदि।

किसी भी गति में जानें पर जीव के इन्द्रियाँ अवश्य होती हैं। इस लिए गति परिणाम के आगे इन्द्रिय परिणाम दिया गया है।

(२) इन्द्रिय परिणाम— किसी भी गति को प्राप्त हुए जीव को श्रोत्रेन्द्रिय आदि पाँच इन्द्रियों में से किसी भी इन्द्रिय की प्राप्ति होना इन्द्रिय परिणाम कहलाता है।

इन्द्रिय की प्राप्ति होने पर राग द्वेष रूप कषाय की परिणति होती है। अतः इन्द्रिय परिणाम के आगे कषाय परिणाम कहा है।

(३) कषाय परिणाम— क्रोध, मान, माया, लोभ रूप चार कषायों का होना कषाय परिणाम कहलाता है। कषाय परिणाम के होने पर लेश्या अवश्य होती है किन्तु लेश्या के होने पर कषाय अवश्यम्भावी नहीं है। क्षीण कषाय गुणम्यानरती जीव (मयोगी केवली) के कुछ लेश्या नौ वर्ष कम करोड़ पूर्व तक रह सकती हैं। इसका यह तान्दर्य्य है कि कषाय के मद्भावे लेश्या की नियमां है और लेश्या के मद्भावे कषाय की

भजना है। आगे लेश्या परिणाम कहा जाता है।

(४) लेश्या परिणाम—लेश्याएं छः हैं। कृष्ण लेश्या, नीला लेश्या, कापोत लेश्या, तेजो लेश्या, पद्म लेश्या, शुक्ल लेश्या। इन लेश्याओं में से किसी भी लेश्या की प्राप्ति होना लेश्या परिणाम कहलाता है। योग के होने पर ही लेश्या होती है।

अतः आगे योग परिणाम कहा जाता है।

(५) योग परिणाम—मन, वचन, काया रूप योगों की प्राप्ति होना योग परिणाम कहलाता है।

संतारी प्राणियों के योग होने पर ही उपयोग होता है। अतः योग परिणाम के पश्चात् उपयोग परिणाम कहा गया है।

(६) उपयोग परिणाम—साकार और अनाकार (निराकार) के भेद से उपयोग के दो भेद हैं। दर्शनोपयोग निराकार (निर्विकल्पक) कहलाता है और ज्ञानोपयोग साकार (सविकल्पक) होता है। इनके रूप में जीव की परिणति होना उपयोग परिणाम है।

उपयोग परिणाम के होने पर ज्ञान परिणाम होता है। अतः आगे ज्ञान परिणाम बतलाया जाता है।

(७) ज्ञान परिणाम—मति श्रुति आदि पाँच प्रकार के ज्ञान रूप में जीव की परिणति होना ज्ञान परिणाम कहलाता है। यही ज्ञान मिथ्यादृष्टि को अज्ञान स्वरूप होता है। अतः मत्त्वज्ञान श्रुतज्ञान विभक्तज्ञान का भी इसी परिणाम में प्रवेश हो जाता है।

मतिज्ञान आदि के होने पर सम्यक्त्व रूप दर्शन परिणाम होता है। अतः आगे दर्शन (सम्यक्त्व) परिणाम का कथन है।

(८) दर्शन परिणाम—सम्यक्त्व, मिथ्यात्व और मिथ्यसम्यक्त्व के भेद से दर्शन के तीन भेद हैं। इन में से किसी एक में जीव ही परिणति होना दर्शन परिणाम है।

दर्शन के पश्चात् तारिण होना है। अतः आगे तारिण

शाम का कथन किया जाता है—

(६) चारित्र परिणाम— चारित्र के पाँच भेद हैं । सामायिक चारित्र, छेदोपम्यापनीय चारित्र, परिहागविशुद्धि चारित्र, सूक्ष्म-संपराय चारित्र, यथाख्यात चारित्र । इन पाँचों चारित्रों में से जीव की किमी भी चारित्र में परिणति होना चारित्र परिणाम कहलाता है ।

(१०) वेद परिणाम— स्त्रीवेद, पुरुषवेद और नपुंसकवेद में से जीव को किमी एक वेद की प्राप्ति होना वेद परिणाम कहलाता है ।

किन किन जीवों में कितने और कौन कौन से परिणाम पाये जाते हैं ? अब यह बतलाया जाता है ।

नारकी जीव— नरक गति वाला, पंचेन्द्रिय, चतुःकपायी (क्रोध मान माया लोभ चारों कपायों वाला) तीन लेंस्या (कृष्य नील कापोत्र) वाला, तीनों योगों वाला, दो उपयोग (साकार और निराकार) वाला, तीन ज्ञान (मति श्रुति अवधि) तथा तीन अज्ञान वाला । तीनों दर्शन (सम्यग्दर्शन मिथ्यादर्शन मिथ-दर्शन) वाला, अविरति और नपुंसक होता है ।

मवनपति— असुरकुमार में लेकर म्मनितकुमार तक सब बोल नारकी जीवों की तरह जानने चाहिए । मिके इतनी विशेषता है— गति की अपेक्षा देवगति वाले, लेंस्या की अपेक्षा चार लेंस्या (कृष्य नील कापोत्र त्रेत्रो लेंस्या) वाले होते हैं । वेद की अपेक्षा स्त्रीवेद और पुरुषवेद वाले होते हैं, नपुंसक वेद वाले नहीं ।

पृथ्वीकार्षिक, अप्कायिक, वनस्पतिकायिक जीव— गति की अपेक्षा तिर्यञ्च गति वाले, इन्द्रिय की अपेक्षा एकेंद्रिय, लेंस्या की अपेक्षा प्रथम चार लेंस्या वाले, योग की अपेक्षा केवल काय योग वाले, ज्ञान परिणाम की अपेक्षा मति अज्ञानी और श्रुत अज्ञानी, दर्शन की अपेक्षा मिथ्यादृष्टि । शेष बोल नारकी जीवों की तरह

ही समझने चाहिए। तेजस्कायिक और वायुकायिक जीवों में प्रथम तीन लेश्याएँ ही होती हैं। शेष बोल ऊपर के समान ही हैं।
वेइन्द्रिय जीव—तिर्यञ्च गति वाले, वेइन्द्रिय, दो योग वाले, (काय योग और वचन योग वाले), मतिज्ञान तथा श्रुतज्ञान वाले, मति अज्ञान, श्रुत अज्ञान वाले, सम्यग्दृष्टि और मिथ्या-दृष्टि होते हैं शेष बोल नारकी जीवों की तरह ही हैं।

त्रीन्द्रिय और चतुरिन्द्रिय वाले जीवों के भी इसी तरह होते हैं, सिर्फ त्रीन्द्रियों में इन्द्रियाँ तीन और चतुरिन्द्रियों में इन्द्रियाँ चार होती हैं। पञ्चेन्द्रिय तिर्यञ्च-गति की अपेक्षा तिर्यञ्च गति वाले, लेश्या की अपेक्षा छः लेश्या वाले, चारित्र की अपेक्षा अचरित और देशचरित, वेद की अपेक्षा तीनों वेद वाले होते हैं। बाकी बोल नारकी जीवों की तरह समझने चाहिए।

मनुष्य—मनुष्य गति, पञ्चेन्द्रिय, चार कषाय वाला तथा प्रकषायी, छः लेश्या वाला तथा लेश्यारहित, तीनों योग वाला तथा अयोगी, दोनों उपयोग वाला, पाँचों ज्ञान वाला तथा तीन अज्ञान वाला, तीन दर्शन वाला, देशचारित्र तथा सर्वचारित्र वाला और अचारित्र और तीनों वेद वाला तथा अवेदी होता है।

अन्यन्तर देव—गति की अपेक्षा देवगति वाले इत्यादि सब बोल असुरकुमारों की तरह जानने चाहिए।

ज्योतिषी देवों में सिर्फ तेजो लेश्या होती है। पैमानिक देवों में तीन शुभ लेश्या होती हैं। शेष बोल असुरकुमारों की तरह ही जानने चाहिए। (पद्मसूत्र परिणाम पत्र १३) (टा० १०३.३ सूत्र ७१३)

७५०—अजीव परिणाम दस

अजीव अर्थात् जीवरहित वस्तुओं के परिवर्तन में होने वाली उनकी विविध अवस्थाओं को अजीव परिणाम दस प्रकार के हैं।

(१) बन्धन परिणाम— अतीव पदार्थों का आपस में मिलना अर्थात् स्नेह हेतुक या रूचन्व हेतुक बन्ध होना बन्धन कहलाता है । हमके दो भेद हैं— म्लिग्धबन्धन परिणाम और रूचबन्धन परिणाम । म्लिग्ध और रूच स्कन्धों का तुल्य गुण वाले म्लिग्ध और रूच स्कन्धों के साथ मज्जातीय तथा विज्जातीय किसी प्रकार का बन्ध नहीं होता है किन्तु विषम गुण वाले म्लिग्ध और रूच स्कन्धों का मज्जातीय तथा विज्जातीय बन्ध होता है । म्लिग्ध का अपने में द्विगुणादि अधिक म्लिग्ध के साथ और रूच का द्विगुणादि अधिक रूच के साथ बन्ध होता है । जघन्य गुण (एक गुण) वाले रूच को छोड़ कर अन्य ममान या अममाने रूच स्कन्धों के साथ म्लिग्ध का बन्ध होता है । इसका यह तात्पर्य है कि जघन्य गुण (एक गुण) वाले म्लिग्ध और जघन्य गुण (एक गुण) वाले रूच को छोड़ कर शेष ममान गुण वाले या विषम (अममान) गुण वाले म्लिग्ध तथा रूच स्कन्धों का परस्पर मज्जातीय एवं विज्जातीय बन्ध होता है ।

पुद्गलों के बन्ध का विचार श्री उमास्वामि ने तत्त्वार्थ सूत्र के पाँचवें अध्याय में विस्तार में किया है । यथा— 'म्लिग्धस्कन्धा-
हेन्धः' म्लिग्धता में या रूचता में पुद्गलों का परस्पर बन्ध होता है अर्थात् म्लिग्ध (निकले) और रूच (रुचे) पुद्गलों के संयोग में स्नेहहेतुक या रूचन्वहेतुक बन्ध होता है । यह बन्ध मज्जातीय बन्ध और विज्जातीय बन्ध के भेद में दो प्रकार का है । म्लिग्ध का म्लिग्ध के साथ और रूच का रूच के साथ बन्ध मज्जातीय अथवा मद्ग बन्ध कहलाता है । म्लिग्ध और रूच पुद्गलों का परस्पर बन्ध विज्जातीय या विमद्ग बन्ध कहलाता है ।

उत्तरोक्त नियम सामान्य है, इसका अर्थवाद बतलाया जाता है । 'न जघन्य गुणानाम्' अर्थात् जघन्य गुण वाले (एक गुण वाले)

स्निग्ध और जघन्य गुण वाले (एक गुण वाले) रुच पुद्गलों का सजातीय और विजातीय बन्ध नहीं होता है। इसका तात्पर्य यह है कि जघन्य गुण वाले स्निग्ध पुद्गलों का जघन्य गुण वाले स्निग्ध और रुच पुद्गलों के साथ और जघन्य गुण वाले रुच पुद्गलों का जघन्य गुण वाले स्निग्ध और रुच पुद्गलों के साथ बन्ध नहीं होता है क्योंकि स्नेह गुण जघन्य होने के कारण उसमें पुद्गलों को परिणमाने की शक्ति नहीं है किन्तु मध्यम गुण वाले अथवा उत्कृष्ट गुण वाले स्निग्ध और रुच पुद्गलों का सजातीय और विजातीय बन्ध होता है, परन्तु इसमें इतनी विशेषता है कि 'गुण साम्ये सदृशानाम्' अर्थात् गुणों की समानता होने पर सदृश बन्ध नहीं होता है। संख्यात, असंख्यात तथा अनन्त गुण वाले स्निग्ध पुद्गलों का संख्यात, असंख्यात तथा अनन्त गुण वाले स्निग्ध पुद्गलों के साथ बन्ध नहीं होता है। इसी प्रकार संख्यात, असंख्यात तथा अनन्त गुण वाले रुच पुद्गलों का इतने ही (संख्यात, असंख्यात तथा अनन्त) गुण वाले रुच पुद्गलों के साथ बन्ध नहीं होता है। इस सूत्र का यह तात्पर्य है कि गुणों की विपमता हो तो सदृश पुद्गलों का बन्ध होता है और गुणों की समानता हो तो विसदृश पुद्गलों का बन्ध होता है।

कितने गुणों की विपमता होने पर बन्ध होता है? इसके लिए बतलाया गया है कि 'द्वयधिकादि गुणानां तु' अर्थात् दो तीन आदि गुण अधिक हो तो स्निग्ध और रुच पुद्गलों का सदृश बन्ध भी होता है। यथा— जघन्य गुण वाले (एक गुण वाले) स्निग्ध परमाणु का त्रिगुण स्निग्ध परमाणु के साथ बन्ध होता है। इसी प्रकार जघन्य गुण वाले (एक गुण वाले) रुच परमाणु का अपने में द्विगुणाधिक अथवा त्रिगुण रुच परमाणु के साथ बन्ध होता है।

(१) वन्यन परिणाम— अतीव प
 अर्थान् स्नेह हेतुक या नञ्चन्व हेतुक
 कहलाता है । हमारे दो मंत्र हैं—
 स्नेहवन्यन परिणाम । स्निग्ध अर्थात् स्नेह
 स्निग्ध अर्थात् स्नेह स्नेहों के साथ
 किसी प्रकार का वन्य नहीं होता
 स्निग्ध अर्थात् स्नेह स्नेहों का मन्त्र
 होता है । स्निग्ध का अर्थ मे द्वि
 माय अर्थात् स्नेह का द्विगुणादि अर्थ
 है । जयन्त्य गुण (एक गुण) वाले स्नेह
 या अममान स्नेह स्नेहों के साथ
 हमका यह तात्पर्य है कि जयन्त्य गुण
 अर्थात् जयन्त्य गुण (एक गुण) वाले स्नेह
 गुण ५ वा

न करते हुए एक दम नीचे पहुँच जाता है। ये दो प्रकार के गतिपरिणाम होते हैं। अथवा गतिपरिणाम के दूसरी तरह से दो भेद होते हैं। दीर्घगति परिणाम और ह्रस्वगति परिणाम दूर क्षेत्र में जाना दीर्घगति परिणाम कहलाता है और समीप के क्षेत्र में जाना ह्रस्वगति परिणाम कहलाता है।

(३) संस्थान परिणाम—आकार विशेष को संस्थान कहते हैं। पुद्गलों का संस्थान के रूप में परिणत होना संस्थान परिणाम है। अः संस्थान दूसरे भाग के बोल नं० ४६६ में बताया गए हैं।

(४) भेद परिणाम—पदार्थ में भेद का होना भेद परिणाम कहलाता है। इसके पाँच भेद हैं। यथा—

(क) खण्ड भेद—जैसे घड़े को फैंकने पर उसके खण्ड खण्ड (डकड़े डकड़े) हो जाते हैं। यह पदार्थ का खण्ड भेद कहलाता है।

(ख) प्रतर भेद—एक तह के ऊपर दूसरी तह का होना प्रतर भेद कहलाता है। जैसे आकाश में बादलों के अन्दर प्रतर भेद पाया जाता है।

(ग) अनुतट भेद—एक हिस्से (पौर) से दूसरे हिस्से तक भेद होना अनुतट भेद कहलाता है। जैसे बांस के अन्दर एक पौर से दूसरे पौर तक का हिस्सा अनुतट है।

(घ) चूर्ण भेद—किसी वस्तु में पिस जाने पर भेद होना चूर्ण भेद कहलाता है। जैसे आटा।

(ङ) उत्करिका भेद—छीले जाते हुए प्रस्थक (पायली) के जो छिलके उतरते हैं उनका भेद उत्करिका भेद कहलाता है।

(५) वर्ण परिणाम—वर्ण परिणाम कृष्ण (काला), नीला, रक्त (लाल), पीत (पीला), श्वेत (सफेद) के भेद से पाँच प्रकार का है।

(६) गन्ध परिणाम—सुरभिगन्ध और दूरीगन्ध के रूप में पुद्गलों का परिणत होना गन्ध परिणाम है।

इन सूत्रों का यह निष्कर्ष है कि— (१) जघन्य गुण स्निग्ध और रुच पुद्गलों का जघन्य गुण वाले स्निग्ध और रुच पुद्गलों के साथ सद्य और विमद्य किसी भी प्रकार बन्ध नहीं होता है। (२) जघन्य गुण वाले पुद्गलों का एकाधिक गुण वाले पुद्गलों के साथ सजातीय (सद्य) बन्ध नहीं होता है। किन्तु विजातीय (विमद्य) बन्ध होता है और जघन्य गुण वाले पुद्गलों का द्विगुणाधिक पुद्गलों के साथ सद्य और विमद्य दोनों प्रकार का बन्ध होता है। जघन्य गुण वाले पुद्गलों को छोड़ कर शेष पुद्गलों के साथ उन्हीं के समान गुण वाले पुद्गलों का सद्य बन्ध नहीं होता है। किन्तु विसद्य बन्ध होता है। जघन्य गुण वाले पुद्गलों को छोड़ कर शेष पुद्गलों के साथ अपने से एकाधिक जघन्यतर गुण वाले पुद्गलों का सद्य बन्ध नहीं होता किन्तु विसद्य बन्ध होता है। जघन्यतर यानि जघन्य गुण वाले पुद्गलों के सिवाय अन्य पुद्गलों का द्विगुणाधिकादि जघन्यतर पुद्गलों के साथ सजातीय (सद्य) और विजातीय (विमद्य) दोनों प्रकार का बन्ध होता है।

(२) गति परिणाम—अजीव पुद्गलों की गति होना गतिपरिणाम कहलाता है। यह दो प्रकार का है। स्पृशद्गति परिणाम और अस्पृशद्गति परिणाम। प्रयत्न विशेष में फँका हुआ पत्थर आदि यदि पदार्थों को स्पर्श करता हुआ गति करे तो वह स्पृशद्गति परिणाम कहलाता है। जैसे पानी के ऊपर निरखी फँकी हुई टीकरी बीच में रहे हुए पानी का स्पर्श करती हुई बहुत दूर तक चली जाती है। यह स्पृशद्गति परिणाम है।

बीच में रहे हुए पदार्थों को बिना स्पर्श करते हुए गति करना अस्पृशद्गति परिणाम कहलाता है। जैसे बहुत ऊँचे स्थान पर में फँका हुआ पत्थर बीच में अन्य पदार्थ का स्पर्श

न करते हुए एक दम नीचे पहुँच जाता है। ये दो प्रकार के गतिपरिणाम होते हैं। अथवा गतिपरिणाम के दूसरी तरह से दो भेद होते हैं। दीर्घगति परिणाम और ह्रस्वगति परिणाम दूर क्षेत्र में जाना दीर्घगति परिणाम कहलाता है और समीप के क्षेत्र में जाना ह्रस्वगति परिणाम कहलाता है।

(३) संस्थान परिणाम—आकार विशेष को संस्थान कहते हैं। पुद्गलों का संस्थान के रूप में परिणत होना संस्थान परिणाम है। छः संस्थान दूसरे भाग के बोल नं० ४६६ में बताए गए हैं।

(४) भेद परिणाम—पदार्थ में भेद का होना भेद परिणाम कहलाता है। इसके पाँच भेद हैं। यथा—

(क) खण्ड भेद—जैसे घड़े का फँकने पर उसके खण्ड खण्ड (टुकड़े टुकड़े) हो जाते हैं। यह पदार्थ का खण्ड भेद कहलाता है।

(ख) प्रतर भेद—एक तह के ऊपर दूसरी तह का होना प्रतर भेद कहलाता है। जैसे आकाश में बादलों के अन्दर प्रतर भेद पाया जाता है।

(ग) अनुतट भेद—एक हिस्से (पौर) से दूसरे हिस्से तक भेद होना अनुतट भेद कहलाता है। जैसे बांस के अन्दर एक पौर से दूसरे पौर तक का हिस्सा अनुतट है।

(घ) चूर्ण भेद—किसी वस्तु में पिस जाने पर भेद होना चूर्ण भेद कहलाता है। जैसे आटा।

(ङ) उत्करिका भेद—छीले जाते हुए प्रत्येक (पायली) के जो छिलके उतरते हैं उनका भेद उत्करिका भेद कहलाता है।

(५) वर्ण परिणाम—वर्ण परिणाम कृष्ण (काला), नीला, रक्त (लाल), पीत (पीला), श्वेत (सफेद) के भेद से पाँच प्रकार का है।

(६) गन्ध परिणाम—सुरभिगन्ध और दुरभिगन्ध के रूप में पुद्गलों का परिणत होना गन्ध परिणाम है।

(७) रस परिणाम—रस के रूप में पृष्ठगुणों का परिणत होना ।

रस पाँच हैं— तिक्त, कटु (कडुवा), कषायला, मृदु, मीठा ।

(८) स्पर्श परिणाम—यह आठ प्रकार का है । कर्कश परिणाम, मृदु परिणाम, रुच परिणाम, स्निग्ध परिणाम, लघु (हल्का) परिणाम, गुरु (भारी) परिणाम, उष्ण परिणाम, शीत परिणाम ।

(९) अगुरुलघु परिणाम—जो न तो इतना भारी हो कि अधः (नीचे) चला जावे और न इतना लघु (हल्का) हो जो ऊर्ध्व (ऊपर) चला जावे ऐसा अत्यन्त भूत्तम परमाणु अगुरुलघु परिणाम कहलाता है । यथा—भाषा, मन, कर्म आदिके परमाणु अगुरुलघु हैं ।

अगुरुलघु परिणाम को ग्रहण करने में यहाँपर गुरुलघु परिणाम भी समझ लेना चाहिए । जो अन्य पदार्थ की विवक्षा में गुरु हो और किसी अन्य पदार्थ की विवक्षा में लघु हो उसे गुरुलघु कहते हैं । यथा आँदामिक शरीर आदि ।

(१०) शब्द परिणाम—शब्द के रूप में पृष्ठगुणों का परिणत होना ।

(टाण्णंग १० उ. ३ सूत्र ७१३ । (अथवशा पद १३ सूत्र १८४-१८५)

७५१— अस्मी अजीव के दस भेद

(१) धर्मास्तिकाय (२) धर्मास्तिकाय का देश (३) धर्मास्तिकाय का प्रदेश (४) अधर्मास्तिकाय (५) अधर्मास्तिकाय का देश (६) अधर्मास्तिकाय का प्रदेश (७) आकाशास्तिकाय (८) आकाशास्तिकाय का देश (९) आकाशास्तिकाय का प्रदेश (१०) काल ।

(१) धर्मास्तिकाय—गति परिणाम वाले जीव और पृष्ठगुणों को गति करने में जो सहायक हो उसे धर्म कहते हैं । अस्मि नाम है प्रदेश । काय समूह को कहते हैं । गण, काय, निकाय, स्कन्ध, वर्ग और राशि ये सब शब्द काय शब्द के पर्यायवाची हैं । अतः अस्तिकाय यानि प्रदेशों का समूह । मर मिल कर धर्मास्तिकाय शब्द बना हुआ है ।

(२) धर्मास्तिकाय के बुद्धि कल्पित दो तीन संख्यात असंख्यात प्रदेश धर्मास्तिकाय के देश कहलाते हैं।

(३) धर्मास्तिकाय के वे अत्यन्त सूक्ष्म निर्विभाग यानि जिन के फिर दो भाग न हो सकते हों ऐसे भाग जहाँ बुद्धि से कल्पना भी न की जा सकती हो वे धर्मास्तिकाय के प्रदेश कहलाते हैं। धर्मास्तिकाय के असंख्यात प्रदेश हैं।

(४) अधर्मास्तिकाय—स्थिति परिणाम वाले जीव और पुद्गलों को स्थिति में (ठहरने में) जो सहायक हो उसे अधर्मास्तिकाय कहते हैं। जैसे धके हुए पथिक के लिए छायादार वृक्ष ठहरने में सहायक होता है।

(५-६) अधर्मास्तिकाय के भी देश और प्रदेश ये दो भेद होते हैं।

(७-८-९) आकाशास्तिकाय—जो जीव और पुद्गलों को रहने के लिए अवकाश दे वह आकाशास्तिकाय कहलाता है। इसके देश और प्रदेश अनन्त हैं, क्योंकि आकाशास्तिकाय लोक और अलोक दोनों में रहता है। अलोक अनन्त है। इसलिए आकाशास्तिकाय के प्रदेश भी अनन्त हैं।

(१०) काल (अद्वा समय)—काल को अद्वा कहते हैं अथवा काल का निर्विभाग भाग अद्वा समय कहलाता है। धान्तव में वर्तमान का एक समय ही काल (अद्वा समय) कहलाता है। अतीत और अनागत का समय काल रूप नहीं है क्योंकि अतीत का तो विनाश हो चुका और अनागत (भविष्यत् काल) अनुत्पन्न है यानि अभी उत्पन्न नहीं हुआ है। इसलिए ये दोनों (अतीत—अनागत) वर्तमान में अविद्यमान हैं। अतः ये दोनों काल नहीं माने जाते हैं, क्योंकि 'वर्तना लक्षणः कालः' यह लक्षण वर्तमान एक समय में ही पाया जाता है। अतः वर्तमान वही काल (अद्वा समय) माना जाता है। यह निर्विभागी (निरंश) है। इसी लिए काल के नाथ में 'अस्ति' और

‘काय’ नहीं जोड़ा गया है ।

इस प्रकार अमरी अजीव के दम भेद हैं । छः दुष्टों का विरोध विन्दार इमी के दूसरे भाग बोल संग्रह बोल नं० ४४२ में है ।

(अवगता पद १ सू ३) (जीवाभिगम, प्रति. १ सूत्र ४)

४४२—लोकस्थिति दम

लोक की स्थिति दम प्रकार से व्यवस्थित है ।

(१) जीव एक जगह में मर कर लोक के एक प्रदेश में किसी गति, योनि अथवा किसी कुल में निरन्तर उत्पन्न होते रहते हैं । यह लोक की प्रथम स्थिति है ।

(२) प्रवाद रूप में अनादि अनन्त काल में मोक्ष के साधकमन्दर ज्ञानावर्गीयादि आठ कर्मों को निरन्तर रूप में जीव बाँधते रहते हैं । यह दूसरी लोक स्थिति है ।

(३) जीव अनादि अनन्त काल में मोहनीय कर्मों को बाँधते रहते हैं । यह लोक की तृतीरी स्थिति है ।

(४) अनादि अनन्त काल में लोक की यह व्यवस्था रही है कि जीव कभी अजीव नहीं हुआ है, न होता है और न भविष्य काल में कभी ऐसा होगा । इसी प्रकार अजीव कभी भी जीव नहीं हुआ है, न होता है और न होगा । यह लोक की चार्यी स्थिति है ।

(५) लोक के अन्दर कभी भी शम और व्यावर प्राणियों का संवेधा अभाव न हुआ है, न होता है और न होगा और ऐसा भी कभी न होता है, न हुआ है और न होगा कि सभी शम प्राणी व्यावर बन गए हों अथवा सब व्यावर प्राणी शम बन गए हों । इसका यह अभिप्राय है कि ऐसा समय न आया है, न आता है और न आयेगा कि लोक के अन्दर केवल शम प्राणी ही रह गए हों अथवा केवल व्यावर प्राणी ही रह गए हों । यह लोक स्थिति का पाँचवाँ प्रकार है ।

(६) लोक अलोक हो गया हो या अलोक लोक हो गया हो ऐसा कभी त्रिकाल में भी न होगा, न होता है और न हुआ है। यह लोक स्थिति का छठा प्रकार है ।

(७) लोक का अलोक में प्रवेश या अलोक का लोक में प्रवेश न कभी हुआ है, न कभी होता है और न कभी होगा । यह सातवीं लोक स्थिति है ।

(८) जितने क्षेत्र में लोक शब्द का व्यवदेश (कथन) है वहाँ वहाँ जीव हैं और जितने क्षेत्र में जीव हैं, उतना क्षेत्र लोक है । यह आठवीं लोक स्थिति है ।

(९) जहाँ जहाँ जीव और पुद्गलों की गति होती है वह लोक है और जहाँ लोक है वहीं वहीं पर जीव और पुद्गलों की गति होती है । यह नवीं लोक स्थिति है ।

(१०) लोकान्त में सब पुद्गल इस प्रकार और इतने रूच हो जाते हैं कि वे परस्पर पृथक् हो जाते हैं अर्थात् बिखर जाते हैं । पुद्गलों के रूच हो जाने के कारण जीव और पुद्गल लोक में बाहर जाने में असमर्थ हो जाते हैं । अथवा लोक का ऐसा ही स्वभाव है कि लोकान्त में जाकर पुद्गल अत्यन्त रूच हो जाते हैं जिससे कर्म सहित जीव और पुद्गल फिर आगे गति करने में असमर्थ हो जाते हैं । यह दसवीं लोक स्थिति है । (अ. १० सूत्र ७०२)

७५३— दिशाएं दस

दिशाएं दस हैं । उनके नाम—

(१) पूर्व (२) दक्षिण (३) पश्चिम (४) उत्तर । ये चार मुख्य दिशाएं हैं । इन चार दिशाओं के अन्तराल में चार विदिशाएं हैं ।

यथा—(५) अग्निर्कोण (६) नैऋत्य कोण (७) वायव्य कोण (८) ईशान कोण (९) ऊर्ध्व दिशा (१०) अधो दिशा ।

जिधर सूर्य उदय होता है वह पूर्व दिशा है । जिधर सूर्य

अम्न होता है वह पश्चिम दिशा है । सूर्योदय की तरफ मुँह करके गढ़े हुए पुरुष के मन्मुख पूर्व दिया है । उसके पीठ पीछे की पश्चिम दिशा है । उस पुरुष के दाहिने हाथ की तरफ दक्षिण दिशा और बाएँ हाथ की तरफ उत्तर दिशा है । पूर्व और दक्षिण के बीच की अग्रिकोण, दक्षिण और पश्चिम के बीच की नैऋत कोण, पश्चिम और उत्तर दिशा के बीच की वायव्य कोण, उत्तर और पूर्व दिशा के बीच की ईशान कोण कहलाती है । ऊपर की दिशा ऊर्ध्व दिशा और नीचे की दिशा अधोदिशा कहलाती है ।

इन दस दिशाओं के गुण निम्न नाम ये हैं—

(१) ऐन्द्री (२) आग्नेयी (३) याम्या (४) नैऋती (५) वाय्वी (६) वायव्य (७) मीम्या (८) ऐशानी (९) विमला (१०) तमा ।

पूर्व दिशा का अधिष्ठाता देव इन्द्र है । इसलिए इसको ऐन्द्री कहते हैं । इसी प्रकार अग्रिकोण का स्वामी अग्नि देवता है । दक्षिण दिशा का अधिष्ठाता यम देवता है । नैऋत कोण का स्वामी नैऋति देव है । पश्चिम दिशा का अधिष्ठाता वरुण देव है वायव्य कोण का स्वामी वायु देव है । उत्तर दिशा का स्वामी सोमदेव है । ईशान कोण का अधिष्ठाता ईशान देव है । अपने अपने अधिष्ठान देवों के नाम से ही उन दिशाओं और विदिशाओं के नाम हैं । अत एव ये गुणनिष्पन्न नाम कहलाते हैं । ऊर्ध्व दिशा को विमला कहते हैं क्योंकि ऊपर अन्धकार न होने से वह निर्मल है, अत एव विमला कहलाती है । अधोदिशा तमा कहलाती है । गाढ़ अन्धकार युक्त होने से वह रात्रि तुल्य है अत एव इसका गुण निष्पन्न नाम तमा है ।

(टाण्णाग १० उ. ३ सूत्र ५००) (भगवती शतक १० उद्देशा १ मू. ३१४)

(आचार्याग प्रथम अतस्तथ अध्ययन १ उद्देशा १ मू. २)

७४४-- कुरुक्षेत्र दम

जम्बूद्वीप में मेरु पर्वत से उत्तर और दक्षिण में दो कुरु हैं ।

दक्षिण दिशा के अन्दर देवकुरु हैं। और उत्तर दिशा में उत्तरकुरु हैं। देवकुरु पाँच हैं और उत्तरकुरु भी पाँच हैं। गजदन्ताकार (हाथी दाँत के सदृश आकार वाले) विद्युत्प्रभ और सौमनस नामक दो वर्षधर पर्वतों से देवकुरु परिदेषित हैं। इसी तरह उत्तरकुरु गन्धमादन और माल्यवान् नामक वर्षधर पर्वतों से घिरे हुए हैं। ये दोनों देवकुरु उत्तरकुरु अर्द्ध चन्द्राकार हैं और उत्तर दक्षिण में फैले हुए हैं। उनका प्रमाण यह है—ग्यारह हजार आठ सौ च्यालीस योजन और दो कला (११=४२ २।१६) का विस्तार है और ५३००० योजन प्रमाण इन दोनों क्षेत्रों की जीवा (धनुष की डोरी) है। (टाण्णंग १० उ. ३ सूत्र ७६४)

७५५— वक्खार पर्वत दस

जम्बू द्वीप के अन्दर मेरु पर्वत के पूर्व में सीता महा नदी के दोनों तटों पर दस वक्खार पर्वत हैं। उनके नाम—

- (१) मालवन्त (२) चित्रकूट (३) पद्मकूट (४) नलिनकूट (५) एक शैल (६) त्रिकूट (७) वैश्रमण कूट (८) अञ्जन (९) मातञ्जन (१०) सौमनस।

इन में से मालवन्त, चित्रकूट, पद्मकूट, नलिनकूट और एकशैल ये पाँच पर्वत सीता महानदी के उत्तर तट पर हैं और शेष पाँच पर्वत दक्षिण तट पर हैं। (टाण्णंग १० उ. ३ सूत्र ७६५)

७५६— वक्खार पर्वत दस

जम्बू द्वीप के अन्दर मेरु पर्वत के पश्चिमदिशा में सीतोद्या महा नदी के दोनों तटों पर दस वक्खार पर्वत हैं। उनके नाम—

- (१) विद्युत् प्रभ (२) अंकावती (३) पद्मावती (४) आशीविष (५) सुखावह (६) चन्द्र पर्वत (७) सूर्य पर्वत (८) नाग पर्वत (९) देव पर्वत (१०) गन्ध मादन पर्वत।

इनमें से प्रथम पाँच पर्वत मीनोदा मदानदी के दक्षिण तट पर हैं और शेष पाँच पर्वत उत्तर तट पर हैं । (टा. १० व. ३ सूत्र ७६८)

७५७— दस प्रकार के कल्पवृक्ष

अकर्म भूमि में होने वाले युगलियों के लिए जो उपभोग रूप हैं अर्थात् उनकी आवश्यकताओं को पूरी करने वाले वृक्ष कल्पवृक्ष कहलाते हैं । उनके दस भेद हैं—

- (१) मनङ्गा— शरीर के लिए पौष्टिक रस देने वाले ।
- (२) भृताङ्गा— पात्र आदि देने वाले ।
- (३) वृद्धिनाङ्गा— वाजे (वार्द्धि) देने वाले ।
- (४) दीपाङ्गा— दीपक का काम देने वाले ।
- (५) ज्योतिरङ्गा— प्रकाश को ज्योति कहते हैं । सूर्य के समान प्रकाश देने वाले । अग्नि को भी ज्योति कहते हैं । अग्नि का काम देने वाले भी ज्योतिरङ्गा कल्पवृक्ष कहलाते हैं ।
- (६) चित्राङ्गा— विविध प्रकार के फूल देने वाले ।
- (७) चित्ररस— विविध प्रकार के मोजन देने वाले ।
- (८) मण्यङ्गा— आभूषण देने वाले ।
- (९) गेहाकारा— मकान के आकार परिमित हो जाने वाले अर्थात् मकान की तरह आश्रय देने वाले ।
- (१०) अणियगा (अनन्ना)— वस्त्र आदि देने वाले ।

इन दस प्रकार के कल्पवृक्षों में युगलियों की आवश्यकताएँ पूरी होती रहती हैं । अतः ये कल्पवृक्ष कहलाते हैं । (सप्त. १०)
(ट. १० व. ३ सूत्र ७६९) (प्रव. द्वार १३१ गा. १, ६३-३०)

७५८— महानदियाँ दस

जम्बू द्वीप के मेरु पर्वत से दक्षिण में दस महानदियाँ हैं । उन में पाँच नदियाँ तो गङ्गा नदी के अन्दर जाकर मिलती हैं और पाँच नदियाँ सिन्धु नदी में जाकर मिलती हैं उनके नाम—

(१) यमुना (२) सरयू (३) आर्या (४) कोसी (५) मही (६) सिन्धु (७) विवत्सा (८) विभासा (९) इरावती (१०) चन्द्रभागा ।
(ठाण्ण १० उ. ३ सूत्र ७१७)

७५९— महानदियां दस

जम्बूद्वीप में मेरु पर्वत से उत्तर में दस महानदियाँ हैं। उनके नाम—

(१) कृष्णा (२) महाकृष्णा (३) नीला (४) महानीला (५) तीरा (६) महातीरा (७) इन्द्रा (८) इन्द्रसेना (९) वारिसेना (१०) महाभोगा ।
(ठाण्ण १० उ. ३ सूत्र ७१७)

७६०— कर्म और उनके कारण दस

जिनके अधीन होकर जीव संसार में भ्रमण करता है उन्हें कर्म कहते हैं। यहाँ कर्म शब्द से कर्म पुद्गल, कार्य, क्रिया, करणी, व्यापार आदि सभी लिये जाते हैं। इन के दस भेद हैं—

(१) नाम कर्म— गुण न होने पर भी किसी सजीव या निर्जीव वस्तु का नाम कर्म रख देना नामकर्म है। जैसे— किसी बालक का नाम कर्मचन्द रख दिया जाता है। उसमें कर्म के लक्षण और गुण कुछ भी नहीं पाये जाते, फिर भी उसको कर्मचन्द कहते हैं।

(२) स्थापना कर्म— कर्म के गुण तथा लक्षण से कर्म पदार्थ में कर्म की कल्पना करना स्थापना कर्म है। जैसे परमाणु के अन्दर घोंघ में कर्म की स्थापना करना स्थापना कर्म है। अणु के अन्दर पक्ष में आए हुए दूषण को दूर करने के लिए जहाँ कर्म की स्थापना कर दी जाती हो उसे भी स्थापना कर्म कहते हैं।

(३) द्रव्य कर्म— इसके दो भेद हैं—

(क) द्रव्य कर्म— कर्म घर्षण के ये पुद्गल जो पन्न के अन्तर्गत माने जाते हैं वे द्रव्य कर्म कहते हैं। जैसे लोहे के धातु के अणु भी उदय और उदीरण में नहीं आए हैं वे द्रव्य कर्म हैं।

(ख) नोद्रव्य कर्म— फिस्तान आदि का कर्म नो-

है क्योंकि यह क्रिया स्पष्ट है। कर्म पुद्गलों के समान द्रव्य रूप नहीं है
 (४) प्रयोग कर्म—वीर्यगन्धिगत कर्म के चयन या चयोपगम में
 उत्पन्न होने वाली वीर्यगन्धि विशेष प्रयोग कर्म कहलाती है, अथवा
 प्रकृष्ट (उत्कृष्ट) योग को प्रयोग कहते हैं। इसके पन्द्रह भेद हैं। यथा—
 मन के चार—मन्य मन, अमन्य मन, मन्यमृषा मन, अमन्यमृषा
 मन। वचन के चार—मन्य वचन, अमन्य वचन, मन्यमृषा वचन
 और अमन्यमृषा वचन। काया के मान भेद—आहारिक, आहारिक
 मिश्र, वैक्रिय, वैक्रिय मिश्र, आहारिक, आहारिक मिश्र और कर्मगत।

जिस प्रकार तथा हुआ तथा अपने ऊपर गिरने वाली जल की
 बूँदों को सब प्रदेशों में एक साथ खींच लेता है उसी प्रकार आत्मा
 इन पन्द्रह योगों के सामर्थ्य में अपने सभी प्रदेशों द्वारा कर्मद-
 लियों को खींचता है। आत्मा द्वारा इन प्रकार कर्मपुद्गलों को ग्रहण
 करना और उन्हें कामरु शरीर रूप में परिणत करना प्रयोग कर्म है।

(५) समुदान कर्म—सामान्य रूप में बंधे हुए आठ कर्मों का
 देशवर्ती और सर्ववर्ती रूप में तथा स्पृष्ट, निधन और निका-
 चित आदि रूप में विभाग करना समुदान कर्म है।

(६) ईर्यापथिक कर्म—गननागमन आदि तथा शरीर की हलन
 चलन आदि क्रिया ईर्या कहलाती है। इस क्रिया में लगने वाला
 कर्म ईर्यापथिक कर्म कहलाता है। उपजान्न मोह और धीम मोह
 तक अर्थात् चारहवें गुणस्थान तक जीव को गति स्थिति
 आदि के निमित्त में ईर्यापथिकी क्रिया लगती है और तेरहवें
 गुणस्थानवर्ती (मयोर्गा केवली) को शरीर के सूक्ष्म हलन चलन
 में ईर्यापथिकी क्रिया लगती है किन्तु उस में लगने वाले कर्म-
 पुद्गलों की स्थिति दो समय की होती है। प्रथम समय में वे बँधते
 हैं, दूसरे समय में वेदे जाते हैं और तीसरे समय में निर्जीर्ण हो
 जाते हैं अर्थात् भङ्ग जाते हैं। तेरहवें गुणस्थानवर्ती केवली तीसरे

समय में उन कर्मों से रहित हो जाते हैं।

(७) आधाकर्म—कर्मबन्ध के निमित्त को आधाकर्म कहते हैं। कर्मबन्ध के निमित्त कारण शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध आदि हैं इस लिए ये आधाकर्म कहे जाते हैं।

(८) तपःकर्म—वद्ध, स्पृष्ट, निधत्त और निकाचित रूप से बन्धे हुए आठ कर्मों की निर्जरा करने के लिए छः प्रकार का वाण्य तप (अनशन, ऊनोदरी, भिक्षाचरी, रसपरित्याग, कायक्लेश, प्रतिसंलीनता) और छः प्रकार का आभ्यन्तर तप (प्रायश्चित्त, व्रतनय, वैयावृत्य, स्वाध्याय, ध्यान, व्युत्सर्ग) का आचरण करना तपःकर्म कहलाता है।

(९) कृतिकर्म—अरिहन्त, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और साधु आदि को नमस्कार करना कृतिकर्म कहलाता है।

(१०) भावकर्म—अवाधा काल का उल्लंघन कर स्वयमेव उदय में आए हुए अथवा उदीरणा के द्वारा उदय में लाए गए कर्म पुद्गल जीवों को जो फल देने हैं उन्हें भावकर्म कहते हैं।

नोट—बँधे हुए कर्म जब तक फल देने के लिए उदय में नहीं आते उसे अवाधा काल कहते हैं।

(आचारांग भुतकण्ठ १ अध्याय २ उद्देशां १ की टीका भाग १=३=२४)

७६१—सातावेदनीय कर्म बँधने के दस बोल

(१) प्राणियों (हीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय) की अनुकम्पा (दया) करने से सातावेदनीय कर्म का बन्ध होता है।

(२) भूत (वनस्पति) की अनुकम्पा करने से।

(३) जीवों (पञ्चेन्द्रिय प्राणियों) पर अनुकम्पा करने से।

(४) सत्त्वों (पृथ्वीकाय, अप्क्काय, तेजकाय और वायुकाय इन चार स्वावरों) की अनुकम्पा करने से।

(५) उपरोक्त सभी प्राणियों को किसी प्रकार का दुःख न देने से।

(६) शोक न उपजाने में ।

(७) वेद नहीं कगने में (नहीं भुगने-म्लाने में) ।

(८) उपरोक्त प्राणियों को वेदना न देने में या उन्हें म्वा कर टप टप आँसू न गिरवाने में ।

(९) प्राणियों को न पीटने (मारने) में ।

(१०) प्राणियों को किसी प्रकार का परिताप उत्पन्न न कराने में जीव मातावेदनीय कर्म का बन्ध करना है

(भगवती गणक ३ अर्थात् ६ सू. २२६)

७६२- ज्ञान वृद्धि करने वाले नक्षत्र दस

नीचे लिखे दस नक्षत्रों के उदय होने पर विद्यारम्भ या अध्ययन मन्वन्धी कोई काम शुरू करने में ज्ञान की वृद्धि होती है।

मिगामिर अहा पृम्मा तिरिण अ पुत्ता य मूलमम्ममा ।

हन्थो चित्तो य तदा दम बुद्धिकरादं नालम्प ॥

(१) मृगशीर्ष (२) आर्द्रा (३) पुष्य (४) पूर्वाषाढा (५)

पूर्वाषाढा (६) पूर्वाषाढा (७) मूला (८) अश्लेषा (९) हस्त

(१०) चित्रा । (मनकायान १०) (टिप्पण १० व. ३ सू. ७२१)

७६३- भद्र कर्म बांधने के दस म्यान

आगामी काल में सुख देने वाले कर्म दस कारणों से बांधे जाते हैं । यहाँ शुभ कर्म करने में श्रेष्ठ देवगति प्राप्त होती है ।

वहाँ में चरने के बाद मनुष्य भर में उत्तम कुल की प्राप्ति होती है

और फिर मोक्ष सुख की प्राप्ति हो जाती है । वे दस कारण ये हैं-

(१) अनिदानता- मनुष्य भव में मंथन तप आदि क्रियाओं के फलस्वरूप देवेन्द्रादि की श्रद्धा की इच्छा करना निदान (निदान)

है । निदान करने में मोक्षरूप दायक ज्ञान, दर्शन और चारित्र्य

रूप स्वयं की आगधना करी लता (वेन) का विनाश हो जाता

है । तपस्या आदि बरके इस प्रकार का निदान न करने में

आगामी भव में सुख देने वाले शुभ प्रकृति रूप कर्म बंधते हैं।

(२) दृष्टि सम्पन्नता—सम्यग्दृष्टि होना अर्थात् सच्चे देव, गुरु, और धर्म पर पूर्ण श्रद्धा होना। इससे भी आगामी भव के लिए शुभ कर्म बंधते हैं।

(३) योग बाहिता—योग नाम है समाधि अर्थात् सांसारिक पदार्थों में उत्कण्ठा (राग) का न होना या शास्त्रों का विशेष पठन पाठन करना। इससे शुभ कर्मों का बन्ध होता है।

(४) क्षान्तिक्षमणता—दुमरे के द्वारा दिये गये परिपद, उपसर्ग आदि को समभाव पूर्वक सहन कर लेना। अपने में उसका प्रतीकार करने की अर्थात् बदला लेने की शक्ति होते हुए भी क्षान्तिपूर्वक उसको सहन कर लेना क्षान्तिक्षमणता कहलाती है। इससे आगामी भव में शुभ कर्मों का बन्ध होता है।

(५) जितेन्द्रियता—अपनी पाँचों इन्द्रियों को वश में करने से आगामी भव में सुखकारी कर्म बंधते हैं।

(६) अमायाविता—माया कपटार्थ को छोड़ कर सरल भाव रखना अमायावीपन है। इससे शुभ प्रकृति रूप कर्म का बन्ध होता है।

(७) अपार्वस्थता—ज्ञान, दर्शन, चारित्र्य की विराधना करने वाला पार्वस्थ (पासत्या) कहलाता है। इसके दो भेद हैं—सर्व पार्वस्थ और देश पार्वस्थ।

(क) ज्ञान, दर्शन, चारित्र्य रूप रत्नत्रय की विराधना करने वाला सर्व पार्वस्थ है।

(ख) बिना कारण ही (१) शय्यातरपिण्ड (२) अभिद्वत्पिण्ड (३) नित्यपिण्ड (४) नियतपिण्ड और (५) अग्रपिण्ड को भोगने वाला साधु देशपार्वस्थ कहलाता है।

जिस मकान में साधु ठहरें हुए हों उन मकान का स्वामी शय्यातर कहलाता है। उसके घर से स्नाहार पानी आदि लाना

गण्यानुपपिण्ड है ।

मायु के निमित्त में उनके मामने लाया हुआ आहार अनि-
हृतपिण्ड कहलाता है ।

निष्कारण निन्यपिण्ड भोगना निन्यफिण्ड कहलाता है ।

मित्रा देने के लिए पहले में निस्सन्ना हुआ भोजन अप्रपिण्ड
कहलाता है ।

“मैं इतना आहार आदि आपको प्रतिदिन देता रहूँगा ।” दाता
के ऐसा कहने पर उसके घर में गेजाना उनका आहार आदि में
आना नियतपिण्ड कहलाता है ।

उपरोक्त पाँचों प्रकार का आहार ग्रहण करना मायु के लिए
निषिद्ध है । इस प्रकार का आहार ग्रहण करने वाला मायु
देशपार्श्वस्थ कहलाता है ।

(=) सुश्रामण्यता— मृतगुण और उत्तगुण में मम्य और
पार्श्वस्थता (पामन्यापन) आदि दोनों में रहित मंथन का पालन
करने वाले मायु श्रमण कहलाते हैं । ऐसे निर्दोष श्रमण में
आगामी भव में सुखकारी मद्र, कर्म बाँधे जाते हैं ।

(६) प्रवचन वन्मलता— ढादग्राह रूप वाली आगम या प्रवचन
कहलाती है । उन प्रवचनों का वाक् चतुर्विध मंत्र होता है ।
उनका हित करना वन्मलता कहलाती है । इस प्रकार प्रवचन की
वन्मलता और प्रवचन के आधार भूत चतुर्विध मंत्र की वन्मलता
करने में जीव आगामी भव में शुन प्रकृति का वन्व करता है ।

(१०) प्रवचन उद्गायनता— ढादग्राह रूपी प्रवचन का वर्णवाद
करना अर्थात् गुण कीर्तन करना प्रवचनोद्गायनता कहलाती है ।

उपरोक्त दस बातों में जीव आगामी भव में मद्रकारी,
सुखकारी, शुन प्रकृति रूप कर्म का वन्व करता है । अतः प्रत्येक
श्राणी को इन दोनों की आगमना शुद्ध मात्र में करनी चाहिए ।

(टिप्पणी १०३ : ३ सूत्र ७२)

७६४- मन के दस दोष

मन के जिन संकल्प विकल्पों से सामायिक दूषित हो जाती हैं वे मन के दोष कहलाते हैं-

अविवेक असोक्रिती लाभत्थी गन्ध भय नियाणत्थी ।

संमय रोम अविणुअ अबहुमाणए दोसा भणियन्वा ॥

(१) अविवेक- सामायिक के सम्बन्ध में विवेक न रखना, कार्य के औचित्य अनौचित्य अथवा समय असमय का ध्यान न रखना अविवेक नाम का दोष है ।

(२) यशःकीर्ति- सामायिक करने से मुझे यश प्राप्त होगा अथवा मरी प्रतिष्ठा होगी, समाज में मेरा आदर होगा, लोग मुझे धर्मात्मा कहेंगे आदि विचार से सामायिक करना यशःकीर्ति नाम का दूसरा दोष है ।

(३) लाभार्थ- धन आदि के लाभ की इच्छा से सामायिक करना अथवा इस विचार से सामायिक करना कि सामायिक करने से व्यापार में अच्छा लाभ होता है लाभार्थ नाम का दोष है ।

(४) गर्व- सामायिक के सम्बन्ध में यह अभिमान करना कि मैं बहुत सामायिक करने वाला हूँ । मरी तरह या मेरे चराचर कौन सामायिक कर सकता है अथवा मैं कुलीन हूँ आदि गर्व करना गर्व नाम का दोष है ।

(५) भय- किस प्रकार के भय के कारण जैसे- राज्य, पंच या लेनदार आदि से बचने के लिए सामायिक करके चूट जाना भय नाम का दोष है ।

(६) निदान- सामायिक का कोई भौतिक फल चाहना निदान नाम का दोष है । जैसे यह संकल्प करके सामायिक करना कि मुझे श्रेष्ठ पदार्थ की प्राप्ति हो या श्रेष्ठ सुख मिले अथवा सामायिक करके यह चाहना कि यह मैंने जो सामायिक की है उसके फल

स्वरूप मुझे अमुक वस्तु प्राप्त हो निदान दोष है ।

(७) मंशय (मन्देह)—मामाधिक के फल के सम्बन्ध में मन्देह रखना मंशय नाम का दोष है । जैसे यह सोचना कि मैं जो मामाधिक करता हूँ मुझे उसका कोई फल मिलेगा या नहीं ? अथवा मैंने इतनी मामाधिकें की हैं फिर भी मुझे कोई फल नहीं मिला, आदि मामाधिक के फल के सम्बन्ध में (मन्देह) रखना मंशय नाम का दोष है ।

(८) रोष—(कषाय)—गग डेषादि के कारण मामाधिक में क्रोध मान माया लोभ करना रोष (कषाय) नाम का दोष है ।

(९) अविनय—मामाधिक के प्रति विनय भाव न रखना अथवा मामाधिक देव, गुरु, धर्म की अमातना करना, उनका विनय न करना अविनय नाम का दोष है ।

(१०) अबहुमान—मामाधिक के प्रति जो आदरभाव होना चाहिये । आदरभाव के बिना किसी दबाव में या किसी प्रेरणा से बेगारी की तरह मामाधिक करना अबहुमान नामक दोष है ।

ये दसों दोष मन के द्वारा लगते हैं । इन दस दोषों में बचने पर मामाधिक के लिए मन की शुद्धि होती है और मन एकाग्र रहता है ।

(आबद्ध के चार गिछा मन, मामाधिक के १० दोषों में से)

७६.५—वचन के दस दोष

मामाधिक में मामाधिक को दूषित करने वाले मादय वचन सोलना वचन के दोष कहलाते हैं । वे दस हैं ।

कृवयण महमाकारं मच्छन्द मंनेव कलहं च ।

विगहा वि हामोऽमुदं निरवेक्यो ह्यहृगा दोमा दम ॥

(१) कृवचन—मामाधिक में कृन्मित वचन सोलना कृवचन नाम का दोष है ।

(२) महमाकार—बिना विचार महमा इस तरह सोलना कि

जिससे दूसरे की हानि हो और सत्य भङ्ग हो तथा व्यवहार में अप्रतीति हो वह सहसाकार नाम का दोष है ।

(३) सच्छन्द— सामायिक में स्वच्छन्द अर्थात् धर्म विरुद्ध राग-द्वेष की वृद्धि करने वाले गीत आदि गाना सच्छन्द दोष है ।

(४) संक्षेप— सामायिक के पाठ या वाक्य को थोड़ा करके बोलना संक्षेप दोष है ।

(५) कलह—सामायिक में कलह उत्पन्न करने वाले वचन बोलना कलह दोष है ।

(६) विकथा— धर्म विरुद्ध स्त्री कथा आदि चार विकथा करना विकथा दोष है ।

(७) हास्य— सामायिक में हँसना, कौतूहल करना अथवा व्यङ्ग्यपूर्ण (मजाक या आक्षेप वाले) शब्द बोलना हास्य दोष है ।

(८) अशुद्ध— सामायिक का पाठ जल्दी जल्दी शुद्धि का ध्यान रखे बिना ही बोलना या अशुद्ध बोलना अशुद्ध दोष है ।

(९) निरपेक्ष—सामायिक में बिना सावधानी रखे अर्थात् बिना उपयोग बोलना निरपेक्ष दोष है ।

(१०) मुणमुण— सामायिक के पाठ आदि का स्पष्ट उच्चारण न करना किन्तु गुन गुन बोलना मुणमुण दोष है ।

ये दस दोष वचन सम्बन्धी हैं इन से बचना वचन शुद्धि है ।

(आचर के चार शिक्षाप्रत, सामायिक के ३२ दोषों में से)

७३३—कुलकर दस गत उत्सर्पिणी काल के

जम्बूद्वीप के भारत क्षेत्र में गत उत्सर्पिणी काल में इन कुलकर हुए हैं । विशिष्ट बुद्धि वाले और लोक की व्यवस्था करने वाले पुरुष विशेष कुलकर कहलाते हैं । लोक व्यवस्था करने में ये प्रकार मकार और धिकार आदि दण्डनीति का प्रयोग करते हैं । इनका विशेष विस्तार सातवें बोल में दिया गया है । अर्थात् उत्सर्पिणी

के दस कुलकरो के नाम इस प्रकार हैं—

(१) शतंजल (२) शतायु (३) अनन्तमेन (४) अमितमेन
(५) तक्रसेन (६) भीमसेन (७) महाभीममेन (८) दृढरथ (९)
दशरथ और (१०) शतरथ । (टाण्णंग. १० उ. ३ सूत्र ७६७)

७६७— कुलकर दस आनेवाली उत्सर्पिणी के

जम्बूद्वीप के भरत क्षेत्र में आगामी उत्सर्पिणी काल में हाने
वाले दस कुलकरो के नाम—

(१) सीमंकर (२) सीमंधर (३) चेमंकर (४) चेमंधर (५)
विमल वाहन (६) संमुचि (७) प्रतिश्रुत (८) दृढघनुः (९) दग
घनुः और (१०) शतघनुः । (टाण्णंग. १० उ. ३ सूत्र ७६७)

७६८— दान दस

अपने अधिकार में रही हुई वस्तु दूसरे को देना दान कह-
लाता है, अर्थात् उस वस्तु पर से अपना अधिकार हटा कर
दूसरे का अधिकार कर देना दान है । दान के दस भेद हैं—

(१) अनुकम्पा दान— किसी दुखी, दीन, अनाथ प्राणी पर
अनुकम्पा (दया) करके जो दान दिया जाता है, वह अनुकम्पा
दान है । वाचक मुख्य श्री उमाम्याति ने अनुकम्पा दान का
लक्षण करते हुए कहा है—

कृपणेऽनाथदरिद्रे व्यसनप्रान्ने च रोगशोकहते ।

यदीयते कृपार्थात् अनुकम्पा तद्भवेदानम् ॥

अर्थात्— कृपण (दीन), अनाथ, दरिद्र, दुखी, रोगी, शोक-
ग्रस्त आदि प्राणियों पर अनुकम्पा करके जो दान दिया जाता
है वह अनुकम्पा दान है ।

(२) संप्रह दान— संप्रह अर्थात् महायत्ना प्राप्त करना । आपत्ति
आदि आने पर सहायता प्राप्त करने के लिए किसी को इष्ट

देना संग्रह दान है। यह दान अपने स्वार्थ को पूरा करने के लिए होता है, इसलिए मोक्ष का कारण नहीं होता।

अभ्युदये व्यसने वा यत् किञ्चिदीयते सहायतार्थम् ।

तत्संग्रहतोऽभिमतं मुनिभिर्दानं न मोक्षाय ॥

अर्थात्—अभ्युदय में या आपत्ति आने पर दूसरे की सहायता प्राप्त करने के लिए जो दान दिया जाता है वह संग्रह (सहायता प्राप्ति) रूप होने से संग्रह दान है। ऐसा दान मोक्ष के लिए नहीं होता।

(३) भयदान—राजा, मंत्री, पुरोहित आदि के भय से अथवा राक्षस एवं पिशाच आदि के डर से दिया जाने वाला दान भयदान है।

राजारक्षपुरोहितमधुमुखमाविल्लदण्डपाशिषु च ।

यदीयते भयार्थात्तद्भयदानं बुधैर्ज्ञेयम् ॥

अर्थात्—राजा, राक्षस या रक्षा करने वाले, पुरोहित, मधु मुख अर्थात् दुष्ट पुरुष जो मुँह का मीठा और दिल का काला हो, मायावी, दण्ड अर्थात् सजा बगैरह देने वाले राजपुरुष इत्यादि को भय से बचने के लिए कुछ देना भय दान है।

(४) कारुण्य दान—पुत्र आदि के वियोग के कारण होने वाला शोक कारुण्य कहलाता है। शोक के समय पुत्र आदि के नाम से दान देना कारुण्य दान है।

(५) लज्जादान—लज्जा के कारण जो दान दिया जाता है वह लज्जा दान है।

अभ्यर्धितः परेण तु यद्दानं जनसमूहगतः ।

परचित्तरक्षणार्थं लज्जायास्तद्वेदानम् ॥

अर्थात्—जनसमूह के अन्दर बैठे हुए किसी व्यक्ति से ऊँच कोई आकर मांगने लगता है उस समय मांगने वाले की बात रखने के लिए कुछ दे देने को लज्जादान कहते हैं।

(६) गौरव दान—यश कीर्ति या प्रशंसा प्राप्त करने के लिए सर्व पूर्वक दान देना गौरवदान है ।

नटनर्गमुष्टिदेभ्यो दानं मम्बन्धिवन्धुमित्रेभ्यः ।

यदीयते यशोऽर्थं गर्वेण तु नद्वेदानम् ॥

भावार्थ—नट, नाचने वाले, पढ़ने वाले, मंगे मम्बन्धी या मित्रों को यश प्राप्ति के लिए सर्वपूर्वक जो दान दिया जाता है उसे गौरव दान कहते हैं ।

(७) अथर्मदान—अथर्म की पुष्टि करने वाला अथवा जो दान अथर्म का कारण है वह अथर्मदान है—

हिमानृतचौर्योद्यनपरदाग्गमिग्रहप्रमत्तेभ्यः ।

यदीयते हि तेषां नृजानीयादधर्माय ॥

हिंसा, मृट, चोरी, परदाग्गमन और आग्मम ममाग्मम रूप परिग्रह में आसक्त लोगों को जो कुछ दिया जाता है वह अथर्मदान है ।

(८) धर्मदान—धर्मकार्यों में दिया गया अथवा धर्म का कारण भूत दान धर्मदान कहलाता है ।

ममवृणमणिमुक्तेभ्यो यदानं दायते सुपात्रेभ्यः ।

अन्नधनतुलमनन्तं नदानं भवति धर्माय ॥

जिन के लिए वृण, मणि और मोती एक समान हैं ऐसे सुपात्रों को जो दान दिया जाता है वह दान धर्मदान होता है । ऐसा दान कर्मा अर्थ नहीं होता । उसके बराबर कोई दूसरा दान नहीं है । वह दान अनन्त सुख का कारण होता है ।

(९) करिष्यतिदान—सद्विष्य में प्रत्युपकार की आज्ञा में जो कुछ दिया जाता है वह करिष्यतिदान है । प्राकृत में इमका नाम 'काही' दान है ।

(१०) कृतदान—पहले किए हुए उपकार के बदले में जो कुछ किया जाता है उसे कृतदान कहते हैं ।

शतशः कृतोपकारो दत्तं च सहस्रशो ममानेन ।

अहमपि ददामि किञ्चित्प्रत्युपकाराय तदानम् ।

भावार्थ— इसने मेरा सैकड़ों द्वार उपकार किया है । मुझे हजारों का दान दिया है । इसके उपकार का बदला चुकाने के लिए मैं भी कुछ देता हूँ । इस भावना से दिये गये दान को कृतदान या प्रत्युपकार दान कहते हैं । (ठाण्णंग १० उ. ३ सूत्र ७४५)

७६९— सुख दस

सुख दस प्रकार के कहे गये हैं । वे ये हैं—

(१) आरोग्य—शरीर का स्वस्थ रहना, उस में किसी प्रकार के रोग या पीड़ा का न होना आरोग्य कहलाता है । शरीर का नीरोग (स्वस्थ) रहना सब सुखों में श्रेष्ठ कहा गया है, क्योंकि जब शरीर नीरोग होगा तब ही आगे के नौ सुख प्राप्त किये जा सकते हैं । शरीर के आरोग्य बिना दीर्घ आयु, विपुल धन सम्पत्ति, तथा विपुल काम भोग आदि सुख रूप प्रतीत नहीं होते । सुख के साधन होने पर भी ये रोगी को दुःख रूप प्रतीत होते हैं । शरीर के आरोग्य बिना धर्म ध्यान होना तथा नमः सुख और मोक्ष सुख का प्राप्त होना तो असम्भव ही है । इसलिए शास्त्रकारों ने दस सुखों में शरीर की नीरोगता रूप सुख को प्रथम स्थान दिया है । व्यवहार में भी ऐसा कहा जाता है—

“पहला सुख निरोगी काया”

अतः सब सुखों में 'आरोग्य' सुख प्रधान है ।

(२) दीर्घ आयु—दीर्घ आयु के साथ यहाँ पर 'शुभ' यह विशेषण और सम्बन्धता चाहिए । शुभ दीर्घ आयु ही सुखस्वरूप है । अशुभ दीर्घायु तो सुखरूप न होकर दुःख रूप ही होती है । सब सुखों की सामग्री प्राप्त हो किन्तु यदि दीर्घायु न हो तो उ-

सुखों का इच्छानुसार अनुभव नहीं किया जा सकता। इसलिए शुभ दीर्घायु का होना द्वितीय सुख है।

(३) आढ्यन्व-आढ्यन्व नाम है विपुल धन सम्पत्ति का होना। धन सम्पत्ति भी सुख का कारण है। इस लिए धन सम्पत्ति का होना तीसरा सुख माना गया है।

(४) काम-पाँच इन्द्रियों के विषयों में से शब्द और रूप काम कहे जाते हैं। यहाँ पर भी शुभ विशेषण समझना चाहिए अर्थात् शुभ शब्द और शुभ रूप ये दोनों सुख का कारण होने में सुख माने गए हैं।

(५) भोग-पाँच इन्द्रियों के विषयों में से गन्ध, रस और स्पर्श भोग कहे जाते हैं। यहाँ भी शुभ गन्ध शुभ रस और शुभ स्पर्श का ही ग्रहण है। इन तीनों चीजों का भोग किया जाता है इस लिए ये भोग कहलाते हैं। ये भी सुख के कारण हैं। कारण में कार्य का उपचार करके इन को सुख रूप माना है।

(६) मन्त्रोप-अन्य इच्छा को मन्त्रोप कहा जाता है। चित्त की शान्ति और आनन्द का कारण होने में मन्त्रोप वास्तव में सुख है। जैसे कहा है कि-

आरोग्गमाग्निं माणुमचरुं, सध्माग्निं धम्मी ।

विज्ञा निच्छदमारा मुदाहं संतोममाराहं ॥

अर्थात्-मनुष्य जन्म का मार्ग आरोग्यता है अर्थात् शरीर की नरोगता होने पर ही धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष इन पुरुषार्थ चतुष्टयों में से किसी भी पुरुषार्थ की प्राप्ति की जा सकती है। धर्म का मार्ग मनुष्य है। वस्तु का निश्चय होना ही विद्या का मार्ग है और मन्त्रोप ही सब सुखों का मार्ग है।

(७) अस्तिमुख-जिस समय जिस पदार्थ की आवश्यकता हो उस समय उसी पदार्थ की प्राप्ति होना यह भी एक सुख है

क्योंकि आवश्यकता के समय उसी पदार्थ की प्राप्ति हो जाना बहुत बड़ा सुख है ।

(=) शुभ भोग—अनिन्दित (प्रशस्त) भोग शुभ भोग कहलाते हैं । ऐसे शुभ भोगों की प्राप्ति और उन काम भोगादि विषयों में भोग क्रिया का होना भी सुख है । यह साताचेदनीय के उदय से होता है इस लिए सुख माना गया है ।

(६) निष्क्रमण—निष्क्रमण नाम दीक्षा (संयम) का है । अविरति रूप जंजाल से निकल कर भगवती दीक्षा को अङ्गीकार करना ही वास्तविक सुख है, क्योंकि सांसारिक भ्रंशों में फंसा हुआ प्राणी स्वात्म कल्याणार्थ धर्म ध्यान के लिए पूरा समय नहीं निकाल सकता तथा पूर्ण आत्मशान्ति भी प्राप्त नहीं कर सकता । अतः संयम स्वीकार करना ही वास्तविक सुख है क्योंकि दूसरे सुख तो कभी किसी सामग्री आदि की प्रतिकूलता के कारण दुःख रूप भी हो सकते हैं किन्तु संयम तो सदा सुखकारी ही है । अतः यह सच्चा सुख है । कहा भी है—

नैवास्ति राजराज्यस्य, तत्सुखं नैव देवराजस्य ।

यत्सुखमिहैव साधोलोककल्याणारहितस्य ॥

अर्थात्—इन्द्र और नरेन्द्र को जो सुख नहीं है वह सांसारिक भ्रंशों से रहित निर्बन्ध साधु को है । एक वर्ष के दीक्षित साधु को जो सुख है वह सुख अनुत्तर विमानवासी देवताओं को भी नहीं है । संयम के अतिरिक्त दूसरे आठों सुख केवल दुःख के प्रतीकार मात्र हैं और वे सुख अविमान के उत्पन्न करने वाले होने से वास्तविक सुख नहीं हैं । वास्तविक सच्चा सुख तो संयम ही है ।

(१०) अनायास सुख—अनायास अर्थात् जन्म, जरा (पुताया), मरण, भूख, प्यास आदि जहाँ न हो उगे अनायास सुख कहते हैं । ये सा सुख मोक्षसुख है । यही सुख वास्तविक एवं सर्वोत्तम सुख

सुखों का इच्छानुसार अनुभव नहीं किया जा सकता। इसलि५ शुभ दीर्घायु का होना द्वितीय सुख है।

(३) आढ्यन्व-आढ्यन्व नाम है विपुल धन सम्पत्ति का होना। धन सम्पत्ति भी सुख का कारण है। इस लि५ धन सम्पत्ति का होना तीसरा सुख माना गया है।

(४) काम- पाँच इन्द्रियों के विषयों में से शब्द और रूप काम कहे जाते हैं। यहाँ पर भी शुभ विशेषण समझना चाहिये। अर्थात् शुभ शब्द और शुभ रूप ये दोनों सुख का कारण होने से सुख माने गए हैं।

(५) भोग- पाँच इन्द्रियों के विषयों में से गन्ध, रस और स्पर्श भोग कहे जाते हैं। यहाँ भी शुभ गन्ध शुभ रस और शुभ स्पर्श का ही ग्रहण है। इन तीनों चीजों का भोग किया जाता है इस लि५ ये भोग कहलाते हैं।
में कार्य का ७

(६) मन्तोष
की शान्ति
में सुख है

क्योंकि

बहुत बड़ा

(=) शुभ

हैं। ऐसे शुभ

में भोग कि

से होता है

(६)।

रूप जंजाल से

वास्तविक

प्राणी स्वात्म

उपर उक्त पर

(प्रति)

मार्गों में

की शुभ है।

माना गया

नम हो

हो

पाठ आया है—“नो स्वचु-
प्रज्ञउत्थिगदेव्याणि वा,
नत्तए वा” इत्यादि।

यिक, अन्य श्रुतिक के द्वेष
ने कन्दगा नमस्कार करना
व होते हैं—

पाठ।

प में प्रति तथा पाठों का

विश्लेषिका इतिहास,
आदिसहित वपासकदशांग-

वी-पुन०

ओजिहाल

ने डिप्लोमी में

र E. रखा है।

नौ प्रकार के पाठ दो

‘वहिराणि’ पदों में

‘वेदपाठ’ में ‘ह’ होने

वाला हुआ है। मार्गों

में है। हममें २० पन्ने हैं।

है। हम पर लम्बा १२३५,

ह २५६ है।

आइये रो में है।

कम है। पर मक

है। मोरारही

रिहाये

है । इसमें अधिक कोड़े सुग्य नहीं हैं । जैसा कि कहा है—
 न वि अन्धि माणुमाणे, न मोक्ष्यं न वि य मज्ज देवार्ण ।
 जं मिद्वार्णं मोक्षयं; अज्जयावाहं उवगयार्णं ॥

अर्थात्— जो सुग्य अज्जयावाध स्थान (मोक्ष) को प्राप्त मिद्व
 भगवान् को है वह सुग्य देव या मनुज्य किसी को भी नहीं है ।
 अतः मोक्ष सुग्य सब सुग्यों में श्रेष्ठ है और चारित्र सुग्य (संयम
 सुग्य) सर्वोत्कृष्ट मोक्ष सुग्य का साधक है । इस लिए, दूसरे आठ
 सुग्यों की अपेक्षा चारित्र सुग्य श्रेष्ठ है किन्तु मोक्ष सुग्य नौ चारित्र
 सुग्य में भी बढ़ कर है । अतः सब सुग्यों में मोक्ष सुग्य ही सर्वोत्कृष्ट
 एवं परम सुग्य है । (टाण्ण १० उ. ३ सूत्र ७३७)

वन्दे तान् जिनमोहसंयमधनान् साधून् न भूयसः ।

येषां मन्कपया जिनैन्द्रचक्रमां विद्योन्निकेयं कृतिः ॥

मिद्वयद्वाङ्मयीं मिते मृगगिगेजानं मुमामे निर्धो ।

पञ्चम्यां रविदामरं मुगनिदा पूर्णां वृषोद्धामिनी ॥

अयं श्री जैनमिद्वान्न बोल मंग्रद नामकः ।

ग्रन्थो भूयान् मतो प्रीत्यै धर्ममार्गप्रकाशकः ॥

मोहगटिन संयम ही जिनका धन है ऐसे उत्तम माणुश्यों को
 मैं वन्दना करता हूँ जिनकी परम कृपा से जिन भगवान् के
 वचनों को प्रकाशित करने वाली, धर्म का विकास करने वाली
 तथा मुगनि को देने वाली यह कृति मार्गगौरव शुक्ला पञ्चमी
 रविवार मध्यत्र १६२२ को सम्पूरा हुई ।

धर्म के मार्ग को प्रकाशित करने वाला 'श्री जैन मिद्वान्न
 बोल मंग्रद' नामक यह ग्रन्थ मन्कपयों के लिए प्रीतिकर है ।

॥ इति श्री जैनमिद्वान्न बोल मंग्रदे तृतीयो भागः ॥

॥ शुभं भूयान् ॥

परिशिष्ट

[बोल नं० ६८५]

उपासक दशांग के आनन्दाध्ययन में नीचे लिखा पाठ आया है—“नो खनु मे भंते कप्पइ अज्जप्पभिइं अन्नउत्थिए वा, अन्नउत्थिएदेवयाणि वा, अन्नउत्थियपरिग्गहियाणि वा वंदित्तए वा नमंसित्तए वा” इत्यादि।

अर्थात्—हे भगवन्! मुझे आज से लेकर अन्य यूथिक, अन्य यूथिक के देन शयवा अन्य यूथिक के द्वारा सम्मानित या गृहीत को वन्दना नमस्कार करना नहीं कल्पता। इस जगह तीन प्रकार के पाठ उपलब्ध होते हैं—

(क) अन्न उत्थिय परिग्गहियाणि।

(ख) अन्नउत्थियपरिग्गहियाणि चेइयाइं।

(ग) अन्न उत्थिपरिग्गहियाणि अरिहंत चेइयाइं।

विवाद का विषय होने के कारण इस विषय में प्रति तथा पाठों का सुलासा नीचे लिखे अनुसार है—

[क] ‘अन्न उत्थियपरिग्गहियाणि’ यह पाठ बिस्लोथिका इण्डिका, कलकत्ता द्वारा ई० सन् १८६० में प्रकाशित ग्रंथेजी अनुवादसहित उपासकदशांग-सूच में है। इसका अनुवाद और संशोधन डाक्टर ए० एफ० रुडल्फ हार्नले पी० एच० डी०, ट्यूबिंजन, फेलो आफ कलकत्ता युनिवर्सिटी, सॉनरेरी फाइलोलोजिकल सोसाइटी इन्डिया एटिक्साटिक सोसाइटी ऑफ बंगाल ने किया है। उन्होंने टिप्पणियों में पाँच प्रतियों का उल्लेख किया है जिनका नाम A. B. C. D. और E. रखा है। A. B. और D. में (ख) पाठ है। C. और E. में (ग)

हार्नले साहेब ने ‘चेइयाइं’ और ‘अरिहंतचेइयाइं’ दोनों प्रकार के पाठ को प्रचलित माना है। उनका कहना है—‘देवयाणि’ और ‘परिग्गहियाणि’ पदों में सूचकार ने द्वितीया के बहुवचन में ‘णि’ प्रात्यक्ष लगाया है। ‘चेइयाइं’ में ‘इं’ होने से मालूम पड़ता है कि यह शब्द बाद में किसी दूसरे का टाला हुआ है। हार्नले साहेब ने पाँचों प्रतियों का परिचय इस प्रकार दिया है—

(A) यह प्रति इण्डिका आफिस साइमोरी कलकत्ते में है। इसमें ४० पन्ने हैं। प्रत्येक पन्ने में १० पंक्तियाँ और प्रत्येक पंक्ति में ३८ अक्षर हैं। इस पर माप १२५४. सायन सुदी १४ का समय दिया हुआ है। प्रति प्रायः शुद्ध है।

(B) यह प्रति बंगाल एटिक्साटिक सोसाइटी की साइमोरी में है। बीकानेर महाराजा के भण्डार में रखी हुई पुरानी प्रति की यह नकल है। यह नकल मोठा-इरी ने रायनमेसट आफ इण्डिया के बीच में पड़ने पर की थी। सोसाइटी जिस प्रति की नकल करवाना चाहती थी, भागत सरकार द्वारा प्रकाशित बीकानेर भण्डार की

सूची में उल्लेख १३३३ जगह है। सूची में उल्लेख समय १११७ तथा उल्लेख का
 उदाहरण उदाहरण नाम की टीका का होना भी बताया गया है। मोमाटरी के
 प्रति पर कागज मुद्रा १, गुणवार सं० १८०४ दिया हुआ है। इस में कोई टीका नहीं
 है। केवल गुणवारों का उल्लेख है। यह प्रति का प्रथम और अन्तिम पत्र केवल
 पुस्तक के साथ भेज नहीं गाना। अन्तिम पृष्ठ टीका वाली प्रति का है। सूची में लिख
 गया विवरण इन पृष्ठों में मिलता है। इस में मान्य परना है कि मोमाटरी के वि
 किमो दूसरी प्रति की नकल हुई है। १११७ मसख्त उल्लेख प्रति के लिखने का न
 किन्तु टीका के लगाने का मान्य परना है। यह प्रति बहुत सुन्दर लिखी हुई है
 इसमें ८३ पन्ने हैं। प्रत्येक पन्ने में छ पंक्तियाँ और प्रत्येक पंक्ति में २८ अक्षर
 हैं। साथ में टीका है।

(C). यह प्रति कलकत्ते में एक पत्र के साथ है। इसमें ४१ पन्ने हैं। इस प
 बीच में लिखा हुआ है और संस्कृत टीका उपर तथा नीचे। इसमें मसख्त १११
 कागज मुद्रा ४ दिया हुआ है। यह प्रति कुछ और किमी विद्वान द्वारा लिखी है
 मान्य परती है अन्त में बताया गया है कि इस में ८१२ अक्षर इस के अ
 १०१६ टीका के हैं।

(D). यह भी उन्हीं प्रतिपत्र के साथ है। इसमें ३३ पन्ने हैं। ३ पंक्ति और
 २८ अक्षर हैं। इस पर मिलान करी ५, गुणवार मसख्त १०४२ दिया हुआ है। इसमें
 टीका है। यह भी उन्हीं नगर में लिखी गई है।

(E). यह प्रति मुमिटाबाद वाले राय अन्तिमिहारी द्वारा प्रकटित है।
 इनके विषय श्री अन्तर संस्कृत काटने की, टीका ने, (टीका ने का प्रार्थन पुस्त
 मल्लार जो कि पुस्तक लिखे में है) में उदाहरण उदाहरण की दो प्रतिपत्र हैं। इन दोनों
 में 'अन्तर उन्तिमिहारी माटियादि' पाठ है। पुस्तकों का परिचय F. और G
 के नाम से नीचे दिया जाता है—

(F). काटने की पुस्तक सं० १४६७ (उदाहरण सूत्र) पन्ने २४, एक पृष्ठ में १
 पंक्ति, एक पत्र में ४० अक्षर, अन्तिम काटने के अक्षर मसख्त की गुणवार उदाहरण
 प्रति पुस्तक में भवन नहीं है। अन्तिम पत्र में नीचे लिखा पाठ है—अन्तर उन्तिमिहारी
 दिया है वा येदयादि। पत्र के कोई उदाहरण कुछ दिया हुआ है—अन्तर उन्तिमिहारी
 अन्तर उन्तिमिहारी वा' पुस्तक अन्तिमिहारी मसख्त है। काट में कुछ की गई है
 अक्षर संख्या ११७ ही है।

(G). काटने की पुस्तक सं० १४६४ (उदाहरण सूत्र) पन्ने ३३
 अक्षर १००, टीका प्रथम १००, प्रत्येक पृष्ठ पर १६ पंक्तियाँ और प्रत्येक पंक्ति
 में ३० अक्षर हैं। पत्र काटने पत्र पत्रों में नीचे लिखा पाठ है—

अन्तर उन्तिमिहारी माटियादि वा येदयादि। यह पुस्तक अन्तिमिहारी में लिख
 गई है और अन्तिम प्रार्थन मसख्त परती है। पुस्तक पर मसख्त नहीं है।

